मार्च, 2018

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

प्रस्तावित संपादक-मंडल

डा. जी. नारायण राजू,
सचिव, विधायी विभाग

डा. रीटा वशिष्ठ, अपर सचिव,
विधायी विभाग

श्री एस. आर. ढलेटा,
सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव एवं
विधायी परामर्शी, विधायी विभाग

डा. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रिन्सिपल,
विधि विभाग, डी आई आर डी, गुरु
गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय

श्री ए. के. अवस्थी,
सेवानिवृत्त प्रोफेसर एवं डीन
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

श्री एल. आर. सिंह,
प्रोफेसर एवं डीन इलाहाबाद
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल,
सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.

श्री अनुराग दीप,
एसोसिएट प्रोफेसर,
भारतीय विधि संस्थान

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय,
प्रधान संपादक

श्री कमला कान्त,
संपादक

श्री अविनाश शुक्ला,
संपादक

श्री असलम खान,
संपादक

सहायक संपादक : श्री पुण्डरीक शर्मा

उप-संपादक : सर्वश्री महीपाल सिंह और जसवन्त सिंह

परामर्शदाता : सर्वश्री दयाल चन्द्र ग्रोवर, महमूद अली खां और विनोद कुमार आर्य

ISSN- 2457-0494

कीमत : डाक-व्यय सहित

एक प्रति : ₹ 195/-

© 2018 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

---

1. प्रकाशन नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054
2. प्रधान संपादक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा.................................. द्वारा मुद्रित ।

आई.एस.एस.एन 2457-0494

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

मार्च, 2018 अंक - 3

प्रधान संपादक
डा. मिथिलेश चंद्र पांडेय

संपादक
कमला कांत

[2018] 1 उम. नि. प.

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

विक्रय कार्यालय : 1. प्रकाशन नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054
2. सहायक प्रबंधक, कारबार अनुभाग, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, आई. एल. आई. बिल्डिंग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 । दूरभाष : 011-23385259, 23387589, फैक्स : 011-23387589, ई-मेल : am.vsp-molj@gov.in

संपादकीय

न्याय प्रशासन को व्यवस्थित और चुस्त-दुरुस्त रखना संवैधानिक न्यायालयों का कर्तव्य है । संविधान, 1950 के अनुच्छेद 141 के अधीन उच्चतम न्यायालय को यह प्राधिकार प्राप्त है कि उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि, भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर सभी न्यायालयों पर आबद्धकर होगी और अनुच्छेद 144 के अधीन यह निर्दिष्ट है कि सभी सिविल और न्यायिक अधिकारी, उच्चतम न्यायालय की सहायता में कार्य करेंगे । इसी प्रकार, संविधान, 1950 के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन प्रदत्त अधिकारिता के अतिरिक्त दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन किसी आदेश को प्रभावी करने, कार्यवाही का दुरुपयोग रोकने और न्याय के उद्देश्यों की प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए उच्च न्यायालयों को अंतर्निहित शक्तियां प्रदान की गई हैं ।

उद्दापन, दस्तावेजों की कूटरचना और गढ़ने के आधार पर शिकायतकर्ता को भूमि पर उसके हित से वंचित करने का अभिकथन एक गंभीर प्रकृति का अपराध है । उच्चतम न्यायालय ने **प्रभातभाई अहीर** उर्फ **प्रभातभाई भीमसिंहभाई करमूर और अन्य** बनाम **गुजरात राज्य और एक अन्य** [2018] 1 उम. नि. प. 337 वाले मामले में, यह निर्णय दिया कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय द्वारा कूटरचित दस्तावेजों के आधार पर भूमि के अंतरण से संबंधित प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने से इनकार करना न्यायोचित है ।

किसी वित्तीय वर्ष की अवधि के दौरान कुल आय की संगणना करते समय उन्हीं लघु औद्योगिक उपक्रमों को छूट का फायदा मिल सकेगा जिन्हें प्रोत्साहन स्कीम के अंतर्गत रखा गया है । उच्चतम न्यायालय ने **आय-कर उपायुक्त, सर्किल 11(1), बंगलौर** बनाम **मैसर्स एसीई मल्टी ऐक्सिज सिस्टम्स लि.** [2018] 1 उम. नि. प. 443 वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया कि यदि कोई लघु औद्योगिक उपक्रम किसी विशिष्ट निर्धारण वर्ष के संबंध में छूट के लिए अपनी पात्रता खो देता है तो वह उपक्रम उस वर्ष की आय की संगणना से संबंधित छूट का फायदा पाने की हकदार नहीं होगा ।

चांद देवी डागा और अन्य बनाम **मंजू के. हुमातानी और अन्य** [2018] 1 उम. नि. प. 404 वाले मामले में, उच्चतम न्यायालय ने इस समस्या को निराकरण किया कि कार्यवाहियों के लम्बित रहने के दौरान परिवादी

की मृत्यु हो जाने की दशा में क्या परिवादी के विधिक वारिसों को कार्यवाही जारी रखने की अनुज्ञा दी जा सकती है । उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया कि भारतीय दंड संहिता, 1860 के अधीन आने वाले वारंट मामलों के विचारण में परिवादी की मृत्यु की दशा में न्यायालय परिवादी के विधिक प्रतिनिधियों को परिवादी के रूप में कार्य करने की अनुज्ञा दे सकता है ।

प्रिवी कौंसिल द्वारा दिए गए तारीख 18 जुलाई, 1938 से 2 दिसम्बर, 1938 तक के निर्णयों का हिन्दी पाठ और शीर्ष टिप्पण पाठकों के ज्ञान के लिए प्रकाशित किए जा रहे हैं । इस अंक में विशेष विवाह अधिनियम, 1954 को भी ज्ञानार्थ प्रकाशित किया जा रहा है । इसके अतिरिक्त, इस अंक में अन्य महत्वपूर्ण निर्णय भी हैं । इस संपूर्ण अंक का परिशीलन करने के पश्चात् आपकी बहुमूल्य प्रतिक्रियाएं ईप्सित हैं ।

आपका

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय

प्रधान संपादक

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

मार्च, 2018

निर्णय-सूची

	पृष्ठ संख्या
अग्रवाल ट्राकोम प्राइवेट लिमिटेड **बनाम** पंजाब नेशनल बैंक और अन्य	424
आय-कर उपायुक्त, सर्किल 11(1), बंगलौर **बनाम** मैसर्स एसीई मल्टी ऐक्सिज सिस्टम्स लि.	443
चांद देवी डागा और अन्य **बनाम** मंजू के. हुमातानी और अन्य	404
दया किशन जोशी और एक अन्य **बनाम** डायनेमैक सिस्टम्स प्राइवेट लिमिटेड	319
प्रभातभाई अहीर **उर्फ** प्रभातभाई भीमसिंहभाई करमूर और अन्य **बनाम** गुजरात राज्य और एक अन्य	337
भारत संघ **बनाम** विजय कृष्ण उनियाल (मृत) **मार्फत** विधिक प्रतिनिधिगण	356
यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड **बनाम** सुनील कुमार और एक अन्य	416

संसद् के अधिनियम

विशेष विवाह अधिनियम, 1954	1 – 39
प्रिवी कौंसिल के निर्णय	1 – 105

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

आय-कर अधिनियम, 1961 (1961 का 43)

– धारा 80झख (3)(ii) – कुल आय की संगणना में कटौतियां – लघु औद्योगिक उपक्रम – शासकीय प्रोत्साहन का उपभोग – पात्रता – लघु औद्योगिक उपक्रमों के प्रयोजनार्थ प्रोत्साहन का उपभोग ऐसे औद्योगिक उपक्रमों द्वारा नहीं किया जा सकता है जो सुसंगत अवधि के दौरान लघु औद्योगिक उपक्रम के रूप में चालू नहीं रहे हैं, भले ही उन्होंने प्रारंभिक वर्षों में पात्रता पूरी की हो, इसलिए, विशिष्ट निर्धारण वर्ष में लघु औद्योगिक उपक्रम के रूप में अपनी पात्रता खो देने पर वे छूट का फायदा पाने का हकदार नहीं रह जाएंगे ।

आय-कर उपायुक्त, सर्किल 11(1), बंगलौर बनाम **मैसर्स एसीई मल्टी ऐक्सिज सिस्टम्स लि.** 443

कर्मचारी प्रतिकर अधिनियम, 1923 (1923 का 8)

– धारा 3 – नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्भूत दुर्घटना – कर्मचारी की दुर्घटना में मृत्यु – जब किसी कर्मचारी की नियोजक द्वारा उसे सौंपे गए कार्य को पूरा करने के पश्चात् वापस लौटते समय किसी दुर्घटना में मृत्यु हो जाती है और दुर्घटनास्थल पर कर्मचारी की उपस्थिति उसके नियोजन से आनुषंगिक है तो ऐसी दुर्घटना को नियोजन से उद्भूत दुर्घटना माना जाएगा ।

दया किशन जोशी और एक अन्य बनाम **डायनेमैक सिस्टम्स प्राइवेट लिमिटेड** 319

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)

– धारा 256 और 302 [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 का धारा 420, 467, 468, 471, 120ख, 201 और 34] – उच्च न्यायालय के समक्ष कार्यवाहियों के दौरान परिवादी

पृष्ठ संख्या

की मृत्यु – परिवादी के विधिक वारिसों को कार्यवाहियां जारी रखने के लिए अनुज्ञात करना – भारतीय दंड संहिता के अधीन आने वाले वारंट मामलों के विचारण में परिवादी की मृत्यु की दशा में, न्यायालय परिवादी के विधिक प्रतिनिधियों को परिवादी के रूप में कार्य करने के लिए अनुज्ञात कर सकता है ।

चांद देवी डागा और अन्य बनाम **मंजू के. हुमातानी और अन्य** 404

– धारा 482 [सपठित दंड संहिता, 1860 की धारा 384, 467, 468, 471, 120-ख और 506(2)] – कूटरचित दस्तावेजों के आधार पर भूमि के अंतरण संबंधी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने के लिए उच्च न्यायालय में आवेदन – पक्षकारों के बीच विवाद की बाबत समझौता – उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति – उद्दापन, कूटरचना और दस्तावेज़ों को गढ़ने तथा इनके आधार पर शिकायतकर्ता को भूमि में उसके हित से वंचित करने के अभिकथन गंभीर प्रकृति के होने और अभियुक्तों की आपराधिक पृष्ठभूमि होने के कारण उच्च न्यायालय द्वारा अपनी अंतर्निहित अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, पक्षकारों में विवाद के संबंध में समझौता होने के बावजूद, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने से इनकार करना न्यायोचित है ।

प्रभातभाई अहीर उर्फ **प्रभातभाई भीमसिंहभाई करमूर और अन्य** बनाम **गुजरात राज्य और एक अन्य** 337

मोटर यान अधिनियम, 1988 (1988 का 59)

– धारा 163क और धारा 166 – धारा 163क के अधीन दावा कार्यवाहियां – चूंकि धारा 163क के अधीन संरचना-सूत्र के आधार पर प्रतिकर अनुदत्त किया जाना अंतिम अधिनिर्णय की प्रकृति में आता है और उसके अधीन उपेक्षा

पृष्ठ संख्या

के बारे में किसी सबूत की अपेक्षा किए बिना अधिनिर्णय किया जाना होता है, इसलिए, बीमाकर्ता को उपेक्षा संबंधी ऐसा प्रतिवाद करने के लिए अनुज्ञात करना उस धारा को पुरःस्थापित करने संबंधी विधायी आशय के प्रतिकूल होगा ।

यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड बनाम **सुनील कुमार और एक अन्य** 416

वित्तीय आस्तियों का प्रतिभूतिकरण और पुनर्गठन और प्रतिभूति हित का प्रवर्तन अधिनियम, 2002 (2002 का 54)

– धारा 13(4) और 17 [सपठित प्रतिभूति हित (प्रवर्तन) नियम, 2002 का नियम 8 और 9] अनुकल्पी कानूनी उपचार – प्रतिभूत लेनदार द्वारा नीलाम-क्रेता की ओर से किए गए निक्षेप का समपहरण – प्रतिभूत लेनदार की समपहरण की कार्रवाई को दी गई चुनौती को धारा 17(1) के अधीन अनुकल्पी कानूनी उपचार उपलब्ध होने के आधार पर नामंजूर किया जाना – चूंकि नीलाम-क्रेता द्वारा किए गए निक्षेप को समपहृत करने संबंधी प्रतिभूत लेनदार की कार्रवाई धारा 13(4) के अधीन उधार लेने वाले द्वारा विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर अपने दायित्व का पूर्णतः निर्वहन करने में असफल रहने पर प्रतिभूत लेनदार द्वारा किए जाने वाले उपायों का एक भाग है, इसलिए, नीलाम-क्रेता के पास प्रतिभूत लेनदार की उक्त कार्रवाई को चुनौती देने के लिए धारा 17(1) के अधीन संबंधित ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष आवेदन फाइल करने का अनुकल्पी कानूनी उपचार उपलब्ध था ।

अग्रवाल ट्राकोम प्राइवेट लिमिटेड बनाम **पंजाब नेशनल बैंक और अन्य** 424

संविधान, 1950

– अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता,

पृष्ठ संख्या

1908 की धारा 80 और वाल्स सेटलमेंट, 1842 के अधीन अनुदान] – सिविल अपील – शासकीय अनुदान के अधीन प्राप्तिकर्ता के हक-पूर्वाधिकारी द्वारा प्रश्नगत स्थावर संपत्ति अनुदान में प्राप्त करना – प्राप्तिकर्ता द्वारा उक्त स्थावर संपत्ति का विक्रय करना – राज्य सरकार द्वारा उक्त स्थावर संपत्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए नोटिस जारी करना – नोटिस को चुनौती देते हुए, व्यादेश के लिए वाद फाइल करना – वाद खारिज होना – यदि कोई व्यक्ति शासकीय अनुदान के अधीन कोई स्थावर संपत्ति प्राप्त करता है तो उसे उस स्थावर संपत्ति में मात्र अधिभोग करने का ही अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि ऐसी स्थावर संपत्ति सभी भारों से मुक्त होकर राज्य सरकार में निहित हो जाती है और यदि ऐसी स्थावर संपत्ति को राज्य सरकार द्वारा अनुदान में दी जाती है तो भी उसका हक और स्वामित्व राज्य सरकार में ही निहित रहती है, इसलिए, प्राप्तिकर्ता उस स्थावर संपत्ति का विक्रय इत्यादि द्वारा अन्य संक्रामण नहीं कर सकता है, चाहे जितनी भी अवधि तक उसका उक्त स्थावर संपत्ति पर कब्जा रहा हो क्योंकि शासकीय भूमि पर चिरभोग का नियम लागू नहीं होता है और राज्य सरकार कभी भी ऐसी भूमि को वापस ले सकती है ।

भारत संघ बनाम **विजय कृष्ण उनियाल (मृत)** मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण** 356

तुलनात्मक सारणी
उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

[2018] 1 उम. नि. प.

जनवरी-मार्च, 2018

क्र. सं.	निर्णय का नाम व तारीख	उम. नि. प.	ए. आई. आर. (एस. सी.)	एस. सी. सी.
1	2	3	4	5
1.	नेशनल सिक्योरिटिज़ डिपोजिटरी लि. **बनाम** भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड (7 मार्च, 2017)	[2018] 1 1	2017 1714	— —
2.	भारत का प्रतिस्पर्धा आयोग **बनाम** पश्चिमी बंगाल फिल्म और टेलीविजन कलाकारों तथा तकनीशियनों की समन्वय समिति और अन्य (7 मार्च, 2017)	23	1449	— —
3.	तमिलनाडु राज्य **मार्फत** सचिव और अन्य **बनाम** के. बालू और एक अन्य (31 मार्च, 2017)	61	1670	(2017) 6 715
4.	रामतल **बनाम** मरुतातल और अन्य (22 अगस्त, 2017)	85	2018 340	— —
5.	पंजाब राज्य और एक अन्य **बनाम** धर्म पाल (5 सितम्बर, 2017)	100	2017 4438	9 395

1	2	3	4	5
6.	नादिमिंति सूर्यनारायण **बनाम** कतुर्थी कृष्णा भाष्कर राव और अन्य (9 अक्तूबर, 2017)	[2018] 1 117	2017 5052	(2017) 9 622
7.	इंटरनेशनल एसेट रिकंस्ट्रक्शन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड **बनाम** शासकीय परिसमापक, आल्डरिच फार्मास्युटिकल्स लिमिटेड और अन्य (24 अक्तूबर, 2017)	135	2017 5013	–
8.	भारतीय जीवन बीमा निगम **बनाम** संजीव बिल्डर्स प्राइवेट लिमिटेड और अन्य (24 अक्तूबर, 2017)	146	–	–
9.	सुमन सिंह **बनाम** संजय सिंह (8 मार्च, 2017)	161	1316	4 85
10.	राम नाथ साव **उर्फ** राम नाथ साहू, मृत, विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत **बनाम** गोर्बधन साव, मृत, विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत और अन्य (6 अप्रैल, 2017)	173	–	13 149
11.	स्वराज अभियान (V) **बनाम** भारत संघ और अन्य (21 जुलाई, 2017)	187	3516	11 237
12.	राजेश शर्मा और अन्य **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य (27 जुलाई, 2017)	222	3869	–

1	2	3	4	5
13.	कर्मचारी राज्य बीमा निगम और एक अन्य **बनाम** मंगलम पब्लिकेशनस (इंडिया) प्रा. लि. (21 सितम्बर, 2017)	[2018] 1 241	—	—
14.	पंकजभाई रमेशभाई जलवादिया **बनाम** जेथाभाई कालाभाई जलवादिया (3 अक्तूबर, 2017)	259	2018 490	(2017) 9 700
15.	नगर पालिका, रायसिंहनगर **बनाम** रामेश्वर लाल और एक अन्य (10 अक्तूबर, 2017)	280	2017 5094	9 618
16.	हिमांगी इंटरप्राइजेज **बनाम** कमलजीत सिंह अहलूवालिया (12 अक्तूबर, 2017)	287	5137	10 706
17.	बिमल किशोर पालीवाल और अन्य **बनाम** धन-कर आयुक्त (13 अक्तूबर, 2017)	298	2018 481	-
18.	दया किशन जोशी और एक अन्य **बनाम** डायनेमैक सिस्टम्स प्राइवेट लिमिटेड (9 अगस्त, 2017)	319	2107 4134	-
19.	प्रभातभाई अहीर **उर्फ** प्रभातभाई भीमसिंहभाई करमूर और अन्य **बनाम** गुजरात राज्य और एक अन्य (4 अक्तूबर, 2017)	337	4843	9 641
20.	भारत संघ **बनाम** विजय कृष्ण उनियाल (मृत) **मार्फत** विधिक प्रतिनिधिगण (23 अक्तूबर, 2017)	356	—	—

1	2	3		4		5	
21.	चांद देवी डागा और अन्य **बनाम** मंजू के. हुमातानी और अन्य (3 नवम्बर, 2017)	[2018] 1	404	2017	5126	(2018)	71
22.	यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड **बनाम** सुनील कुमार और एक अन्य (24 नवम्बर, 2017)		416		5710		—
23.	अग्रवाल ट्राकोम प्राइवेट लिमिटेड **बनाम** पंजाब नेशनल बैंक और अन्य (27 नवम्बर, 2017)		424		5562		626
24.	आय-कर उपायुक्त, सर्किल 11(1), बंगलौर **बनाम** मैसर्स एसीई मल्टी ऐक्सिज सिस्टम्स लि. (5 दिसम्बर, 2018)		443		—		—

[2018] 1 उम. नि. प. 319

दया किशन जोशी और एक अन्य

बनाम

डायनेमैक सिस्टम्स प्राइवेट लिमिटेड

9 अगस्त, 2017

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति मोहन एम. शांतनागौडर

कर्मचारी प्रतिकर अधिनियम, 1923 (1923 का 8) – धारा 3 – नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्‌भूत दुर्घटना – कर्मचारी की दुर्घटना में मृत्यु – जब किसी कर्मचारी की नियोजक द्वारा उसे सौंपे गए कार्य को पूरा करने के पश्चात् वापस लौटते समय किसी दुर्घटना में मृत्यु हो जाती है और दुर्घटनास्थल पर कर्मचारी की उपस्थिति उसके नियोजन से आनुषंगिक है तो ऐसी दुर्घटना को नियोजन से उद्‌भूत दुर्घटना माना जाएगा ।

प्रस्तुत मामले में, मृत कर्मकार, जो कि अपीलार्थी का पुत्र था, प्रत्यर्थी-कंपनी के पास इंजीनियर के रूप में नियोजित था । उसे प्रत्यर्थी के उत्पादों के विक्रय को बढ़ावा देने/संस्थापन के लिए क्षेत्र में रहने का कर्तव्य सौंपा गया था । दुर्घटना वाले दुर्भाग्यपूर्ण दिन मृतक और उसके सह-कर्मकार को (जो कि इंजीनियर/विक्रय कार्यपालक के रूप में नियोजित था) एक फिल्टर का, जो कि एक दिन पहले हीरो होंडा कारखाना, धारूहेड़ा, हरियाणा में संस्थापित किया गया था, परीक्षण करने के लिए प्रतिनियुक्त किया गया था । तद्‌नुसार, वे दोनों दिल्ली से गए और दोपहर में हीरो होंडा कारखाना, धारूहेड़ा, हरियाणा में संस्थापित फिल्टर की जांच की और उसके पश्चात् उन्होंने 4.30 बजे अपराह्न में दिल्ली के लिए वापसी-यात्रा आरंभ की । दोनों कर्मकारों की, जिसमें मृतक भी था, तब सड़क पर दुर्घटना हो गई जबकि वे हीरो होंडा कारखाने से थोड़ी दूरी पर थे और उन्हें क्षतियां पहुंचीं । दोनों को अस्पताल ले जाया गया जहां मृतक को "मृत लाया गया" घोषित किया गया जबकि उसके सह-कर्मकार को प्राथमिक उपचार के पश्चात् छुट्‌टी दे दी गई । अपीलार्थियों ने विद्वान् आयुक्त के समक्ष कर्मचारी प्रतिकर अधिनियम, 1923 (जो कि इससे पूर्व

वर्ष 2009 तक कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 के रूप में ज्ञात था) की धारा 22 के अधीन प्रतिकर के लिए आवेदन फाइल किया । विद्वान् आयुक्त ने, अभिवचनों के आधार पर ये विवाद्यक विरचित किए – (1) क्या मृतक की दुर्घटना नियोजन के अनुक्रम में और उससे उद्भूत हुई थी ? (2) क्या मृतक कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 के अधीन कर्मकार की परिभाषा के अंतर्गत आता है ? (3) यदि ऐसा है, तो क्या दावेदार दावा आवेदन के अनुसार प्रतिकर के लिए हकदार है ? (4) अनुतोष, यदि कोई है । आयुक्त ने, लगभग 14 मास की प्रतीक्षा के पश्चात् केवल विवाद्यक सं. 1 को विनिश्चित करते हुए अपीलार्थियों के दावा आवेदन को इस आधार पर खारिज कर दिया कि दुर्घटना के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्भूत हुई थी । दावा याचिका की खारिजी से संबंधित उक्त अधिनिर्णय को उच्च न्यायालय द्वारा पुष्ट कर दिया गया था । उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की गई । इस अपील में इस न्यायालय द्वारा एकमात्र इस प्रश्न पर विनिश्चय किया जाना है कि क्या विद्वान् आयुक्त तथा उच्च न्यायालय का यह विनिश्चित करना न्यायोचित था कि प्रश्नगत दुर्घटना के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्भूत हुई थी । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील का तद्नुसार निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – निसंदिग्ध रूप से, कर्मचारी को प्रतिकर देने के लिए नियोजक का दायित्व केवल तभी उद्भूत होता है यदि कर्मचारी को ऐसी दुर्घटना में क्षति कारित हुई हो, जो नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्भूत हुई है । वास्तव में, कर्मचारी प्रतिकर अधिनियम, 1923 की धारा 3(1) में प्रयुक्त "नियोजन से" और "नियोजन के अनुक्रम में" शब्द दो पृथक्-पृथक् वाक्यांश हैं और उन्हें उसी रूप में समझा गया है । यदि दुर्घटना ऐसे किसी जोखिम के कारण हुई थी जो नियोजन की एक घटना है तो निस्संदेह दावा तब तक सफल होगा जब तक कर्मकार ने स्वयं अपने अविवेकपूर्ण कार्य द्वारा स्वयं को अतिरिक्त जोखिम में न डाला हो । "नियोजन के अनुक्रम में" वाक्यांश से यह इंगित होता है कि क्षति अवश्य ही नियोजन के जारी रहने के दौरान कारित होनी चाहिए जबकि "नियोजन से" अभिव्यक्ति से यह विचार द्योतित होता है कि नियोजन और दुर्घटना के परिणामस्वरूप कर्मकार को कारित क्षति के बीच आकस्मिक संबंध होना चाहिए । प्रथमदृष्ट्या, प्रस्तुत विवाद्यक को विनिश्चित करते समय यह दर्शित करने के लिए अभिलेख पर कोई सामग्री नहीं है कि मृत कर्मकार ने

स्वयं अपने अविवेकपूर्ण कार्य द्वारा स्वयं को अतिरिक्त जोखिम में डाला था । जब कोई कर्मकार सार्वजनिक सड़क या सार्वजनिक स्थान या सार्वजनिक परिवहन में होता है तो वह वहां इस प्रकार होता है जैसे कि जनता का कोई अन्य सदस्य होता है और वह तब तक वहां अपने नियोजन के अनुक्रम में नहीं होता है जब तक उसके नियोजन की प्रकृति उसके लिए वहां होना आवश्यक न बनाती हो । दूसरे शब्दों में, दुर्घटना और नियोजन के बीच आकस्मिक संबंध अवश्य होना चाहिए । "नियोजन से" अभिव्यक्ति नियोजन की मात्र प्रकृति तक सीमित नहीं है: यह अभिव्यक्ति उस रूप में नियोजन, उसकी प्रकृति, उसकी दशाओं, उसकी बाध्यताओं और उसकी घटनाओं को लागू होती है । "नियोजन से उद्भूत" शब्दों को इस अर्थ में समझा जाता है कि नियोजन के अनुक्रम में क्षति किसी ऐसे जोखिम के परिणामस्वरूप हुई है, जो कर्तव्यों से आनुषंगिक था । जब तक कर्मकार नियोजक द्वारा दिए गए कर्तव्य में नहीं लगा होता है तब तक यह विश्वास करना युक्तिसंगत है कि उसे अन्यथा क्षति कारित नहीं हुई होती । इस संबंध में कोई विवाद नहीं हो सकता कि यह प्रश्न प्रत्येक मामले के तथ्यों पर निर्भर करता है कि कोई नियोजन कब आरंभ होता है और कब समाप्त होता है । प्रवेश और निर्गम दोनों स्तरों पर समय और स्थान के अनुसार काल्पनिक विस्तार होता है । समय और स्थान के अनुसार कुछ युक्तियुक्त विस्तार हो सकता है और किसी कर्मकार को उसके नियोजन के अनुक्रम में समझा जा सकता है हालांकि वह नियोजक के परिसर में न पहुंचा हो या वहां से निकल गया हो । भारत में, न्यायालयों ने यह अवधारित करते समय कि क्या क्षति कर्मकार के नियोजन से या उसके अनुक्रम में कारित हुई है, पिछले 60-70 वर्षों से समय और स्थान के काल्पनिक विस्तार के सिद्धांत को माना है । न्यायालयों ने लगातार यह अभिनिर्धारित किया है कि नियोजन तब आवश्यक रूप से समाप्त नहीं हो जाता जब औज़ार-बन्दी का संकेत दिया जाता है और जब कर्मकार वास्तव में अपने स्थान या कार्य को छोड़ता है । (पैरा 5, 6 और 7)

वर्तमान मामले में, मृतक इंजीनियर के रूप में नियोजित था, उसे प्रत्यर्थी कंपनी के उत्पादों के विक्रय को बढ़ावा देने और उनका संस्थापन करने का कर्तव्य सौंपा गया था । इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि एक उत्पाद, दुर्घटना से एक दिन पूर्व हरियाणा राज्य में धारूहेड़ा स्थित हीरो होंडा कारखाने में संस्थापित किया गया था, जो कि दिल्ली राज्य से लगभग 70 किलोमीटर दूर है । इस संबंध में भी कोई विवाद नहीं है कि मृतक प्रत्यर्थी के अनुदेश और निदेश पर उस दिन उसे सौंपे गए क्षेत्रीय

कार्य के लिए गया । उसे और उसके सह-कर्मकार को सौंपा गया आवश्यक कार्य पूरा करने के पश्चात् वे दोनों दिल्ली लौट रहे थे और उस समय उनके साथ यह दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना घटी । इस प्रकार, इन तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि मृतक को दिल्ली से धारूहेड़ा, हरियाणा में स्थित हीरो होंडा कारखाने में उसे सौंपे गए कार्य को पूरा करने के प्रयोजनों के लिए जाना पड़ा और वह अपना कार्य पूरा करने के पश्चात् दिल्ली लौट रहा था । उसके नियोजन की प्रकृति ने उसके लिए वहां उपस्थित होना आवश्यक बनाया । इस दृष्टि से, यह अभिनिर्धारित करना आवश्यक है कि दुर्घटना उसके नियोजन के अनुक्रम में घटी थी । (पैरा 9)

यह स्पष्ट है कि मृतक की प्रश्नगत मार्ग पर उपस्थिति विक्रय इंजीनियर के रूप में उसके नियोजन से आनुषंगिक थी । चूंकि उसे एक फिल्टर का परीक्षण करने के लिए हीरो होंडा कारखाने जाना पड़ा था इसलिए वह मात्र वही कर रहा था जो कुछ कर्मचारी के रूप में उससे अपेक्षित था । इस प्रकार, अपना कार्य पूरा करने के पश्चात् मार्ग में हुई उसकी दुर्घटना-स्वरूप मृत्यु पूर्णतः अधिनियम की धारा 3(1) के अंतर्गत आती है । इस मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक है कि वह दुर्घटना नियोजन से उद्‌भूत हुई थी चूंकि मृतक के नियोजन की प्रकृति के कारण ही उसके लिए वहां उपस्थित होना आवश्यक हुआ । प्रथम विवाद्यक के संबंध में ऊपर उल्लिखित निष्कर्ष अभिलिखित करके मामला अधिनियम के अधीन आयुक्त को उसके द्वारा विरचित शेष विवाद्यकों का विनिश्चय करने के लिए वापस किया जाता है । (पैरा 20 और 21)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2015]	(2015) 13 एस. सी. सी. 625 : **भारत संघ** बनाम **सुरेन्द्र पांडेय** ;	18
[2014]	(2014) 14 एस. सी. सी. 21 : **मंजू सरकार** बनाम **मबीश मियां** ;	19
[1996]	(1996) 6 एस. सी. सी. 1 : **प्रादेशिक निदेशक, कर्मचारी राज्य बीमा निगम** बनाम **फ्रांसिस डिकोस्ता** ;	17

[1970]	[1970] 2 उम. नि. प. 967 = (1969) 2 एस. सी. सी. 607 : **मैकिन मेकेंज़ी एंड कंपनी (प्रा.) लिमिटेड** बनाम **इब्राहिम मुहम्मद इसाक** ;	16
[1964]	ए. आई. आर. 1964 एस. सी. 193 : **बी. ई. एस. टी. अंडरटेकिंग** बनाम **अगनेज़** ;	15
[1958]	ए. आई. आर. 1958 एस. सी. 881 : **सौराष्ट्र साल्ट मैन्युफैक्चरिंग कंपनी** बनाम **बाई वालु राजा** ;	8
[1929]	(1929) 1 के. बी. 1 : **लारेंस** बनाम **जार्ज मैथ्युज़ लिमिटेड** ;	14
[1917]	(1917) अपील केसेज़ 249 : **जॉन स्टीवर्ट एंड सन लिमिटेड** बनाम **लोंघर्स्ट** ;	12
[1911]	(1911) 1 के. बी. 997 : **पियर्स** बनाम **प्राविडेंट क्लाथिंग एंड सप्लाई कंपनी लिमिटेड** ;	11
[1904]	(1904) 2 के. बी. 32 : **एंड्रयू** बनाम **फेल्सवर्थ इंडस्ट्रियल सोसाइटी** ;	13

सिविल अपीली अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 10265.

2011 की एफ. ए. ओ. सं. 349 में नई दिल्ली स्थित दिल्ली उच्च न्यायालय के तारीख 23 अप्रैल, 2014 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री आर. के. नैन, सुश्री प्रतिमा एन. चौहान और जितेन्द्र जैन

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति मोहन एम. शांतनागौडर ने दिया ।

न्या. शांतनागौडर – इजाजत दी जाती है ।

2. इस अपील में दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा 2011 के एफ. ए. ओ. सं. 349 में पारित तारीख 23 अप्रैल, 2014 के निर्णय को असफल दावेदारों द्वारा प्रश्नगत किया गया है । आक्षेपित निर्णय द्वारा उच्च न्यायालय ने आयुक्त द्वारा कर्मचारी प्रतिकर अधिनियम, 1923 (जो कि इससे पूर्व वर्ष

2009 तक कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 के रूप में ज्ञात था) (जिसे संक्षेप में "अधिनियम" कहा गया है) के अधीन पारित उस अधिनिर्णय को पुष्ट कर दिया था, जिसके द्वारा दावेदारों की याचिका को इस आधार पर खारिज कर दिया गया था कि दुर्घटना के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह नियोजन से और उनके अनुक्रम में उद्भूत हुई थी ।

3. अभिलेख से यह प्रकट होता है कि मृत कर्मकार श्री रवि शेखर जोशी, जो कि अपीलार्थी का पुत्र था, प्रत्यर्थी (डायनेमैक सिस्टम्स प्राइवेट लिमिटेड) के पास इंजीनियर के रूप में नियोजित था । उसे प्रत्यर्थी के उत्पादों के विक्रय को बढ़ावा देने/संस्थापन के लिए क्षेत्र में रहने का कर्तव्य सौंपा गया था । दुर्घटना वाले दुर्भाग्यपूर्ण दिन, अर्थात् 8 सितम्बर, 2007 को मृतक और उसके सह-कर्मकार, श्री विकास को (जो कि इंजीनियर/विक्रय कार्यपालक के रूप में नियोजित था) एक फिल्टर का, जो कि तारीख 7 सितम्बर, 2007 को हीरो होंडा कारखाना, धारूहेड़ा, हरियाणा में संस्थापित किया गया था, परीक्षण करने के लिए प्रतिनियुक्त किया गया था । तद्नुसार, वे दोनों दिल्ली से गए और दोपहर में हीरो होंडा कारखाना, धारूहेड़ा, हरियाणा में संस्थापित फिल्टर की जांच की और उसके पश्चात् उन्होंने 4.30 बजे अपराह्न में दिल्ली के लिए वापसी-यात्रा आरंभ की । दोनों कर्मकारों की, जिसमें मृतक भी था, तब सड़क पर दुर्घटना हो गई जबकि वे हीरो होंडा कारखाने से थोड़ी दूरी पर थे और उन्हें क्षतियां पहुंची । दोनों को अस्पताल ले जाया गया जहां मृतक को "मृत लाया गया" घोषित किया गया जबकि उसके सह-कर्मकार को प्राथमिक उपचार के पश्चात् छुट्टी दे दी गई ।

अपीलार्थियों ने विद्वान् आयुक्त के समक्ष अधिनियम की धारा 22 के अधीन प्रतिकर के लिए आवेदन फाइल किया । विद्वान् आयुक्त ने, अभिवचनों के आधार पर निम्नलिखित विवाद्यक विरचित किए ।

1. क्या मृतक की दुर्घटना नियोजन के अनुक्रम में और उससे उद्भूत हुई थी ?

2. क्या मृतक कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 के अधीन कर्मकार की परिभाषा के अंतर्गत आता है ?

3. यदि ऐसा है, तो क्या दावेदार दावा आवेदन के अनुसार प्रतिकर के लिए हकदार है ?

4. अनुतोष, यदि कोई है ।

पूर्णरूपेण विचारण के पश्चात्, तारीख 30 जनवरी, 2010 को लिखित दलीलें प्रस्तुत की गई थीं । आयुक्त ने, लगभग 14 मास की प्रतीक्षा के पश्चात् केवल विवाद्यक सं. 1 को विनिश्चित करते हुए अपीलार्थियों के दावा आवेदन को इस आधार पर खारिज कर दिया कि दुर्घटना के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्भूत हुई थी । दावा याचिका की खारिजी से संबंधित उक्त अधिनिर्णय को, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, उच्च न्यायालय द्वारा पुष्ट कर दिया गया था ।

4. इस अपील में इस न्यायालय द्वारा एकमात्र इस प्रश्न पर विनिश्चय किया जाना है कि क्या विद्वान् आयुक्त तथा उच्च न्यायालय का यह विनिश्चित करना न्यायोचित था कि प्रश्नगत दुर्घटना के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्भूत हुई थी ।

5. निसंदिग्ध रूप से, कर्मचारी को प्रतिकर देने के लिए नियोजक का दायित्व केवल तभी उद्भूत होता है यदि कर्मचारी को ऐसी दुर्घटना में क्षति कारित हुई हो, जो नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्भूत हुई है ।

अधिनियम की धारा 3(1) नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्भूत होने वाली दुर्घटना की दशा में कर्मचारी को प्रतिकर देने संबंधी नियोजक के दायित्व के संबंध में है । धारा 3(1) निम्नलिखित रूप में है :–

> "यदि कर्मकार को अपने नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्भूत दुर्घटना द्वारा वैयक्तिक क्षति कारित होती है तो उसका नियोजक इस अध्याय के उपबंधों के अनुसार प्रतिकर का देनदार होगा ।"

जहां क्षति के परिणामस्वरूप मृत्यु हो जाती है वहां प्रतिकर की रकम अधिनियम की धारा 4 के अनुसार परिमाणित की जाएगी । धारा 4(1)(क) निम्नलिखित रूप में है :–

> "इस अधिनियम के उपबंधों के अध्यधीन यह है कि प्रतिकर की रकम निम्नलिखित होगी, अर्थात् –
>
> '(क)जहां कि क्षति के परिणामस्वरूप मृत्यु हो जाती है : मृत कर्मकार की मासिक मजदूरी को सुसंगत गुणक से गुणा करके प्राप्त रकम के चालीस प्रतिकर के बराबर रकम ;
>
> या

बीस हजार रुपए की रकम इनमें से जो भी अधिक है ;"

6. वास्तव में, "नियोजन से" और "नियोजन के अनुक्रम में" शब्द दो पृथक्-पृथक् वाक्यांश हैं और उन्हें उसी रूप में समझा गया है । यदि दुर्घटना ऐसे किसी जोखिम के कारण हुई थी जो नियोजन की एक घटना है तो निस्संदेह दावा तब तक सफल होगा जब तक कर्मकार ने स्वयं अपने अविवेकपूर्ण कार्य द्वारा स्वयं को अतिरिक्त जोखिम में न डाला हो । "नियोजन के अनुक्रम में" वाक्यांश से यह इंगित होता है कि क्षति अवश्य ही नियोजन के जारी रहने के दौरान कारित होनी चाहिए जबकि "नियोजन से" अभिव्यक्ति से यह विचार द्योतित होता है कि नियोजन और दुर्घटना के परिणामस्वरूप कर्मकार को कारित क्षति के बीच आकस्मिक संबंध होना चाहिए ।

प्रथमदृष्ट्या, प्रस्तुत विवाद्यक को विनिश्चित करते समय यह दर्शित करने के लिए अभिलेख पर कोई सामग्री नहीं है कि मृत कर्मकार ने स्वयं अपने अविवेकपूर्ण कार्य द्वारा स्वयं को अतिरिक्त जोखिम में डाला था ।

7. जब कोई कर्मकार सार्वजनिक सड़क या सार्वजनिक स्थान या सार्वजनिक परिवहन में होता है तो वह वहां इस प्रकार होता है जैसे कि जनता का कोई अन्य सदस्य होता है और वह तब तक वहां अपने नियोजन के अनुक्रम में नहीं होता है जब तक उसके नियोजन की प्रकृति उसके लिए वहां होना आवश्यक न बनाती हो । दूसरे शब्दों में, दुर्घटना और नियोजन के बीच आकस्मिक संबंध अवश्य होना चाहिए । "नियोजन से" अभिव्यक्ति नियोजन की मात्र प्रकृति तक सीमित नहीं हैः यह अभिव्यक्ति उस रूप में नियोजन, उसकी प्रकृति, उसकी दशाओं, उसकी बाध्यताओं और उसकी घटनाओं को लागू होती है । "नियोजन से उद्भूत" शब्दों को इस अर्थ में समझा जाता है कि नियोजन के अनुक्रम में क्षति किसी ऐसे जोखिम के परिणामस्वरूप हुई है, जो कर्तव्यों से आनुषंगिक था । जब तक कर्मकार नियोजक द्वारा दिए गए कर्तव्य में नहीं लगा होता है तब तक यह विश्वास करना युक्तिसंगत है कि उसे अन्यथा क्षति कारित नहीं हुई होती ।

इस संबंध में कोई विवाद नहीं हो सकता कि यह प्रश्न प्रत्येक मामले के तथ्यों पर निर्भर करता है कि कोई नियोजन कब आरंभ होता है और कब समाप्त होता है । प्रवेश और निर्गम दोनों स्तरों पर समय और स्थान के अनुसार काल्पनिक विस्तार होता है । समय और स्थान के अनुसार कुछ युक्तियुक्त विस्तार हो सकता है और किसी कर्मकार को उसके नियोजन के अनुक्रम में समझा जा सकता है हालांकि वह नियोजक के परिसर में न

पहुंचा हो या वहां से निकल गया हो । भारत में, न्यायालयों ने यह अवधारित करते समय कि क्या क्षति कर्मकार के नियोजन से या उसके अनुक्रम में कारित हुई है, पिछले 60-70 वर्षों से समय और स्थान के काल्पनिक विस्तार के सिद्धांत को माना है । न्यायालयों ने लगातार यह अभिनिर्धारित किया है कि नियोजन तब आवश्यक रूप से समाप्त नहीं हो जाता जब औज़ार-बन्दी का संकेत दिया जाता है और जब कर्मकार वास्तव में अपने स्थान या कार्य को छोड़ता है ।

8. उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकालने के लिए कि जब कोई कर्मचारी कार्य-स्थल में आने या वहां से जाने के मार्ग में होता है और कोई दुर्घटना हो जाती है तब ऐसी दुर्घटना के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्भूत हुई है, **सौराष्ट्र साल्ट मैन्युफैक्चरिंग कंपनी** बनाम **बाई वालु राजा**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय का अवलंब लिया । इस न्यायालय ने उस मामले में के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों के आधार पर निर्णय किया है । **सौराष्ट्र साल्ट मैन्युफैक्चरिंग** (उपर्युक्त) वाले मामले में के तथ्य इस मामले के तथ्यों से भिन्न हैं । इस न्यायालय ने **सौराष्ट्र साल्ट मैन्युफैक्चरिंग** (उपर्युक्त) वाले मामले में विनिश्चय करते समय स्पष्ट रूप से यह मताभिव्यक्ति की है कि यह अवधारित करने की दृष्टि से कि दुर्घटना कर्मकार के नियोजन से या उसके अनुक्रम में उद्भूत हुई है अथवा नहीं, इस काल्पनिक विस्तार को सभी समयों पर ध्यान में रखते हुए प्रत्येक मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों की परीक्षा सावधानीपूर्वक करनी होगी । यह भी मताभिव्यक्ति की गई है कि दुर्घटना के बारे में तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि वह नियोजन के अनुक्रम में हुई है जब तक उसके नियोजन की प्रकृति ही उसके लिए वहां होना आवश्यक नहीं बनाती है । **सौराष्ट्र साल्ट मैन्युफैक्चरिंग** (उपर्युक्त) वाले मामले में के निर्णय का सुसंगत प्रभाग निम्नलिखित रूप में है :–

> "नियमानुसार, किसी कर्मचारी का नियोजन तब तक आरंभ नहीं होता है जब तक वह नियोजन स्थल पर पहुंच न गया हो और तब जारी नहीं रहता है जब उसने नियोजन स्थल छोड़ दिया हो, नियोजन स्थल में आने-जाने वाली यात्रा को निकाल दिया जाता है । तथापि, अब यह सुस्थापित है कि यह नियोजक के परिसर के काल्पनिक विस्तार के सिद्धांत के अध्यधीन है जिससे कि उसके अंतर्गत वह क्षेत्र

---

[1] ए. आई. आर. 1958 एस. सी. 881.

शामिल किया जा सके जहां से कर्मकार कार्य के वास्तविक स्थान पर जाने और वहां से निकलने पर गुजरता है । समय और स्थान दोनों के संबंध में कुछ युक्तियुक्त विस्तारण हो सकता है और किसी कर्मकार को उसके नियोजन के अनुक्रम में समझा जा सकता है हालांकि वह नियोजक के परिसर में न पहुंचा हो या वहां से निकल गया हो । इस बात का अवधारण करने की दृष्टि से कि दुर्घटना किसी कर्मकार के नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्भूत हुई है अथवा नहीं, सभी समयों पर काल्पनिक विस्तारण के सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों की परीक्षा सावधानीपूर्वक करनी होगी ।

इस अपील के प्रयोजनों के लिए इंग्लैंड में और भारत में के ऐसे विभिन्न विनिश्चयों के प्रति निर्देश करना अनावश्यक है जिनमें पूर्वोक्त सिद्धांत को स्पष्ट किया गया है क्योंकि भले ही इस आधार पर किसी कर्मकार को जब वह या तो नमक के कारखाने की ओर जा रहा हो या वहां से लौट रहा हो, बिन्दु ख पर उसके नियोजन के अनुक्रम समझा जा सकता है, किन्तु हमारे विनिश्चयार्थ प्रश्न यह है कि जब वह नक्शा, प्रदर्श-35 के बिन्दु क और ख के बीच अपनी यात्रा पर था तब भी वह अपने नियोजन के अनुक्रम में था अथवा नहीं । जबकि मामला उच्च न्यायालय में था तब विद्वान् न्यायाधीशों का ध्यान अपीलार्थी और खड़वा (फेरीवालों) के बीच अपीलार्थी के कर्मकारों को नमक के कारखाने की ओर ले जाने और वहां से वापस लाने में समर्थ बनाने के लिए संकरी खाड़ी के आर-पार उनका नाव द्वारा वहन करने की अभिकथित व्यवस्था को साबित करने में कर्मकार प्रतिकर आयुक्त द्वारा साक्षियों की परीक्षा करने में असफल रहने की ओर आकर्षित किया गया था । उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश प्रथमतः इस साक्ष्य को अभिलिखित करने के लिए प्रतिप्रेषण का आदेश करने के लिए तैयार नहीं थे किन्तु उस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए, जो उन्होंने इंग्लैंड में हाउस आफ लार्ड्स के हाल ही के विनिश्चयों के प्रति अपनाया था, उन्होंने ऐसा साक्ष्य अभिलिखित करना अनावश्यक समझा । उनकी राय में, अभिलेख पर पहले से उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह अवश्य ही अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह दुर्घटना मृत कर्मकारों के नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्भूत हुई थी । इस न्यायालय में, जैसा कि पहले कथन किया गया है, हमने इस संबंध में साक्ष्य लेना और उनके संबंध

में निष्कर्ष अभिलिखित करना आवश्यक समझा । इस प्रकार अभिलिखित साक्ष्य के संबंध में निकाले गए निष्कर्षों से यह पूर्णतः स्पष्ट होता है कि अपीलार्थी और खड़वा के बीच अपीलार्थी के किसी कर्मकार को संकरी खाड़ी के आर-पार नमक कारखाने में लाने और वापस ले जाने की कोई व्यवस्था नहीं थी । साक्ष्य के अनुसार, नमक के कारखाने के कर्मकारों से खड़वा द्वारा प्रभार लिया जाता है जब वे उनकी नौकाओं से संकरी खाड़ी पार करते हैं । उनके द्वारा अपनी ओर से दी जाने वाली एकमात्र रियायत यह है कि ऐसे किसी व्यक्ति से, जो कि एक खड़वा – सह-जाति का व्यक्ति है, ऐसा कोई प्रभार नहीं लिया जाता है । प्रतिप्रेषण से पूर्व और उसके पश्चात् अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्य से यह भी स्पष्ट होता है कि संकरी खाड़ी के आर-पार जाने वाली नौकाओं का प्रयोग जनता द्वारा किया जाता है और उनमें से प्रत्येक व्यक्ति को, खड़वा जाति के किसी व्यक्ति के सिवाय, संकरी खाड़ी के आर-पार ले जाने के लिए प्रभार संदत्त करना होता है । नक्शे के बिन्दु क पर पहुंचने के लिए किसी कर्मकार को सार्वजनिक मार्ग से होकर पोरबन्दर शहर में जाना होता है । इसके पश्चात्, कर्मकार बिन्दु ख पर जाने के लिए बिन्दु क पर नौका का प्रयोग करता है, जिसका प्रयोग जनता द्वारा किया जाता है, जिसके लिए उसे नौका चालक को देयों का संदाय करना होता है । बिन्दु ख से नमक के कारखाने तक 450 से 500 फुट लंबा और 200 से 250 फुट चौड़ा खुला रेतीला क्षेत्र आता है । यह रेतीला क्षेत्र भी जनता के लिए खुला है । इस रेतीले क्षेत्र से एक पगडंडी है जो नमक जैटी, बिन्दु ग तक जाती है और पैदल-मार्ग है जो नमक के कारखाने, बिन्दु घ तक जाता है । यह प्रश्नगत नहीं है कि नमक के कारखाने तक जाने वाला पैदल-मार्ग सार्वजनिक रास्ता है । रेतीले क्षेत्र से नमक जैटी, बिन्दु ग तक वाली पगडंडी का प्रयोग जनता द्वारा किया जा सकता है या नहीं भी किया जा सकता है । इस मामले के प्रयोजनार्थ, यह कल्पना की जा सकती है कि यदि किसी कर्मकार को नमक जैटी तक और वहां से नमक के कारखाने के क्षेत्र के भीतर विभिन्न लवण क्यारियों और लवण कुंडों तक जाना होता है तो उसे आवश्यक रूप से उस पगडंडी का प्रयोग करना चाहिए । यह सुस्थापित है कि जब कोई कर्मकार किसी सार्वजनिक मार्ग या किसी सार्वजनिक स्थान या किसी सार्वजनिक परिवहन में है तो वह वहां इस प्रकार होता है जैसे जनता का कोई अन्य सदस्य होता है और वह तब तक अपने नियोजन के अनुक्रम में वहां नहीं होता है जब तक

कि इस नियोजन की प्रकृति ही उसके लिए वहां होना आवश्यक न बनाती हो । कोई कर्मकार उस क्षण से, जब वह अपना घर छोड़ता है और वह अपने कार्य पर जाने वाले मार्ग में होता है, अपने नियोजन के अनुक्रम में नहीं होता है । वह निश्चित रूप से तब अपने नियोजन के अनुक्रम में होता है यदि वह कार्य-स्थल पर या ऐसे किसी बिन्दु या किसी क्षेत्र में पहुंचता है जो काल्पनिक विस्तारण के सिद्धांत के अंतर्गत आता है जिसके बाहर नियोजक उसके साथ घटने वाली किसी दुर्घटना के लिए प्रतिकर का संदाय करने के लिए दायी नहीं है । प्रस्तुत मामले में, भले ही यह मान लिया जाए कि काल्पनिक विस्तारण का सिद्धांत बिन्दु घ तक विस्तारित होता है तो भी इस सिद्धांत को उससे आगे विस्तारित नहीं किया जा सकता है । किसी कर्मकार ने जिस क्षण किसी नौका में बिन्दु ख छोड़ दिया है या बिन्दु क छोड़ दिया है किन्तु बिन्दु ख तक अभी नहीं पहुंचा है, उस क्षण से उसे अपने नियोजन के अनुक्रम में नहीं कहा जा सकता है और इन दोनों बिन्दुओं के बीच वाली यात्रा के दौरान उसके साथ घटने वाली दुर्घटना के बारे में यह नहीं कहा जा सकेगा कि वह उसके नियोजन से और उसके अनुक्रम में उद्‌भूत हुई थी । कर्मकार प्रतिकर आयुक्त और उच्च न्यायालय दोनों ने यह मानकर गलती की थी कि इस मामले में मृत कर्मकार अपने नियोजन के अनुक्रम में थे जब वे बिन्दु क और ख के बीच संकरी खाड़ी को पार कर रहे थे । वह दुर्घटना दुर्भाग्यपूर्ण थी, जो तब घटी थी जब नौका लगभग बिन्दु क पर थी, जिसके परिणामस्वरूप कई कर्मकारों की मृत्यु हो गई थी, किन्तु उस दुर्घटना के लिए अपीलार्थी को दायी नहीं ठहराया जा सकता है ।"

(जोर देने के लिए रेखांकित)

सौराष्ट्र साल्ट मैन्युफैक्चरिंग (उपर्युक्त) वाले मामले में यह मामला नहीं था कि कर्मचारियों ने संकरी खाड़ी में से इसलिए यात्रा की क्योंकि उनके नियोजन के लिए ऐसा करना आवश्यक था ।

9. वर्तमान मामले में, मृतक इंजीनियर के रूप में नियोजित था, उसे प्रत्यर्थी कंपनी के उत्पादों के विक्रय को बढ़ावा देने और उनका संस्थापन करने का कर्तव्य सौंपा गया था । इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि एक उत्पाद, दुर्घटना से एक दिन पूर्व हरियाणा राज्य में धारूहेड़ा स्थित हीरो होंडा कारखाने में संस्थापित किया गया था, जो कि दिल्ली राज्य से लगभग 70 किलोमीटर दूर है । इस संबंध में भी कोई विवाद नहीं है कि

मृतक प्रत्यर्थी के अनुदेश और निदेश पर तारीख 8 सितम्बर, 2007 को उसे सौंपे गए क्षेत्रीय कार्य के लिए गया । उसे और उसके सह-कर्मकार को सौंपा गया आवश्यक कार्य पूरा करने के पश्चात् वे दोनों दिल्ली लौट रहे थे और उस समय उनके साथ यह दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना घटी । इस प्रकार, इन तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि मृतक को दिल्ली से धारूहेड़ा, हरियाणा में स्थित हीरो होंडा कारखाने में उसे सौंपे गए कार्य को पूरा करने के प्रयोजनों के लिए जाना पड़ा और वह अपना कार्य पूरा करने के पश्चात् दिल्ली लौट रहा था । उसके नियोजन की प्रकृति ने उसके लिए वहां उपस्थित होना आवश्यक बनाया । इस दृष्टि से, हमारी यह सुविचारित राय है कि यह अभिनिर्धारित करना आवश्यक है कि दुर्घटना उसके नियोजन के अनुक्रम में घटी थी ।

10. इंग्लिश न्यायालयों ने आंग्ल कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1897 से उद्भूत होने वाले मामलों पर विचार करते समय "नियोजन से उद्भूत" विषय पर अत्यंत विस्तार से विचार किया है ।

11. **पियर्स** बनाम **प्राविडेंट क्लाथिंग एंड सप्लाई कंपनी लिमिटेड**[1] वाले मामले में लार्ड न्यायाधीश बकले ने निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां कीं :–

> "'नियोजन से' शब्दों में आवश्यक रूप से यह विचार अंतर्वलित है कि दुर्घटना नियोजन के लिए आनुषंगिक जोखिम से उद्भूत होती है । कोई दुर्घटना नियोजन से वहां उद्भूत होती है जहां वह सभी मनुष्यों के लिए सामान्य जोखिम से सुभिन्न नियोजन के लिए आनुषंगिक जोखिम के परिणामस्वरूप होती है हालांकि नियोजन के लिए आनुषंगिक जोखिम में सभी मनुष्यों के लिए सामान्य जोखिम भी शामिल हो सकता है ।"

12. **जॉन स्टीवर्ट एंड सन लिमिटेड** बनाम **लोंघर्स्ट**[2] वाले मामले में लार्ड बकमास्टर ने यह मताभिव्यक्ति की कि इस बात का अवधारण प्रत्येक मामले के आधार पर ही किया जा सकता है कि "नियोजन से या उसके अनुक्रम में" वाली कोई स्थिति उद्भूत होती है अथवा नहीं :–

> "ऐसे कुछ प्रतिवेदित मामलों में, जिनके प्रति लार्ड चांसलर द्वारा पूर्ण रूप से निर्देश किया गया है, मुझे यह प्रतीत होता है कि एक ही गलती की गई है और उनमें उस नियत सीमा को परिभाषित करने

---

[1] (1911) 1 के. बी. 997.

[2] (1917) अपील केसेज़ 249.

का प्रयास किया गया है जिसमें उन मामलों को, जो कानून के भीतर आते हैं उन मामलों से, जो कानून के भीतर नहीं आते हैं, विभाजित किया गया है । इसे प्राप्त करना लगभग असंभव है । कोई भी प्राधिकारी निश्चित रूप से यह विनिश्चित नहीं कर सकता कि कोई विशिष्ट मामला विशिष्ट तथ्यों के आधार पर इस वाक्यांश के अर्थान्तर्गत आता है अथवा नहीं ।"

प्रत्येक मामले के तथ्यों की परीक्षा पृथक्-पृथक् की जानी चाहिए । एक मामले का अवलंब दूसरे मामले के निष्कर्ष का निश्चायक रूप से विनिश्चय करने के लिए नहीं लिया जा सकता है । अतः इस मामले के तथ्यों की परीक्षा उस संदर्भ में अवश्य की जानी चाहिए जिसमें यह मामला आता है ।

13. **एंड्रयू** बनाम **फेल्सवर्थ इंडस्ट्रियल सोसाइटी**[1] वाले मामले में यह अधिकथित किया गया है कि जहां तक कर्मचारी ऐसी स्थिति में हो, जो कि नियोजन से उद्भूत हुई थी वहां यह आवश्यक नहीं है कि दुर्घटना का संबंध कार्य से हो । एम. आर. कालिन्स ने निम्न प्रकार मताभिव्यक्ति की :–

"यद्यपि हो सकता है कि दुर्घटना उस कार्य से संसक्त न हो या उसका उससे कोई संबंध न हो, जो वह व्यक्ति कर रहा था, तथापि, यदि उस समय की स्थिति, जिसमें वह व्यक्ति कार्य कर रहा था और वह स्थान जहां कार्य करते समय उसे आवश्यक रूप से होना चाहिए था, खतरे की ऐसी स्थिति और ऐसा स्थान है जिसके कारण दुर्घटना कारित हुई तो निष्पक्ष रूप से यह कहा जा सकेगा कि वह दुर्घटना कार्य के कारण नहीं बल्कि स्थिति के कारण नियोजन से उद्भूत हुई थी ।"

14. इंग्लिश न्यायालयों ने यह भी अभिनिर्धारित किया है कि कर्मचारियों को घर वापस आते समय पहुंची क्षतियां "नियोजन से उद्भूत" क्षतियों के अंतर्गत आती हैं । **लारेंस** बनाम **जार्ज मैथ्युज़ लिमिटेड**[2] वाले मामले में मृतक को कोयले के वणिकों द्वारा वाणिज्यिक यात्री के रूप में नियोजित किया गया था, जो उसे उनके लिए प्राप्त किए गए सभी आर्डरों के लिए कमीशन का संदाय करते थे । जब वह एक दौरा पूरा करने के पश्चात् अपनी मोटरसाइकिल पर अपने घर जा रहा था तब वह अपने ऊपर

---

[1] (1904) 2 के. बी. 32.

[2] (1929) 1 के. बी. 1.

एक वृक्ष गिरने से, जो कि एक झंझावात के कारण गिरा था, घातक रूप से मारा गया । प्रतिकर से संबंधित कार्यवाहियों में, अपील न्यायालय ने बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि दुर्घटना इस आधार पर मृतक के नियोजन से उद्‌भूत हुई थी कि मृतक अपने नियोजन के कारण उस स्थान पर पहुंचा था, जिसमें वृक्ष की विद्यमानता ऐसा लक्षण था जिसके परिणामस्वरूप खतरा उत्पन्न हुआ । यह तथ्य अतात्विक था कि वह वृक्ष प्रकृति के बल के कारण गिरा क्योंकि दुर्घटना का अव्यवहित कारण वृक्ष का गिरना था ।

15. भारतीय न्यायालयों ने भी "नियोजन से और उसके अनुक्रम में" वाक्यांश को काफी विस्तार से प्रतिपादित किया है ।

बी. ई. एस. टी. अंडरटेकिंग बनाम **अगनेज़**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने इस प्रकार अधिकथित किया :–

> "अधिनियम की धारा 3(1) के अधीन कर्मकार को क्षति उसके नियोजन से और उसके अनुक्रम में अवश्य कारित होनी चाहिए । यह प्रश्न प्रत्येक मामले के तथ्यों पर निर्भर करता है कि कोई नियोजन कब आरंभ होता है और कब समाप्त होता है । किन्तु न्यायालय इस बात से सहमत हैं कि नियोजन आवश्यक रूप से तब समाप्त नहीं होता है जब औज़ार-बन्दी का संकेत दिया जाता है या जब कर्मकार उस वास्तविक कर्मशाला को छोड़ता है, जहां वह काम कर रहा है । समय और स्थान के अनुसार प्रवेश करने और निकासी के रूप में काल्पनिक विस्तारण होता है । ऐसे विस्तारण की सीमा आवश्यक रूप से विशिष्ट मामले के तथ्यों पर निर्भर करेगी । कोई नियोजन न केवल तब आरंभ हो सकेगा या समाप्त हो सकेगा जब कर्मचारी कार्य आरंभ करता है या अपने औज़ार छोड़ देता है बल्कि तब भी आरंभ या समाप्त हो सकेगा जब उसने नियोजन के स्थान पर आने-जाने के लिए पहुंचने और निकासी के लिए परिवहन-माध्यमों का प्रयोग किया हो । किसी नियोजक की ओर से केवल विशिष्ट परिवहन-माध्यम का प्रयोग करने संबंधी संविदागत कर्तव्य या बाध्यता से नियोजन का क्षेत्र उक्त परिवहन के मार्ग तक के क्षेत्र तक विस्तारित हो जाता है । यद्यपि प्रारंभ में, 'कर्तव्य' शब्द का अर्थान्चयन कड़ाई से किया गया है तथापि, पश्चात्‌वर्ती विनिश्चयों में इस संकल्पना को उदारीकृत किया

[1] ए. आई. आर. 1964 एस. सी. 193.

गया है । कोई अनुकल्पी मार्ग लेने संबंधी सैद्धांतिक विकल्प के कारण ऐसे कर्तव्य का अपकर्षण नहीं हो सकता है यदि स्वीकृत विकल्प साबित आवश्यकता या व्यावहारिक बाध्यता के कारण अपनाया गया हो । किन्तु न्यायालय के समक्ष उद्धृत कोई भी विनिश्चय मुम्बई जैसे बृहत्तर क्षेत्र में प्रचालित परिवहन सेवा के संबंध में नहीं है । इसलिए, इन विनिश्चयों से कोई सहायता नहीं मिलती, सिवाय वहां जहां तक उनमें साधारण रूप से लागू किए जाने वाले सिद्धांत अधिकथित किए गए हैं । वास्तव में, कुछ न्यायाधीशों ने अपने विचार-विमर्श की परिधि से ऐसे मामलों को अभिव्यक्त रूप से अपवर्जित कर दिया है जहां कोई कर्मचारी कार्य की अत्यावश्यकता के कारण सार्वजनिक मार्गों और अन्य सार्वजनिक स्थानों का विचलन किया । अब हमारे समक्ष जो समस्या उद्‌भूत हुई है वह एक नई समस्या है और वह किसी नज़ीर के अंतर्गत नहीं आती है ।"

16. "नियोजन से उद्‌भूत" शब्दों का अर्थ समझने के लिए **मैकिन मेकेंज़ी एंड कंपनी (प्रा.) लिमिटेड** बनाम **इब्राहिम मुहम्मद इसाक**[1] वाला मामला भी सुसंगत है । न्यायमूर्ति रामास्वामी ने इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

"...... 'नियोजन से उद्‌भूत' शब्दों का अर्थ है, 'नियोजन के अनुक्रम में सेवा के कर्तव्यों से आनुषंगिक किसी ऐसी जोखिम के परिणामस्वरूप हुई क्षति जिसे कर्मकार यदि वह स्वामी के प्रति कर्तव्य में लगा न होता तो यह विश्वास करना युक्तियुक्त होता कि अन्यथा न उठाता' । अन्य शब्दों में दुर्घटना और नियोजन के बीच नैमित्तिक संबंध होना चाहिए । 'नियोजन से उद्‌भूत' पद नियोजन की प्रकृति तक ही सीमित नहीं है । वह पद नियोजन की प्रकृति, उसकी शर्तों, उसकी बाध्यताओं और उसकी प्रसंगतियों को भी लागू होता है । यदि इन बातों में से किसी के कारण भी कर्मकार विशेष खतरे में पड़ जाता है तो उस दशा में क्षति के बारे में कहा जाता है कि वह 'नियोजन से उद्‌भूत' हुई है । दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि यदि दुर्घटना किसी ऐसे जोखिम के कारण हुई है जो कि नियोजन से आनुषंगिक है तो प्रतिकर का दावा अवश्य ही मंजूर किया जाना चाहिए, जब तक कि कर्मकार ने स्वयं ही अपने को किसी धृष्ट

[1] [1970] 2 उम. नि. प. 967 = (1969) 2 एस. सी. सी. 607.

कार्य द्वारा अधिक खतरे में न डाला हो..... ।"

17. इस न्यायालय ने **प्रादेशिक निदेशक, कर्मचारी राज्य बीमा निगम** बनाम **फ्रांसिस डिकोस्ता**[1] वाले मामले में दावेदारों के लिए कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 की धारा 2(8) के अधीन प्रतिकर का दावा करने से पूर्व साबित करने के लिए तीन सिद्धांतों को अधिकथित किया है :–

> "(1) एक दुर्घटना हुई थी, (2) उस दुर्घटना का नियोजन से आकस्मिक संबंध था और (3) दुर्घटना नियोजन के अनुक्रम में अवश्य होनी चाहिए ।"

चूंकि उस अधिनियम की धारा 2(8) तात्विक रूप से अधिनियम की धारा 3(1) के समरूप है इसलिए ये सिद्धांत पश्चात्वर्ती अधिनियम के अधीन आने वाले मामलों में भी सुसंगत हैं ।

18. पुनः, इस न्यायालय ने **भारत संघ** बनाम **सुरेन्द्र पांडेय**[2] वाले मामले में नियोजन के काल्पनिक विस्तारण के सिद्धांत को निम्नलिखित उदाहरण देकर स्पष्ट किया है :–

> "आर. **बनाम** नैशनल इंश्योरेंस कमिश्नर, एक्स पी. मिशेल (पूर्वोक्त) वाले मामले में लार्ड डेनिंग द्वारा यह भी मत व्यक्त किया गया था कि 'उसके नियोजन के अनुक्रम में' वाक्यांश के अर्थान्वयन का विस्तारण कुछ मामलों में किया गया है किन्तु उन सभी मामलों में कर्मकार उस परिसर में था जहां वह कार्य करता था और वह अल्पावकाश के लिए कैंटीन या किसी अन्य स्थान पर जाते समय क्षतिग्रस्त हुआ था । इस कसौटी को कि 'नियोजन से युक्तियुक्त रूप से आनुषंगिक' क्या था, ऐसे मामलों तक भी विस्तारित किया जा सकता है जब किसी कर्मचारी को नियोजक द्वारा कारखाना परिसर से बाहर छोटे-मोटे काम के लिए भेजा जाता है । किन्तु ऐसे मामलों में, यह अवश्य ही दर्शाया जाना चाहिए कि वह अपने नियोजन से आनुषंगिक कुछ कर रहा था । ऐसे मामले भी हो सकते हैं जहां किसी कर्मचारी को अपने नियोजन के प्रायिक अनुक्रम में अपने कार्य-स्थल से बाहर जाना पड़ा हो । साउथ मेटलैंड रेलवे प्राइवेट लिमिटेड बनाम जेम्स वाले मामले में मुख्य न्यायमूर्ति लाथम ने यह मत व्यक्त किया कि जब कर्मकारों को किसी गर्म दिन में अपने नियोजन के अनुक्रम में कार्य को जारी

---

[1] (1996) 6 एस. सी. सी. 1.

[2] (2015) 13 एस. सी. सी. 625.

रखने में स्वयं को समर्थ बनाने की दृष्टि से थोड़े समय के लिए पीने के लिए शीतल जल लेने हेतु जाना पड़ा हो, जिसके बिना वे कार्य जारी नहीं रख सकते थे, तब ऐसे मामलों में जब वे बाहर जल लेने के लिए गए थे, वे अपने नियोजन के अनुक्रम में कुछ कार्य कर रहे थे ।"

(जोर देने के लिए रेखांकित किया गया है)

19. ऊपर उल्लिखित मताभिव्यक्तियों को इस न्यायालय द्वारा पश्चात्वर्ती अनेक निर्णयों में दोहराया गया है, जिसके अंतर्गत **मंजू सरकार** बनाम **मबीश मियां**[1] वाला मामला भी है ।

20. ऊपर उल्लिखित बातों से यह स्पष्ट होता है कि मृतक की प्रश्नगत मार्ग पर उपस्थिति विक्रय इंजीनियर के रूप में उसके नियोजन से आनुषंगिक थी । चूंकि उसे एक फिल्टर का परीक्षण करने के लिए हीरो होंडा कारखाने जाना पड़ा था इसलिए वह मात्र वही कर रहा था जो कुछ कर्मचारी के रूप में उससे अपेक्षित था । इस प्रकार, अपना कार्य पूरा करने के पश्चात् मार्ग में हुई उसकी दुर्घटना-स्वरूप मृत्यु पूर्णतः अधिनियम की धारा 3(1) के अंतर्गत आती है ।

21. इस मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक है कि वह दुर्घटना नियोजन से उद्भूत हुई थी चूंकि मृतक के नियोजन की प्रकृति के कारण ही उसके लिए वहां उपस्थित होना आवश्यक हुआ ।

प्रथम विवाद्यक के संबंध में ऊपर उल्लिखित निष्कर्ष अभिलिखित करके मामला अधिनियम के अधीन आयुक्त को उसके द्वारा विरचित शेष विवाद्यकों का विनिश्चय करने के लिए वापस किया जाता है ।

22. अपील का तद्नुसार निपटारा किया जाता है । खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है ।

अपील का तद्नुसार निपटारा किया गया ।

ग्रो.

---

[1] (2014) 14 एस. सी. सी. 21.

प्रभातभाई अहीर उर्फ प्रभातभाई भीमसिंहभाई करमूर और अन्य

बनाम

गुजरात राज्य और एक अन्य

4 अक्तूबर, 2017

मुख्य न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा, न्यायमूर्ति ए. एम. खानविलकर और न्यायमूर्ति (डा.) डी. वाई. चन्द्रचूड़

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 482 [सपठित दंड संहिता, 1860 की धारा 384, 467, 468, 471, 120ख और 506(2)] – कूटरचित दस्तावेजों के आधार पर भूमि के अंतरण संबंधी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने के लिए उच्च न्यायालय में आवेदन – पक्षकारों के बीच विवाद की बाबत समझौता – उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति – उद्दापन, कूटरचना और दस्तावेज़ों को गढ़ने तथा इनके आधार पर शिकायतकर्ता को भूमि में उसके हित से वंचित करने के अभिकथन गंभीर प्रकृति के होने और अभियुक्तों की आपराधिक पृष्ठभूमि होने के कारण उच्च न्यायालय द्वारा अपनी अंतर्निहित अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, पक्षकारों में विवाद के संबंध में समझौता होने के बावजूद, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने से इनकार करना न्यायोचित है ।

मामले के तथ्यों के अनुसार, द्वितीय प्रत्यर्थी ने तारीख 18 जून, 2016 की अपनी शिकायत में यह उल्लेख किया कि जामनगर शहर में पन्ना खान गोकुल नगर के सर्वेक्षण सं. 1408 में समाविष्ट 17 बीघा माप की कतिपय भूमि उसकी पैतृक कृषि भूमि थी । इस भूमि को जिला कलक्टर के आदेशों के अनुसरण में गैर-कृषि उपयोग में परिवर्तित किया गया था । इस भूमि के 103 भूखंड काटे गए थे । उनमें से 32,696 वर्ग फुट माप के भूखंड सं. 45 से 56 छह भाइयों और एक बहिन (जिनका प्रतिनिधित्व शिकायतकर्ता द्वारा किया गया है) के संयुक्त नाम में थे । शिकायतकर्ता के अनुसार, बच्छुभाई वेलजीभाई नंदा नामक एक दलाल प्रथम अपीलार्थी, प्रभातभाई अहीर के साथ उसके पास आया और यह कहा कि वह भूमि क्रय करने का इच्छुक है । अगले दिन प्रथम अपीलार्थी अपने भागीदार हसमुखभाई पटेल (तृतीय अपीलार्थी) के साथ भूमि क्रय करने के लिए

शिकायतकर्ता के पास आया । शिकायतकर्ता से भूखंड की अभिन्यास योजना (ले-आउट प्लान) की फोटोप्रति देने का अनुरोध किया, जो उसने उसे दे दी । अगले दिन प्रथम अपीलार्थी, द्वितीय और तृतीय अपीलार्थियों के साथ शिकायतकर्ता के मकान पर गया और पक्षकार इस बात पर सहमत हुए कि भूमि 4,221 प्रति वर्ग फुट की दर से बेची जाएगी तथा 1,13,58,711/- रुपए के प्रतिफल के लिए सौदा किया गया, जिसमें से शिकायतकर्ता को भूखंड सं. 56 के लिए 11 लाख रुपए की रकम नकद दे दी गई । जब चर्चा हो रही थी तब द्वितीय और तृतीय अपीलार्थियों द्वारा यह अनुरोध किया गया कि चूंकि मुख्तारनामा पुराना और पढ़ने योग्य नहीं है, इसलिए सभी भूखंड-धारियों द्वारा अपनी-अपनी पासपोर्ट आकार की फोटो दी जाए । तद्नुसार, एक दस्तावेज़ लेखबद्ध किया गया जिसके द्वारा यह सहमति हुई कि भूखंड सं. 56 का विक्रय संव्यवहार संपूर्ण संदाय करने पर दो माह के भीतर पूर्ण किया जाएगा । शिकायतकर्ता के अनुसार, जब उसने द्वितीय और तृतीय अपीलार्थियों से भूखंड की शेष रकम की मांग की तो द्वितीय अपीलार्थी ने उसे छह भाइयों के नाम में छह-छह लाख रुपए के सात चेक दिए (एक भाई को दो चेक दिए गए थे) । उसके पश्चात् जब शिकायतकर्ता ने क्रेताओं से शेष बची रकम के संदाय के लिए कहा तो शिकायतकर्ता को भूमि का जबरदस्ती अंतरण कराने की धमकी दी गई । जब वह शिकायत दर्ज करने के लगभग तीन दिन पहले उप रजिस्ट्रार के कार्यालय में गया, तो उसे पता चला कि एक विक्रय विलेख न केवल प्रश्नगत भूखंड (जिसे बेचने के लिए सहमति हुई थी) की बाबत अपितु भूखंड सं. 45 से 55 की बाबत भी तारीख 27 जनवरी, 2016 को रजिस्ट्रीकृत किया गया है । इसके पश्चात् शिकायतकर्ता को यह पता चला कि विक्रय विलेख में क्रेता को जयेश अरविंदभाई पटेल, चतुर्थ अपीलार्थी के रूप में दिखाया गया है और साथ में अपीलार्थी जीतूदान नानकुदान गादवी, निवासी पायलनगर सोसाइटी, नारोदा, अहमदाबाद का नाम मुख्तारनामा धारक के रूप में दिखाया गया है । रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के साक्षी पंचम अपीलार्थी राबड़ी हितेशभाई और छठा अपीलार्थी पटेल इन्द्रवदन दिनेशभाई थे । शिकायतकर्ता को यह पता चलने पर कि उसके भाई-बहिनों के नाम के मुख्तारनामे की कूटरचना की गई है, इसकी शिकायत दर्ज कराई गई । शिकायतकर्ता ने यह उल्लेख किया कि न तो उसने और न ही उसके किसी भाई-बहिन ने सातवें अपीलार्थी के पक्ष में मुख्तारनामा दिया था और किसी प्रकार के न्यायिक या गैर-न्यायिक स्टांप

भी नहीं खरीदे थे । अपीलार्थियों ने अपने विरुद्ध दर्ज शिकायत/प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को इस आधार पर अभिखंडित कराने के लिए कि पक्षकारों में विवाद के संबंध में समझौता हो गया है, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय में आवेदन फाइल किया । उच्च न्यायालय द्वारा आवेदन नामंजूर कर दिया गया । अपीलार्थियों ने व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 एक अध्यारोही उपबंध से आरंभ होती है । कानून में उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति को, उच्चतम न्यायालय के रूप में, ऐसे आदेश करने के लिए व्यावृत्त किया गया है जो (i) किसी न्यायालय की कार्यवाही के दुरुपयोग को निवारित करने, या (ii) किसी अन्य प्रकार से न्याय के उद्देश्यों की प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक हो । उच्च न्यायालय ने अपनी अंतर्निहित अधिकारिता का प्रयोग करते हुए प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने के लिए आवेदन को ग्रहण न करके न्यायोचित किया है । उच्च न्यायालय ने दो महत्वपूर्ण परिस्थितियों का उल्लेख किया है । उनमें से प्रत्येक का इस बात से सरोकार है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिखंडित करने के लिए धारा 482 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करना न्याय के उद्देश्यों को अग्रसर करने या उनकी प्राप्ति सुनिश्चित करने या न्यायालय की प्रक्रिया के दुरुपयोग को निवारित करने के लिए सहायक होगा या नहीं । पहली परिस्थिति यह है कि अपीलार्थी भगौड़े हो गए थे और उनके विरुद्ध दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अधीन वारंट जारी किए गए थे । दूसरी यह है कि अपीलार्थियों की आपराधिक पृष्ठभूमि है । उच्च न्यायालय ने उस कार्य-प्रणाली का उल्लेख किया है जो अपीलार्थियों द्वारा भूमि के मूल्यवान टुकड़ों को हड़पने के लिए अपनाई गई थी और यह पाया कि पूर्व में भी वे अभिकथित रूप से मिथ्या बैंक खाते खोलने के ऐसे घृणित क्रियाकलापों में संलिप्त पाए गए हैं । मामले को इस प्रकार दृष्टिगत करते हुए ही उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि उद्दापन, कूटरचना और षड्यंत्र से अंतर्वलित मामले में जहां सभी अपीलार्थी एक दल के रूप में कार्य कर रहे थे, वहां प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को इस आधार पर अभिखंडित करना कि शिकायतकर्ता के साथ समझौता हो गया है, समाज के हित में नहीं है । प्रस्तुत मामला, जैसा कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से प्रदर्शित होता है, ऐसा मामला नहीं है जिसमें मुकदमा लड़ रहे केवल दो

पक्षकारों के बीच किसी भूमि संव्यवहार को लेकर कोई प्राइवेट विवाद अंतर्वलित हो । मामले में उद्दापन, कूटरचना और दस्तावेज़ों को गढ़ने, पंजीकरण अधिकारियों के समक्ष हक का अंतरण कराने के लिए गढ़े हुए दस्तावेज़ों का उपयोग करने और गढ़े हुए मुख्तारनामा के आधार पर शिकायतकर्ता को भूमि में उसके हित से वंचित करने के अभिकथन अंतर्वलित हैं । यदि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में के अभिकथनों का वैसा ही अर्थान्वयन किया जाए जैसे वे हैं, तो यह स्पष्ट होता है कि वे गंभीर अपराधों में आलिप्त करते हैं जिनका सरोकार भूमि में हक या हित की सत्यनिष्ठा सुनिश्चित करने के लिए महत्वपूर्ण सामाजिक हित से है । इन परिस्थितियों में, उच्च न्यायालय ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को, जो दंड संहिता की धारा 384, 467, 468, 471, 120ख और 506(2) के अधीन रजिस्ट्रीकृत की गई थी, अभिखंडित करने से इनकार करके उत्कृष्ट रूप से न्यायोचित किया है । (पैरा 10 और 16)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[2016]	(2016) 1 एस. सी. सी. 389 : **केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो** बनाम **मनिंदर सिंह** ;	13
[2016]	(2016) 1 एस. सी. सी. 376 : **तमिलनाडु राज्य** बनाम **आर. वसंथी स्टनले** ;	14
[2014]	(2014) 15 एस. सी. सी. 29 : **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **विक्रम अनंतराय दोशी** ।	12

निर्दिष्ट निर्णय

[2014]	(2014) 6 एस. सी. सी. 466 : **नरिन्द्र सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** ;	8
[2012]	(2012) 10 एस. सी. सी. 303 : **ज्ञान सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** ।	8

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2017 की दांडिक अपील सं. 1723.

2016 के दांडिक प्रकीर्ण आवेदन सं. 30903 में गुजरात उच्च न्यायालय, अहमदाबाद के तारीख 25 नवंबर, 2016 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से	सर्वश्री रक्तिम गोगोई, कार्तिकेय सिंह, (सुश्री) आस्था मेहता और अनुपम लाल दास
प्रत्यर्थियों की ओर से	सुश्री हेमंतिका वाही, जेसल वाही, ममता सिंह, शोधिका शर्मा, सर्वश्री अशोक आनन्द, राकेश कुमार सिंह, सोमंथा पाधन और (सुश्री) आस्था मेहता

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति (डा.) डी. वाई. चंद्रचूड़ ने दिया ।

न्या. (डा.) चंद्रचूड़ – इजाजत दी जाती है ।

2. गुजरात उच्च न्यायालय ने 25 नवंबर, 2016 के अपने निर्णय द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन एक आवेदन खारिज किया था । अपीलार्थियों ने पुलिस थाना, शहर "ग" प्रभाग, जिला जामनगर, गुजरात में दंड संहिता की धारा 384, 467, 468, 471, 120ख और 506(2) के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए उनके विरुद्ध तारीख 18 जून, 2016 को रजिस्ट्रीकृत एक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने की ईप्सा की थी ।

3. द्वितीय प्रत्यर्थी ने तारीख 18 जून, 2016 की अपनी शिकायत में यह उल्लेख किया कि जामनगर शहर में पन्ना खान गोकुल नगर के सर्वेक्षण सं. 1408 में समाविष्ट 17 बीघा माप की कतिपय भूमि उसकी पैतृक कृषि भूमि थी । इस भूमि को जिला कलक्टर के आदेशों के अनुसरण में तारीख 21 जून, 1995 और 5 जनवरी, 2000 को गैर-कृषि उपयोग में परिवर्तित किया गया था । इस भूमि के एक सौ तीन भूखंड काटे गए थे । उनमें से 32,696 वर्ग फुट माप के भूखंड सं. 45 से 56 छह भाइयों और एक बहिन (जिनका प्रतिनिधित्व शिकायतकर्ता द्वारा किया गया है) के संयुक्त नाम में थे । शिकायतकर्ता के अनुसार, बच्छुभाई वेलजीभाई नंदा नामक एक दलाल प्रथम अपीलार्थी, प्रभातभाई अहीर के साथ उसके पास आया और यह कहा कि वह भूमि क्रय करने का इच्छुक है । अगले दिन प्रथम अपीलार्थी अपने भागीदार हसमुखभाई पटेल (तृतीय अपीलार्थी) के साथ भूमि क्रय करने के लिए शिकायतकर्ता के पास आया । शिकायतकर्ता से भूखंड की अभिन्यास योजना (ले-आउट प्लान) की फोटोप्रति देने का अनुरोध किया, जो उसने उसे दे दी । यह अभिकथन

किया गया है कि अगले दिन प्रथम अपीलार्थी द्वितीय और तृतीय अपीलार्थियों के साथ शिकायतकर्ता के मकान पर गया और उस सुसंगत समय पर पक्षकार इस बात पर सहमत हुए कि भूमि 4,221 प्रति वर्ग फुट की दर से बेची जाएगी तथा 1,13,58,711/- रुपए के प्रतिफल के लिए सौदा किया गया, जिसमें से शिकायतकर्ता को भूखंड सं. 56 के लिए 11 लाख रुपए की रकम नकद दी गई । शिकायतकर्ता का पक्षकथन यह है कि जब चर्चा हो रही थी तब द्वितीय और तृतीय अपीलार्थियों द्वारा यह अनुरोध किया गया था कि चूंकि मुख्तारनामा पुराना और पढ़ने योग्य नहीं है, इसलिए सभी भूखंड-धारियों द्वारा अपनी-अपनी पासपोर्ट आकार की फोटो दी जाए । तद्नुसार, एक दस्तावेज़ लेखबद्ध किया गया जिसके द्वारा यह सहमति हुई कि भूखंड सं. 56 का विक्रय संव्यवहार संपूर्ण संदाय करने पर दो माह के भीतर पूर्ण किया जाएगा । शिकायतकर्ता के अनुसार, जब उसने द्वितीय और तृतीय अपीलार्थियों से भूखंड की शेष रकम की मांग की तो द्वितीय अपीलार्थी ने उसे छह भाइयों के नाम में छह-छह लाख रुपए के सात चेक दिए (एक भाई को दो चेक दिए गए थे) । उसके पश्चात् जब शिकायतकर्ता ने क्रेताओं से शेष रकम के संदाय के लिए कहा तो शिकायतकर्ता को भूमि का जबरदस्ती अंतरण कराने की धमकी दी गई । शिकायतकर्ता के अनुसार, जब वह शिकायत दर्ज करने के लगभग तीन दिन पहले उप रजिस्ट्रार के कार्यालय में गया, तो उसे पता चला कि एक विक्रय विलेख न केवल प्रश्नगत भूखंड (जिसे बेचने के लिए सहमति हुई थी) की बाबत अपितु भूखंड सं. 45 से 55 की बाबत भी तारीख 27 जनवरी, 2016 को रजिस्ट्रीकृत किया गया है । इसके पश्चात् शिकायतकर्ता को यह पता चला कि विक्रय विलेख में क्रेता को जयेश अरविंदभाई पटेल, चतुर्थ अपीलार्थी के रूप में दिखाया गया है और साथ में अपीलार्थी जीतूदान नानकुदान गादवी, निवासी पायलनगर सोसाइटी, नारोदा, अहमदाबाद का नाम मुख्तारनामा धारक के रूप में दिखाया गया है । रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के साक्षी पंचम अपीलार्थी राबड़ी हितेशभाई और छठा अपीलार्थी पटेल इन्द्रवदन दिनेशभाई थे ।

4. शिकायतकर्ता को यह पता चलने पर कि उसके भाई-बहिनों के नाम के मुख्तारनामे की कूटरचना की गई है, इसकी शिकायत दर्ज कराई गई । शिकायतकर्ता ने यह उल्लेख किया कि न तो उसने और न ही उसके किसी भाई-बहिन ने सातवें अपीलार्थी के पक्ष में मुख्तारनामा दिया था । शिकायतकर्ता के अनुसार, उसके द्वारा न तो तारीख 25 जनवरी, 2016 को 10,30,000/- रुपए के न्यायिकेतर स्टाम्प और न ही तारीख 27

जनवरी, 2016 को न्यायिक स्टाम्प खरीदे गए थे । शिकायतकर्ता के अनुसार वास्तव में चतुर्थ अपीलार्थी ने ही तारीख 27 जनवरी, 2016 को न्यायिक स्टाम्प खरीदे थे ।

5. शिकायत के अनुसार 30,005 वर्ग फुट के भूखंड सं. 45 से 55 का मूल्य 12.50 करोड़ रुपए है । यह अभिकथन किया गया है कि अपीलार्थियों और अन्य सह-अभियुक्तों द्वारा षड्यंत्र किया गया था, जिसके परिणामस्वरूप शिकायतकर्ता और उसके भाई-बहिनों की मूल्यवान भूमि का कूटरचित दस्तावेजों के आधार पर अंतरण किया गया था ।

6. उच्च न्यायालय ने यह उल्लेख किया है कि चौथे अपीलार्थी ने 2016 का विशेष दांडिक आवेदन सं. 4538 फाइल किया था, जिसे उच्च न्यायालय की समन्वय न्यायपीठ द्वारा तारीख 3 अगस्त, 2016 को नामंजूर कर दिया गया था । उच्च न्यायालय ने धारा 482 के अधीन पूर्ववर्ती आवेदन को नामंजूर करते हुए यह मत व्यक्त किया था :–

> "19. शिकायत से प्रकट प्राथमिक ब्यौरों ने इस न्यायालय को अन्वेषण के कागजातों की परीक्षा करने के लिए प्रेरित किया । अब तक एकत्रित साक्ष्य से प्रथमदृष्ट्या याची की अंतर्ग्रस्तता प्रकट होती है । यह न्यायालय इस बात की भी अवेक्षा कर सकता है कि यह ऐसा मामला है जहां शिकायतकर्ता और उसके परिवार के सदस्यों से केवल एक विशिष्ट भूखंड सं. 56 खरीदने के बहाने लगभग 10 अन्य ऐसे भूखंडों को एक-दूसरे के साथ अभिकथित रूप से मौनानुकूलता करके हड़पने के लिए मुख्तारनामे की कूटरचना की गई है जिनका मूल्य लगभग 11 करोड़ और उससे अधिक है, और इसलिए शिकायतकर्ता को भूखंडों में से एक के संबंध में चैकों द्वारा किया गया 42 लाख रुपए का संदाय भी अमहत्वपूर्ण हो जाता है । इस मामले को, किसी भी प्रकार से, यहां तक कि प्रथमदृष्ट्या स्तर पर भी, आपराधिकता का आभास दिया गया एक सिविल विवाद नहीं कहा जा सकता है । इस प्रक्रम पर कोई चलती-फिरती जांच न करना और ऐसा कोई रहस्योद्घाटन न करना, जिससे चल रहे अन्वेषण पर प्रभाव पड़े, यह दोनों पक्षों और इस न्यायालय के हित में होगा । यह कहना पर्याप्त होगा कि यह याचिका ग्रहण किए जाने योग्य नहीं है और इसे नामंजूर किया जाता है ।"

उच्च न्यायालय के समक्ष प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिखंडित करने के

लिए अभिवाक् इस आधार पर किया गया था कि अपीलार्थियों ने शिकायतकर्ता के साथ सौहार्दपूर्ण रूप से विवाद का निपटारा कर लिया है । शिकायतकर्ता ने भी इस आशय के लिए एक शपथपत्र फाइल किया था ।

7. अभियोजन पक्ष की ओर से लोक अभियोजक ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने के लिए आवेदन का दो आधारों पर विरोध किया । प्रथम-अपीलार्थी भगौड़े हो गए थे और उनके विरुद्ध दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 70 के अधीन वारंट जारी किए गए थे । द्वितीय-अपीलार्थियों की आपराधिक पृष्ठभूमि है, जिनका ब्यौरा उच्च न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत निम्नलिखित तालिका में अंतर्विष्ट है :–

1.	प्रभातभाई भीमसिंहभाई करमूर	क. सिटी "ए" डिवीजन जामनगर, सी. आर. सं. 1-251/2010	पी. 1
2.	रामदे भीखा नंदानिया	क. सिटी "ए" डिवीजन जामनगर, सी. आर. सं. 1-135/2016 ख. सिटी "ए" डिवीजन जामनगर, सी. आर. सं. 1-105/2016 ग. सिटी "ए" डिवीजन जामनगर, सी. आर. सं. 1-251/2010	पी. 2 2 2
3.	हसमुख हंसराजभाई पटेल	क. गांधीनगर एम-केस सं. 1/2014 ख. सिटी "ए" डिवीजन जामनगर, सी. आर. सं. 1-105/2016	पी. 3
4.	इंद्रावदन दिनेशभाई पटेल	क. सिटी "ए" डिवीजन जामनगर, सी. आर. सं. 1-105/2016	पी. 6

5.	जितेंद्रा सोमाभाई मोदी	क. सिटी "ए" डिवीजन जामनगर, सी. आर. सं. 1-105/2016 ख. ऊधव पुलिस थाना सी. आर. सं. 1-180/2015	पी. 7
6.	विष्णु **उर्फ** टोटो राबड़ी	क. गांधीनगर एम-केस सं. 1/2014 ख. सिटी "ए" डिवीजन जामनगर, सी. आर. सं. 1-105/2016	

उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि भूमि हड़पने के लिए अपीलार्थियों द्वारा अपनाई गई कार्यप्रणाली के बारे में "एक उचित विचार" दिया गया है, जिसके अनुक्रम में उन्होंने मिथ्या बैंक खाते खोले थे । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि इस मामले में उद्दापन, कूटरचना और षड्यंत्र अंतर्वलित है और सभी अपीलार्थियों ने एक दल के रूप में कार्य किया है । इसलिए उच्च न्यायालय के मत में, समझौते को स्वीकार करना और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करना संपूर्ण समाज के हित में नहीं है । उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि आरोप गंभीर प्रकृति के हैं और अपीलार्थियों के कार्यकलाप ऐसे हैं कि उनसे समाज को पर्याप्त खतरा है । इस आधार पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिखंडित करने का अनुरोध नामंजूर किया गया है ।

8. अपीलार्थियों की ओर से **ज्ञान सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[1] और **नरिन्द्र सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[2] वाले मामलों में इस न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चयों का अवलंब लिया गया है । विद्वान् काउंसेल ने यह निवेदन किया कि शिकायतकर्ता और अपीलार्थियों के बीच विवाद भूमि के विक्रय के लिए एक संव्यवहार से उद्भूत हुआ था । यह तर्क दिया गया कि विवाद आवश्यक रूप से एक सिविल प्रकृति का है और चूंकि पक्षकार सौहार्दपूर्ण समझौते के लिए सहमत हो गए थे इसलिए उच्च न्यायालय के लिए उचित

[1] (2012) 10 एस. सी. सी. 303.
[2] (2014) 6 एस. सी. सी. 466.

प्रक्रिया यह थी कि वह दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 द्वारा प्रदत्त अधिकारिता का प्रयोग करते हुए प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित कर देता ।

9. दूसरी ओर राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने उच्च न्यायालय के निर्णय का समर्थन किया । विद्वान् काउंसेल ने उन परिस्थितियों पर बल दिया, जिन पर उच्च न्यायालय ने विचार किया था, जिनमें (i) अभिकथनों की गंभीरता, (ii) अपीलार्थियों का आचरण जो भगौड़े हो गए थे, और (iii) अपीलार्थियों की आपराधिक पृष्ठभूमि सम्मिलित हैं । इसलिए यह तर्क दिया गया कि अपीलार्थी केवल इस कारण कि उनका शिकायतकर्ता के साथ समझौता हो गया है, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिखंडित करने के अनुतोष के लिए हकदार नहीं हैं ।

10. धारा 482 एक अध्यारोही उपबंध से आरंभ होती है । कानून में उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति को, उच्चतम न्यायालय के रूप में, ऐसे आदेश करने के लिए व्यावृत्त किया गया है जो (i) किसी न्यायालय की कार्यवाही के दुरुपयोग को निवारित करने, या (ii) किसी अन्य प्रकार से न्याय के उद्देश्यों की प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक हो । **ज्ञान सिंह** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने इस विषय पर पूर्ववर्ती निर्णयों पर विचार किया और वे मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित किए, जिन पर उच्च न्यायालय को यह अवधारण करते हुए विचार करना चाहिए कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या शिकायत को अंतर्निहित अधिकारिता का प्रयोग करते हुए अभिखंडित किया जाए या नहीं । उच्च न्यायालय को जिन बातों पर अवश्य विचार करना चाहिए, वे हैं :–

> "61...... उच्च न्यायालय की किसी दांडिक कार्यवाही या प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या शिकायत को अपनी अंतर्निहित अधिकारिता का प्रयोग करते हुए अभिखंडित करने की शक्ति संहिता की धारा 320 के अधीन अपराधों को शमन करने के लिए दांडिक न्यायालय को दी गई शक्ति से सुभिन्न और अलग है । यह अंतर्निहित शक्ति अति व्यापक है और इस पर कोई कानूनी परिसीमा नहीं है, किंतु इसका प्रयोग उस शक्ति में सम्मिलित दिशा-निर्देश के अनुरूप अर्थात् (i) न्याय के उद्देश्यों की प्राप्ति सुनिश्चित करने, या (ii) किसी न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग निवारित करने के लिए किया जाना चाहिए । जहां अपराधी और आहत ने अपने विवाद का निपटारा

कर लिया है, ऐसे किन मामलों में दांडिक कार्यवाही या शिकायत या प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित किया जा सकेगा, यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करेगा और कोई प्रवर्ग विहित नहीं किया जा सकता है । तथापि, उच्च न्यायालय को ऐसी शक्ति का प्रयोग करने से पूर्व अपराध की प्रकृति और गंभीरता को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए । मानसिक दुर्दांतता के जघन्य और गंभीर अपराधों या हत्या, बलात्संग, डकैती आदि जैसे अपराधों को अभिखंडित करना उचित नहीं कहा जा सकता है भले ही आहत या आहत के परिवार तथा अपराधी ने विवाद का निपटारा कर लिया हो । ऐसे अपराध प्राइवेट प्रकृति के नहीं होते हैं और इनका समाज पर गंभीर असर पड़ता है । इसी प्रकार, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम जैसे विशेष कानूनों के अधीन आने वाले अपराधों या लोक सेवकों द्वारा उस हैसियत में कार्य करते समय किए गए अपराधों के संबंध में आहत और अपराधी के बीच हुआ कोई समझौता ऐसे अपराधों से अतंर्वलित दांडिक कार्यवाहियों को अभिखंडित करने के लिए कोई आधार उपलब्ध नहीं करा सकता है किंतु ऐसे दांडिक मामले जिनमें प्रधानतः और प्रबलतया सिविल प्रकृति का होने की विशिष्टता होती है, विशिष्ट रूप से ऐसे अपराध जो व्यवसायिक, वित्तीय, वाणिज्यिक, सिविल, भागीदारी या ऐसे ही संव्यवहारों से उद्भूत अपराध या दहेज से संबंधित कौटुम्बिक विवादों से उद्भूत अपराध जहां अपराध की प्रकृति मूलभूत रूप से प्राइवेट या व्यक्तिगत है और पक्षकारों ने अपने संपूर्ण विवाद का निपटारा कर लिया है, अभिखंडित करने के प्रयोजन के लिए एक भिन्न आधार पर टिके होते हैं । इस प्रवर्ग के मामलों में उच्च न्यायालय दांडिक कार्यवाही को अभिखंडित कर सकता है यदि उसके मत में अपराधी और आहत के बीच हुए समझौते के कारण दोषसिद्धि की संभाव्यता दुरस्थ और बहुत कम है तथा दांडिक मामले के जारी रहने से अभियुक्त को अत्यधिक पीड़ा सहन करनी पड़ेगी और उस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा तथा आहत के साथ सुलह और समझौता होने के बावजूद दांडिक मामले को अभिखंडित न करने से उसके साथ अत्यधिक अन्याय होगा । दूसरे शब्दों में, उच्च न्यायालय को अवश्य ही इस बात पर विचार करना चाहिए कि क्या आहत और अपराधी के बीच सुलह और समझौता होने के बावजूद दांडिक कार्यवाही को जारी रखना अनुचित और न्याय के हित के प्रतिकूल होगा या दांडिक कार्यवाही का जारी रहना विधि की प्रक्रिया के

दुरुपयोग की कोटि में आता है और क्या न्याय के उद्देश्य की प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए उचित है कि दांडिक मामले को बंद कर दिया जाए और यदि उपरोक्त प्रश्न (प्रश्नों) का उत्तर सकारात्मक है, तो उच्च न्यायालय का दांडिक कार्यवाही को अभिखंडित करने का कार्य उचित रूप से उसकी अधिकारिता के भीतर आएगा ।"

11. **नरिन्द्र सिंह** (उपर्युक्त) वाले मामले में न्यायमूर्ति (डा.) ए. के. सीकरी ने इस न्यायालय के दो विद्वान् न्यायाधीशों की न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए यह मत व्यक्त किया कि समाज के विरुद्ध अपराधों की बाबत राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपराधी को दंडित करे । परिणामस्वरूप, भयोपरतिकारिता अपराधी को दंडित करने के लिए तर्क-आधार प्रस्तुत करती है । इसलिए यदि जब कोई समझौता हो जाता है तो अपराधी और आहत का दृष्टिकोण अभिभावी नहीं होगा चूंकि यह समाज के हित में है कि अन्य व्यक्तियों को कोई उसी प्रकार का अपराध कारित करने से रोकने के लिए अपराधी को दंडित किया जाना चाहिए । दूसरी ओर, ऐसे प्रवर्ग में आने वाले अपराध भी हो सकते हैं जहां भयोपरतिकारिता के सिद्धांत की बजाय दांडिक विधि के सुधारात्मक उद्देश्य को अधिक अधिमान दिया जाना चाहिए । ऐसे मामले में न्यायालय की यह राय हो सकती है कि पक्षकारों के बीच समझौता होने से उनके बीच संबंध बेहतर होंगे और कटुतापूर्ण प्राइवेट विवाद का निपटारा होगा । न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि समझौता होने का समय यह अवधारण करने में महत्व रखता है कि धारा 482 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग किया जाए या नहीं :–

"29.7 ..... उन मामलों में जहां समझौता अभिकथित अपराध के कारित होने के ठीक पश्चात् होता है और मामला अभी भी अन्वेषणाधीन है, तो उच्च न्यायालय दांडिक कार्यवाहियों/अन्वेषण को अभिखंडित करने के लिए समझौते को स्वीकार करने में उदार हो सकता है । इसका कारण यह है कि इस प्रक्रम पर अभी अन्वेषण चल रहा होता है और आरोप पत्र भी फाइल नहीं किया जाता है । इसी प्रकार, वे मामले जहां आरोप विरचित हो जाता है किंतु साक्ष्य अभी आरंभ होना है या साक्ष्य अभी आरंभिक प्रक्रम पर है, तो उच्च न्यायालय अनुग्रहपूर्वक, किंतु ऊपर उल्लिखित परिस्थितियों और सामग्री का प्रथमदृष्ट्या निर्धारण करने के पश्चात्, अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए उदारता दिखा सकता है । दूसरी ओर, जहां

अभियोजन साक्ष्य लगभग पूर्ण हो चुका है या साक्ष्य के समापन के पश्चात् मामला बहस के प्रक्रम पर है, तो उच्च न्यायालय को प्रसामान्यतः संहिता की धारा 482 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करने से प्रविरत रहना चाहिए क्योंकि ऐसे मामलों में विचारण न्यायालय मामले का अंतिम रूप से गुणागुण के आधार पर विनिश्चय करने की स्थिति में होगा ... ।"

इस न्यायालय ने दंड संहिता की धारा 307 के अधीन अपराध पर विचार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिखंडित करने के लिए निम्नलिखित परिस्थितियों पर विचार किया जाना चाहिए :–

"33. हमने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का भी परिशीलन किया जो शिकायतकर्ता/आहत के कथन के आधार पर अभिलिखित की गई थी । इससे यह उपदर्शित होता है कि शिकायतकर्ता पर हमला अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा अभिकथित रूप से पक्षकारों के बीच कुछ पूर्ववर्ती विवाद के कारण किया गया था, यद्यपि विवाद आदि की प्रकृति का विस्तारपूर्वक उल्लेख नहीं है । तथापि, एक अति प्रासंगिक कथन अभिलेख पर प्रतीत होता है अर्थात् 'सम्मानित व्यक्ति अभी तक समझौता कराने की कोशिश कर रहे हैं, जो अंतिम रूप नहीं ले सका है' । यह एक महत्वपूर्ण पहलू बन जाता है । यह प्रतीत होता है कि कुछ विवाद चल रहे थे जिनको लेकर अभियुक्त द्वारा शिकायतकर्ता पर पूर्वोक्त तात्पर्यित हमला किया गया था । इस संदर्भ में जब हम यह पाते हैं कि सरपंच सहित गांव के बुजुर्गों ने मामले में मध्यक्षेप किया था और पक्षकारों ने न केवल अपने झगड़े को भुला दिया है अपितु भविष्य में शांतिपूर्वक रहने का विनिश्चय किया है, यह एक महत्वपूर्ण बात हो जाती है । न्यायालय में अभी साक्ष्य प्रस्तुत किया जाना है । यह अभी आरंभ भी नहीं हुआ है । पक्षकारों के बीच समझौते को देखते हुए साक्षियों का अभियोजन मामले के समर्थन में आगे आने की बहुत कम संभावना है । हालांकि क्षतियों की प्रकृति को अभी भी साक्षी के रूप में उस डाक्टर को पेश करके सिद्ध किया जा सकता है जिसने चिकित्सीय परीक्षण किया था, किंतु यह साबित करना कठिन हो सकता है कि किसने यह क्षतियां कारित की थीं । इसलिए दोषसिद्धि की संभावना दूरस्थ प्रतीत होती है । इसलिए इन कार्यवाहियों को खींचना अनावश्यक होगा ... ।"

12. **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **विक्रम अनंतराय दोशी**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के दो विद्वान् न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने उन पूर्ववर्ती विनिश्चयों और सिद्धांतों को स्पष्ट किया जो यह विनिश्चय करते समय अवश्य शासित होने चाहिएं कि क्या किसी अशमनकारी अपराध से अंतर्वलित दांडिक कार्यवाही अभिखंडित की जानी चाहिए या नहीं । उस मामले में, प्रत्यर्थियों ने अभिकथित रूप से एक बैंक से बनावटी इकाइयों के पक्ष में प्रत्यय-पत्र अभिप्राप्त किए थे । आरोप पत्र में दंड संहिता की धारा 120ख के साथ पठित धारा 406, 420, 467, 468 और 471 के अधीन किए गए अपराध अंतर्वलित थे । जाली फायदाग्राही कंपनियों ने अभिकथित रूप से गढ़ी हुई हुंडियां संलग्न करके उन पर बट्टा ले लिया था । न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा (जैसे कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति उस समय थे) ने इस बात पर बल दिया कि इस मामले में कूटरचना का अभिकथन अंतर्वलित है, इसलिए न्यायालय एक ऐसे साधारण मामले पर विचार नहीं कर रहा है जहां अभियुक्त ने "बैंक से धन इसका कहीं और अपयोजन करने के लिए उधार लिया हो" । न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि जिस रीति में प्रत्यय-पत्र जारी किए गए थे और निधियों को निकाला गया था, उसका दांडिक विधि में एक आधार है :–

> "...... किसी राष्ट्रीयकृत बैंक से ऐसी रीति में धन प्राप्त करना, जैसा कि अन्वेषक अभिकरण द्वारा अभिकथन किया गया है, सुस्पष्टतः आर्थिक अशुचिता और एक प्रकार से वित्तीय कपट को प्रदर्शित करता है । आरोप पत्र में यथा वर्णित कार्य-प्रणाली किसी व्यक्ति या व्यक्तिगत दोष का भाग नहीं कही जा सकती है । यह एक सामाजिक दोष है और इसका अत्यधिक समाज विषयक असर होता है । वित्तीय लेन-देन का यह एक स्वीकृत सिद्धांत है कि जब कभी कोई छलसाधन और चतुराईपूर्वक इस प्रकार के फायदे प्राप्त करने के लिए सोची-समझी युक्ति का प्रयोग होता है, तो इसे ऐसे मामले के रूप में नहीं समझा जा सकता है जिसका अत्यधिक और प्रबलतया सिविल स्वरूप हो । अंततोगत्वा आहत संपूर्ण समाज होता है । इससे समाज के वित्तीय हित पर संकट पैदा होता है । अपराध की गंभीरता राष्ट्र की आर्थिक रीढ़ को प्रतिकूल रूप से प्रभाव करती है ।"

अतः इस न्यायालय द्वारा दांडिक कार्यवाहियों को अभिखंडित करने वाले

---

[1] (2014) 15 एस. सी. सी. 29.

उच्च न्यायालय के निर्णय को अपास्त कर दिया गया था ।

13. **केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो** बनाम **मनिंदर सिंह**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा इसी सिद्धांत का अनुसरण किया गया था । उस मामले में उच्च न्यायालय ने 482 के अधीन अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग करते हुए दंड संहिता की धारा 120ख के साथ पठित धारा 420, 468 और 479 के अधीन दांडिक कार्यवाहियों को अभिखंडित कर दिया था । केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा फाइल की गई अपील को मंजूर करते हुए न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा (जैसे कि विद्वान् न्यायमूर्ति उस समय थे) ने यह मत व्यक्त किया कि इस मामले में बैंक की निधियों को हड़पने के लिए दस्तावेजों की कूटरचना करने के कथन अंतर्वलित हैं । ऐसी स्थिति में, यह तथ्य कि बैंक के साथ समझौता हो गया था, धारा 482 के अधीन प्रक्रिया को न्यायोचित नहीं कहा जाएगा :–

> "…. आर्थिक अपराधों में न्यायालय को केवल यह बात ही ध्यान में नहीं रखनी चाहिए कि बैंक को उस धन का संदाय कर दिया गया है जिसकी कपट-वंचना की गई थी । यह एक साधारण हमले या मामूली रकम की चोरी का मामला नहीं है, अपितु जिस अपराध से हमारा सरोकार है वह सुनियोजित है और सोच-समझकर संपूर्ण समाज पर पड़ने वाले प्रभाव को विचार में लाए बिना व्यक्तिगत फायदे को दृष्टि में रखकर कारित किया गया था । केवल इस आधार पर कार्यवाही विखंडित करना कि अभियुक्त ने बैंक के साथ रकम की बाबत समझौता कर लिया है, यह एक भ्रामक सहानुभूति होगी । यदि आर्थिक अपराधियों के विरुद्ध अभियोजन जारी रखने की अनुमति नहीं दी जाती है तो संपूर्ण समुदाय व्यथित होता है ।"

14. **तमिलनाडु राज्य** बनाम **आर. वसंथी स्टनले**[2] वाले मामले के पश्चात्वर्ती विनिश्चय में इस न्यायालय ने इस निवेदन को नामंजूर कर दिया था कि प्रथम प्रत्यर्थी एक स्त्री है "जो अपने पति के आदेश का पालन कर रही थी" और कतिपय दस्तावेज़ों पर हस्ताक्षर उस कपट की प्रकृति से अभिज्ञ हुए बिना किए थे जो बैंक के साथ किया जा रहा था । इस न्यायालय ने इस निवेदन को नामंजूर करते हुए यह अभिनिर्धारित किया :–

---

[1] (2016) 1 एस. सी. सी. 389.

[2] (2016) 1 एस. सी. सी. 376.

"..... जानकारी, ज्ञान या आशय की कमी की बात पर आर्थिक अपराधों में न तो विचार किया जाना चाहिए और न ही इसे स्वीकार किया जाना चाहिए । लिंग की बात के आधार पर जोरदार रूप से दी गई दलील से हम प्रभावित नहीं है । दांडिक विधि के अधीन कोई अपराध एक अपराध है और यह अभियुक्त के लिंग पर निर्भर नहीं करता । यह सत्य है कि दंड प्रक्रिया संहिता में धारा 437 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने से संबंधित इसमें कतिपय उपबंध हैं किंतु वे पूरी तरह से एक भिन्न क्षेत्र से संबंधित है । हत्या करने वाला या किसी वित्तीय घोटाले या दस्तावेजों की कूटरचना में अंतर्वलित कोई व्यक्ति स्त्री लिंग के आधार पर उन्मोचन या दोषमुक्ति का दावा नहीं कर सकता है । क्योंकि यह न तो सांविधानिक और न ही कानूनी रूप से एक विधिमान्य तर्क है । इस मामले में अपराध तटस्थ लिंग है । हम इस निमित्त और अधिक नहीं कहेंगे...।"

"..... घोर दांडिक अपराध या गंभीर आर्थिक अपराध या इस विषय के लिए ऐसा अपराध जिससे संस्थाओं की वित्तीय अवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना है, उसे इस आधार पर कि विचारण में विलंब हुआ है या इस सिद्धांत पर अभिखंडित नहीं किया जाना चाहिए कि मामले का निपटारा हो गया है इसलिए व्यवस्था पर पड़ने वाले बोझ से बचने के लिए इसे अभिखंडित किया जाना चाहिए ... ।"

15. इस विषय पर पूर्ववर्ती निर्णयों से प्रकट व्यापक सिद्धांतों का निम्नलिखित प्रतिपादनाओं में सारगर्भित रूप से उल्लेख किया जा सकता है :–

(i) धारा 482 में किसी न्यायालय की कार्यवाही के दुरुपयोग को निवारित करने या न्याय के उद्देश्यों की प्राप्ति को सुनिश्चित करने के लिए उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों को परिरक्षित किया गया है ;

(ii) किसी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या दांडिक कार्यवाही को इस आधार पर कि अपराधियों और आहत के बीच समझौता हो गया है, अभिखंडित करने की उच्च न्यायालय की अधिकारिता का अवलंब वैसा नहीं है जैसा कि अपराध का शमन करने के प्रयोजन के लिए अधिकारिता का अवलंब लिया जाता है । अपराध का शमन करते

समय न्यायालय की शक्ति दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 320 के उपबंधों द्वारा शासित होती है । भले ही अपराध अशमनीय हो तब भी धारा 482 के अधीन अभिखंडित करने की शक्ति लागू होती है ;

(iii) उच्च न्यायालय को यह राय बनाने में कि क्या किसी दांडिक कार्यवाही या शिकायत को धारा 482 के अधीन अपनी अधिकारिता का प्रयोग करते हुए अभिखंडित किया जाए या नहीं, इस बात का मूल्यांकन करना चाहिए कि क्या न्याय की प्राप्ति के लिए अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग करना न्यायोचित होगा ;

(iv) जबकि उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति की परिधि और व्याप्ति व्यापक है, फिर भी इसका प्रयोग (i) न्याय के उद्देश्यों की प्राप्ति को सुनिश्चित करने या (ii) किसी न्यायालय की कार्यवाही के दुरुपयोग को निवारित करने के लिए किया जाना चाहिए ;

(v) यह विनिश्चय कि क्या किसी शिकायत या प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को इस आधार पर अभिखंडित किया जाए या नहीं कि अपराधी और आहत ने विवाद का निपटारा कर लिया है, अंततोगत्वा यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करेगा और विस्तारपूर्वक सर्वांगीण सिद्धांत प्रतिपादित नहीं किए जा सकते हैं ;

(vi) धारा 482 के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए और इस अभिवाक् पर विचार करते समय कि विवाद का निपटारा कर लिया गया है, उच्च न्यायालय को अपराध की प्रकृति और गंभीरता को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए । हत्या, बलात्संग और डकैती जैसे मानसिक दुर्दांतता से अंतर्वलित जघन्य और गंभीर अपराधों को समुचित रूप से अभिखंडित नहीं किया जा सकता है, भले ही आहत या आहत के परिवार ने विवाद का निपटारा कर लिया हो । वास्तव में, ऐसे अपराधों की प्रकृति प्राइवेट नहीं होती है अपितु इनका समाज पर गंभीर असर पड़ता है । ऐसे मामलों में विचारण को जारी रखने का विनिश्चय लोक हित के इस अभिभावी तत्व पर आधारित है कि गंभीर अपराधों के लिए व्यक्तियों को दंडित करना चाहिए ;

(vii) गंभीर अपराधों से सुभिन्न ऐसे दांडिक मामले हो सकते हैं जिनमें सिविल विवाद के अत्यधिक या प्रबल तत्व हों । जहां तक अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग करते हुए इन्हें अभिखंडित करने का संबंध है, वे एक सुभिन्न आधार पर टिके होते हैं ;

(viii) ऐसे दांडिक मामले, जिनमें ऐसे अपराध अंतर्वलित होते हैं जो व्यवसायिक, वित्तीय, वाणिज्यिक, भागीदारी या इसी प्रकार के संव्यवहारों से उद्भूत होते हैं जिनमें आवश्यक रूप से सिविल विशिष्टता हो, उन्हें समुचित स्थितियों में अभिखंडित किया जा सकता है जहां पक्षकारों ने विवाद का निपटारा कर लिया हो ;

(ix) ऐसे किसी मामले में उच्च न्यायालय दांडिक कार्यवाही को अभिखंडित कर सकता है यदि विवादियों के बीच हुए समझौते को देखते हुए दोषसिद्धि की संभाव्यता दूरस्थ है और दांडिक कार्यवाही जारी रहने से उत्पीड़न कारित होगा और प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा ; और

(x) ऊपर प्रतिपादना (viii) और (ix) में उपवर्णित सिद्धांत का फिर भी एक अपवाद है । ऐसे आर्थिक अपराध जिनमें राज्य की वित्तीय और आर्थिक भलाई से अंतर्वलित हो, उनमें ऐसे निहितार्थ हो सकते हैं जो प्राइवेट विवादियों के बीच मात्र एक विवाद के विषय से परे हों । जहां अपराधी किसी वित्तीय या आर्थिक कपट या दुराचरण से संबंधित कार्यकलाप में अंतर्वलित है, वहां उच्च न्यायालय के लिए कार्यवाही को अभिखंडित करने से इनकार करना न्यायोचित होगा । वित्तीय या आर्थिक व्यवस्था पर शिकायत किए गए कार्य के परिणाम पर संतुलित रूप से विचार किया जाएगा ।

16. उपरोक्त सिद्धांतों को, जो इस न्यायालय के विनिश्चयों में अधिकथित किए गए हैं, ध्यान में रखते हुए हमारा यह मत है कि उच्च न्यायालय ने अपनी अंतर्निहित अधिकारिता का प्रयोग करते हुए प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने के लिए आवेदन को ग्रहण न करके न्यायोचित किया है । उच्च न्यायालय ने दो महत्वपूर्ण परिस्थितियों का उल्लेख किया है । उनमें से प्रत्येक का इस बात से सरोकार है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिखंडित करने के लिए धारा 482 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करना न्याय के उद्देश्यों को अग्रसर करने या उनकी प्राप्ति सुनिश्चित करने या न्यायालय की प्रक्रिया के दुरुपयोग को निवारित करने के लिए सहायक होगा या नहीं । पहली परिस्थिति यह है कि अपीलार्थी भगौड़े हो गए थे और उनके विरुद्ध दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अधीन वारंट जारी किए गए थे । दूसरी यह है कि अपीलार्थियों की आपराधिक पृष्ठभूमि है जो उस तालिका से प्रतिबिंबित होती है जिसे इस निर्णय के पूर्ववर्ती भाग में उद्धृत किया गया है । उच्च न्यायालय ने उस कार्य-प्रणाली

का उल्लेख किया है जो अपीलार्थियों द्वारा भूमि के मूल्यवान टुकड़ों को हड़पने के लिए अपनाई गई थी और यह पाया कि पूर्व में भी वे अभिकथित रूप से मिथ्या बैंक खाते खोलने के ऐसे घृणित क्रियाकलापों में संलिप्त पाए गए हैं । मामले को इस प्रकार दृष्टिगत करते हुए ही उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि उद्दापन, कूट रचना और षड्यंत्र से अंतर्वलित मामले में जहां सभी अपीलार्थी एक दल के रूप में कार्य कर रहे थे, वहां प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को इस आधार पर अभिखंडित करना कि शिकायतकर्ता के साथ समझौता हो गया है, समाज के हित में नहीं है । प्रस्तुत मामला, जैसा कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से प्रदर्शित होता है, ऐसा मामला नहीं है जिसमें मुकदमा लड़ रहे केवल दो पक्षकारों के बीच किसी भूमि संव्यवहार को लेकर कोई प्राइवेट विवाद अंतर्वलित हो । मामले में उद्दापन, कूटरचना और दस्तावेजों को गढ़ने, पंजीकरण अधिकारियों के समक्ष हक का अंतरण कराने के लिए गढ़े हुए दस्तावेजों का उपयोग करने और गढ़े हुए मुख्तारनामा के आधार पर शिकायतकर्ता को भूमि में उसके हित से वंचित करने के अभिकथन अंतर्वलित हैं । यदि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में के अभिकथनों का वैसा ही अर्थान्वयन किया जाए जैसे वे हैं, तो यह स्पष्ट होता है कि वे गंभीर अपराधों में आलिप्त करते हैं जिनका सरोकार भूमि में हक या हित की सत्यनिष्ठा सुनिश्चित करने के लिए महत्वपूर्ण सामाजिक हित से है । इन परिस्थितियों में, उच्च न्यायालय ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को, जो दंड संहिता की धारा 384, 467, 468, 471, 120ख और 506(2) के अधीन रजिस्ट्रीकृत की गई थी, अभिखंडित करने से इनकार करके उत्कृष्ट रूप से न्यायोचित किया है ।

17. उपरोक्त कारणों से हम इस अपील में कोई गुणागुण नहीं पाते हैं । तद्नुसार, यह दांडिक अपील खारिज की जाती है ।

अपील खारिज की गई ।

जस.

[2018] 1 उम. नि. प. 356

भारत संघ

बनाम

विजय कृष्ण उनियाल (मृत) मार्फत विधिक प्रतिनिधिगण

23 अक्तूबर, 2017

न्यायमूर्ति कुरियन जोसफ और न्यायमूर्ति ए. एम. खानविलकर

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 80 और वाल्स सेटलमेंट, 1842 के अधीन अनुदान] – सिविल अपील – शासकीय अनुदान के अधीन प्राप्तिकर्ता के हक-पूर्वाधिकारी द्वारा प्रश्नगत स्थावर संपत्ति अनुदान में प्राप्त करना – प्राप्तिकर्ता द्वारा उक्त स्थावर संपत्ति का विक्रय करना – राज्य सरकार द्वारा उक्त स्थावर संपत्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए नोटिस जारी करना – नोटिस को चुनौती देते हुए, व्यादेश के लिए वाद फाइल करना – वाद खारिज होना – यदि कोई व्यक्ति शासकीय अनुदान के अधीन कोई स्थावर संपत्ति प्राप्त करता है तो उसे उस स्थावर संपत्ति में मात्र अधिभोग करने का ही अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि ऐसी स्थावर संपत्ति सभी भारों से मुक्त होकर राज्य सरकार में निहित हो जाती है और यदि ऐसी स्थावर संपत्ति को राज्य सरकार द्वारा अनुदान में दी जाती है तो भी उसका हक और स्वामित्व राज्य सरकार में ही निहित रहती है, इसलिए, प्राप्तिकर्ता उस स्थावर संपत्ति का विक्रय इत्यादि द्वारा अन्य संक्रामण नहीं कर सकता है, चाहे जितनी भी अवधि तक उसका उक्त स्थावर संपत्ति पर कब्जा रहा हो क्योंकि शासकीय भूमि पर चिरभोग का नियम लागू नहीं होता है और राज्य सरकार कभी भी ऐसी भूमि को वापस ले सकती है ।

प्रस्तुत मामले में तथ्य यह है कि मूल प्रत्यर्थी विजय कृष्ण उनियाल ने सर्वेक्षण सं. 11, लैंडोर छावनी, मसूरी में स्थित ओल्फ बर्न इस्टेट के रूप में ज्ञात (जिसे इसमें इसके पश्चात् "वाद संपत्ति" कहा गया है) स्थावर संपत्ति परिमाप 3.398 एकड़ भूमि जिस पर भवन मौजूद है, जिनमें कई कमरें हैं जिसमें एक ब्लाक वाचमैन के लिए है और अन्य निर्माण मौजूद हैं, का स्वामी होने और कब्जे में होने का दावा किया है, को अवर सचिव, भारत सरकार, भारत के राष्ट्रपति की ओर से नोटिस सं. 701/64/आर एण्ड डी/एल एण्ड सी/74/1805/डी/लैंड्स द्वारा तारीख 19 अगस्त, 1985 को एक नोटिस यह तामील की गई कि वह इस नोटिस की प्राप्ति की एक

माह बीतने के पश्चात् सरकारी अभिकर्ता (प्रतिरक्षा संपदा अधिकारी, मेरठ सर्किल, मेरठ छावनी) को उक्त भूमि के साथ उस पर खड़े निर्माणों को छोड़ दें और उसका कब्जा सौंप दें । यह भी पर्याप्त तौर पर स्पष्ट किया गया था कि उक्त अवधि के बीतने पर उक्त संपत्ति में अधिभोग या सुखाधिकार और हित से संबंधित सभी अधिकार समाप्त हो जाएंगे । इससे व्यथित होकर वादी ने वाद फाइल किया । वादपत्र के भाव से यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट होता है कि वाद, तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख द्वारा वाद संपत्ति में वादी द्वारा अर्जित हक के आधार पर फाइल किया गया था । उस प्रत्याख्यान पर, यह अभिवाक् किया गया है कि प्रतिवादी को उसके स्वामी होने के काल्पनिक आधार पर वाद संपत्ति का कब्जा लेने का कोई अधिकार नहीं है । वादी ने उक्त संपत्ति के स्थापित अधिभोग में होने का दावा किया है । वादी ने यह भी प्रत्याख्यान किया है कि उसे वाद संपत्ति में अधिभोग के अधिकार प्राप्त हैं जो उसमें निहित स्वामित्व अधिकारों के सदृश्य हैं । उस आधार पर, यह अभिवाक् किया गया कि वाद संपत्ति का कब्जा वादी द्वारा मात्र अर्जन के माध्यम से और उसके युक्तियुक्त प्रतिकर का संदाय करने के माध्यम से ही लिया जा सकता है । वादी ने वैकल्पिक रूप में, यह भी अभिवाक् किया है कि वह वाद संपत्ति के एवज में 60 वर्षों से अधिक कोई किराया संदत्त किए बिना लंबे और निर्विघ्न कब्जे के कारण वाद संपत्ति में पूर्ण स्वामित्व अधिकार अर्जित कर लिया है । वादी द्वारा किए गए प्रत्याख्यानों का अपीलार्थी द्वारा लिखित कथन फाइल करते हुए विरोध किया गया । यह सुस्पष्टतः कथन किया गया कि वादी ने रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के अधीन पूर्ववर्ती धारक से मात्र अधिभोगी अधिकारों को अर्जित किया था और न कि वाद के पूर्ण स्वामित्व को अर्जित किया था । संपत्ति, अपीलार्थी से संबंधित है और अपीलार्थी के लिए यह खुला था कि वह पुराने राष्ट्रीय प्रतिरक्षा अनुदान की अपेक्षा के निबंधनों में उसे पुनः ग्रहण कर लेता । अपीलार्थी ने सुस्पष्टतः वादी के इस प्रत्याख्यान से इनकार किया कि अधिभोगी अधिकार स्वामित्व अधिकारों के सदृश्य होते हैं अथवा यह कि वादी प्रतिकूल कब्जे के कारण वाद संपत्ति का पूर्ण स्वामी हो गया है । अपीलार्थी द्वारा यह प्रत्याख्यान किया गया कि भूमि को पुनःग्रहण करना अपेक्षित था जिसे प्राइवेट अधिभोगी धारक को पुराने अनुदान निबंधनों में मूल रूप से प्रदान किया गया था । यह वाद संपत्ति के अर्जन का मामला नहीं है, अपितु पुराने अनुदान में अनुध्यात निबंधनों में पुनःग्रहण करने का मामला है । युक्तियुक्त प्रतिकर का अधिनिर्णय करने की प्रार्थना के बारे में, अपीलार्थी ने यह कथन

किया कि यह वादी (मूल प्रत्यर्थी) के लिए खुला था कि वह तत्कालीन गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा तारीख 12 अगस्त, 1836 के जनरल आर्डर सं. 179 द्वारा जारी पुराने अनुदान विनियमों के निबंधनों में युक्तियुक्त प्रतिकर का अवधारण करने के लिए सरकार से माध्यस्थम् समिति गठित करने का निवेदन कर सकता है । अपीलार्थी द्वारा यह भी प्रत्याख्यान किया गया कि यह दलील गलत थी कि वादी ने कभी भी प्रतिकर के लिए कोई प्रस्थापना नहीं की थी । यह भी कि वादी इस प्रकार की भूमि पर खड़े मात्र निर्माणों के संबंध में ही उपयुक्त प्रतिकर पाने का हकदार होगा न कि संपूर्ण भूमि के संबंध में । इस प्रकार, अपीलार्थी ने यह प्रार्थना की कि वाद खारिज किए जाने योग्य है । दोनों पक्षकारों ने अपने आधारों के समर्थन में क्रमशः मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्य प्रस्तुत किए । तथापि, विचारण न्यायालय ने वादी (मूल प्रत्यर्थी) के विरुद्ध विवाद्यकों का उत्तर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि वाद संपत्ति भारत सरकार से संबंधित है । वादी (मूल प्रत्यर्थी) का कब्जा भी उसमें उसके हक पूर्वाधिकारियों के पक्ष में पुराने अनुदान से सीमित अधिभोगी अधिकार के ही रूप में मिले थे । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादी को संपत्ति को पुनःग्रहण करने का अधिकार है और वादी (मूल प्रत्यर्थी) उस पर किए गए निर्माण के लिए मात्र प्रतिकर ही प्राप्त करने का हकदार है । तद्नुसार, विचारण न्यायालय ने तारीख 19 अक्तूबर, 1997 के निर्णय और डिक्री द्वारा संपूर्ण वाद को खारिज कर दिया । इससे व्यथित होकर वादी (मूल प्रत्यर्थी) ने अपर जिला न्यायाधीश–II देहरादून के समक्ष 1997 की सिविल अपील सं. 69 फाइल की । अपीली न्यायालय ने अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्यों और दस्तावेजों तथा वादी द्वारा निष्पादित स्वीकृति विलेख का विश्लेषण करने के पश्चात् अपने समक्ष उद्भूत प्रश्नों विशिष्टतया वाद संपत्ति के स्वामित्व के बारे में, का उत्तर दिया । प्रथम अपील न्यायालय ने विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित तथ्य के इस निष्कर्ष को कायम रखा कि वाद संपत्ति भारत सरकार से संबंधित है और वादी (मूल प्रत्यर्थी) उसका स्वामी नहीं है । जहां तक प्रतिकर का संबंध है, प्रथम अपील न्यायालय की यह राय थी कि वादी (मूल प्रत्यर्थी) उस प्रतिकर को पाने के लिए हकदार है जिसके लिए उसने प्रथमदृष्ट्या, उसे संदत्त किए जाने वाले समुचित प्रतिकर का अवधारण करने के लिए एक मध्यस्थ की नियुक्ति के लिए सरकार के पास आवेदन किया था । परिणामतः, प्रथम अपील न्यायालय ने मात्र प्रतिकर के विवाद्यक पर विचारण न्यायालय के निर्णय को अपास्त करते हुए, अपील भागतः मंजूर कर ली थी । प्रथम अपील

न्यायालय ने विचारण न्यायालय द्वारा पारित डिक्री को उपांतरित करते हुए प्रवर्तित आदेश पारित किया । प्रथम अपील न्यायालय के विनिश्चय के विरुद्ध वादी (मूल प्रत्यर्थी) ने 2001 की द्वितीय अपील सं. 206 के माध्यम से उत्तराखंड उच्च न्यायालय, नैनीताल के समक्ष अपील फाइल की । पक्षकारों की सुनवाई करने के पश्चात् उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने तारीख 14 जुलाई, 1999 के आदेश द्वारा विधि के दो सारवान् प्रश्नों को विरचित करते हुए, द्वितीय अपील स्वीकार कर ली । द्वितीय अपील को अंतिम तौर पर विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा सुना गया और तारीख 28 फरवरी, 2008 के निर्णय और डिक्री द्वारा इसे खारिज कर दिया गया, यह निष्कर्ष निकालते हुए कि इसमें गुणागुण का अभाव है । विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा पैरा 17 और 18 में किए गए मताभिव्यक्तियों, जो अपीलार्थी के अनुसार दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित समवर्ती निष्कर्षों और उच्च न्यायालय द्वारा उन्हें कायम रखने के प्रभाव को समाप्त करने की क्षमता रखता है और स्वामित्व के मुद्दे को पुनः उठाने के लिए प्रत्यर्थी को प्रोत्साहित करता है, जो पहले ही व्यवस्थित हो चुका है, से अपीलार्थी व्यथित है । इसलिए, अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष 2001 की द्वितीय अपील सं. 206 के निपटारे में 2008 की पुनर्विलोकन आवेदन सं. 668 फाइल की । तथापि, विद्वान् एकल न्यायाधीश ने तारीख 19 जून, 2008 के निर्णय और आदेश द्वारा उक्त पुनर्विलोकन आवेदन को खारिज कर दिया । इसलिए, अपीलार्थी ने दोनों विनिश्चयों, उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश के तारीख 28 फरवरी, 2008 के आक्षेपित निर्णय के पैरा 17 और 18 में किए गए मताभिव्यक्तियों के विरुद्ध द्वितीय अपील खारिज करते समय और पुनर्विलोकन आवेदन में तारीख 19 जून, 2008 के निर्णय को भी चुनौती देते हुए, इन अपीलों के माध्यम से इस न्यायालय के समक्ष अपीलें फाइल की हैं । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – गंभीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात्, न्यायालय, दोनों पक्षकारों द्वारा दिए गए इन तर्कों में बल पाता है कि उच्च न्यायालय, उस तरीके से मामले का विश्लेषण करने में असफल रहा है, जिस तरीके से उसे अंतिम सुनवाई के समय पर सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "सी. पी. सी." कहा गया है) की धारा 100 के अधीन द्वितीय अपील पर विचार करते समय किया जाना था । वर्तमान मामले में, उच्च न्यायालय ने दोनों विधि के सारवान् प्रश्नों का भी उल्लेख नहीं किया है जिसे 14 जुलाई, 1999 के अपने आदेश के निबंधनों में विरचित किया

था, न ही मामले को समुचित तौर पर विश्लेषण किया है । चाहे जैसी भी स्थिति हो, अपीलार्थी (प्रतिवादी) ने अकेले ही आक्षेपित निर्णय को आक्षेपित किया है । वादी (मूल प्रत्यर्थी) की स्थायी व्यादेश के अनुतोष को नामंजूर करने वाले डिक्री की मौन स्वीकृति रही है, क्योंकि वह आक्षेपित निर्णय के विरुद्ध प्रति अपील अथवा उसके लिए मामले में प्रति-आक्षेप फाइल करने में असफल रहा है । गंभीर विचार-विमर्श करने के पश्चात्, न्यायालय का यह विचार है कि यह अपीलार्थी द्वारा उद्भूत मूल विवाद्यक की प्रथम परीक्षा के विरुद्ध है । उसके लिए, न्यायालय को उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 28 फरवरी, 2008 के निर्णय का विश्लेषण करना चाहिए । पैरा 1 से 14 में न्यायालय ने सुसंगत तथ्यों का वर्णन किया है जिनके कारण द्वितीय अपील फाइल की गई है । पैरा 15 का स्वयं द्वारा परिशीलन करने से यह इंगित होता है कि न्यायालय ने वादी (मूल प्रत्यर्थी) के विद्वान् काउंसेल के निवेदन को अभिलिखित किया और उन्हें नामंजूर कर दिया, यह उल्लिखित करते हुए कि दोनों निचले न्यायालयों ने समवर्ती तौर पर यह निष्कर्ष निकाला है कि संपत्ति, अपीलार्थी से संबंधित है । वस्तुतः, इसे सुसंगत तथ्यों का समुचित विश्लेषण किए बिना गलत तरीके से किया गया था । उस दलील को नामंजूर करने में भी तारीख 14 जुलाई, 1999 के अपने आदेश के निबंधनों में विरचित दोनों सारवान् विधि के प्रश्नों का पर्याप्त उत्तर नहीं दिया गया है । सारवान् प्रश्न यह विरचित किया गया था कि क्या प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत किसी अन्य साक्ष्य के अभाव में, संपत्ति प्रतिवादी द्वारा वादी की मात्र अभिकथित स्वीकृति के आधार पर धारित की जा सकती थी । चाहे जैसी भी स्थिति हो, उच्च न्यायालय ने स्वामित्व के विवाद्यक पर आक्षेपित निर्णय (जैसा कि निर्णय के पैरा 15 में दर्शित है) द्वारा निकाले गए समवर्ती निष्कर्षों को चुनौती देने वाले वादी के वाद को नामंजूर कर दिया था और उसके बाद अंततः यह निष्कर्ष निकाला कि द्वितीय अपील में गुणागुण का अभाव है और इसे खारिज किया जाता है, यह अयथार्थ है कि किस प्रकार उसके बाद यह मत व्यक्त किया जा सकता था कि तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के प्ररूप में साक्ष्य से वादी का वाद संपत्ति के बारे में प्रथमदृष्ट्या स्वामित्व दर्शित होता है । वादी का वाद संपत्ति में मात्र कब्जे के कारण ही इसकी स्वयमेव वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक के साक्ष्य के रूप में गणना नहीं की जा सकती है । न्यायालय को यह याद रखना चाहिए कि अस्थायी व्यादेश के अनुदान के लिए वादी का दावा तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख पर ही वाद संपत्ति में उसके हक और स्वामित्व

पर आधारित था । निस्संदेह, उच्च न्यायालय ने वादी का वाद संपत्ति के स्वामित्व के बारे में अपना प्रथमदृष्ट्या मत अभिलिखित करने के लिए तारीख 14 अगस्त, 1980 के उक्त दस्तावेज के प्रतिनिर्देश किया है । यह भी सत्य है कि तारीख 14 अगस्त, 1980 का रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख, इस तथ्य के बारे में कोई उल्लेख नहीं करता है कि वाद संपत्ति को पुराने अनुदान और बी-3 संवर्ग के रूप में वर्गीकृत के अधीन वादी के हक-पूर्वाधिकारियों को दी गई थी अथवा यह कि यह भारत सरकार से संबंधित है । संभाव्यतः, उच्च न्यायालय ने पैरा 17 में अपना प्रथमदृष्ट्या मत अभिलिखित करने में मात्र उक्त रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख का अवलंब लिया है । यह इस जटिल रूह तथ्य का संपूर्ण व्याख्या करता है कि विक्रय विलेख, तारीख 13 सितम्बर, 1979 को वादी (मूल प्रत्यर्थी) और उसके हक-पूर्वाधिकारी के बीच निष्पादित रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार का परिणाम था, जिसे रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के रूप में निर्दिष्ट किया गया है । पूर्वोक्त उल्लिखित रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार के संदर्भ में विक्रय विलेख निर्मित हुआ था । वादी के पक्ष में निष्पादित रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख में कोई अनिश्चित निबंधन नहीं थे, जिससे इस तथ्य की स्वीकृति होती है कि वाद संपत्ति सरकार से संबंधित है और अधिकार जिन्हें अंतरित किए जाने हैं, वे पुराने अनुदान के अधीन मंजूर उक्त भूमि में मात्र कब्जे के उपभोग करने का था, जो वादी के हक-पूर्वाधिकारी को लागू होते हैं । उल्लेखनीय तौर पर, यह रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार, वाद संपत्ति के पूर्ववर्ती स्वामी के हक और हित को निर्दिष्ट करता है, जो उसके द्वारा तारीख 15 दिसम्बर, 1970 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के निबंधनों में तत्काल हक-पूर्वाधिकारी से प्राप्त किया गया था । निर्विवाद तौर पर, श्री एम. जे. गोडिन और सरदार करतार सिंह तथा पांच अन्यों के बीच तारीख 15 दिसम्बर, 1970 के उक्त रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख से भी इस तथ्य के बारे में पुनः वर्णन मिलता है कि वाद संपत्ति उसके कब्जे के सीमित उपभोग अधिकार के साथ सरकार से संबंधित थी, जिसे उक्त विक्रय विलेख के वर्णन से देखा जा सकता है । कुछ और रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख हैं, जिन्हें अभिलेख पर लाया गया है जो तारीख 2 अगस्त, 1948 को श्री चार्ल्स गार्डन स्टीवर्ट और श्रीमती ई. वाल्स के बीच हुए थे । वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक पर विचार करते हैं । इस विक्रय विलेख के आधार पर ही निष्कर्ष तौर पर यह पुनः कथन किया जा सकता है कि वाद संपत्ति सरकार में निहित है । निर्विवाद तौर पर, वादी ने उन्हीं निबंधनों पर तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के अधीन वाद संपत्ति को

अर्जित किया है और इसलिए, तारीख 19 अगस्त, 1980 के विक्रय विलेख के रजिस्ट्रीकरण के समय पर ही स्वीकृति विलेख और घोषणा निष्पादित की है । (पैरा 21, 22, 23, 24, 25 और 26)

वादी को तारीख 19 अगस्त, 1985 का वाद नोटिस, जिसमें यह प्रत्याख्यान है कि वाद संपत्ति सरकारी भूमि है जो पुराने अनुदान के अधीन "बी-3" संवर्ग के रूप में वर्गीकृत थी, दी गई थी और यह कि सरकार उसे पुनःग्रहण करना चाहती थी, को प्राप्त करने के पश्चात् जानबूझकर वाद नोटिस के अनुसरण में वाद संपत्ति से वादी को बेकब्जा करने से अपीलार्थी (प्रतिवादी) के विरुद्ध स्थायी व्यादेश के लिए वाद फाइल किया था । वाद नोटिस में लिए गए स्पष्ट आधार के कारण, वादी को यह घोषणा करने के लिए वाद फाइल करना चाहिए था कि वाद संपत्ति के स्वामित्व के बारे में वाद नोटिस में प्रतिवादी द्वारा किया गया दावा अवैध है । सुस्पष्टतः, वादी यह जानता था कि उसे संवर्ग "बी-3" के रूप में पुराने अनुदान के अधीन मंजूर वाद संपत्ति का मात्र उपभोग करने का अधिकार प्राप्त है । भूमि भारत सरकार से संबंधित है । वस्तुतः, वादी, वाद संपत्ति के स्वामित्व के दावे को स्थापित किया है, प्रथमतः तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के आधार पर और द्वितीयतः, वाद संपत्ति में अधिभोगी अधिकारों जो स्वामित्व के अधिकारों के सदृश्य थे, के आधार पर और तृतीयतः, यह कि वादी ने पिछले लगभग 60 वर्षों से अधिक समय से बिना किसी किराए का संदाय किए लंबे और निर्बाधित कब्जे में होने के कारण वाद संपत्ति पर प्रतिकूल कब्जे द्वारा पूर्ण स्वामित्व अधिकारों को प्राप्त कर लिया है । जहां तक तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के अधीन प्राप्त अधिकारों के आधार पर वादी के पूर्ण स्वामित्व के दावे का संबंध है, का समर्थन नहीं किया जा सकता है । तारीख 13 सितम्बर, 1979 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार से उपदर्शित तथ्यात्मक परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में, जो तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के पूर्ववर्ती निष्पादित हुआ था, वादी ने पूर्ण समझदारी और ज्ञान के साथ स्वीकृति विलेख और घोषणा विलेख निष्पादित किया था । उच्च न्यायालय ने पैरा 17 में, प्रथमदृष्ट्या राय अभिलिखित करते समय इन आवश्यक तथ्यों और दस्तावेजों का उल्लेख नहीं किया है, उच्च न्यायालय को इन तथ्यों और निर्विवाद साक्ष्यों का उल्लेख करना चाहिए था, जिन्हें विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा विचार में लिया गया था, इसे वादी के पक्ष में वाद संपत्ति के स्वामित्व के बारे में ऐसी प्रथमदृष्ट्या मताभिव्यक्ति के

रूप में कभी अभिलिखित नहीं किया जा सकता था । इसलिए अपीलार्थी (प्रतिवादी), आक्षेपित निर्णय के पैरा 17 में उल्लिखित प्रथमदृष्ट्या राय को आक्षेपित करने में न्यायोचित है । ऐसी मताभिव्यक्ति, जैसा कि आक्षेपित निर्णय के पैराग्राफ 15 में उल्लिखित है, दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक पर समवर्ती निष्कर्ष कायम रखने के बावजूद अभिलिखित की गई थी । इसलिए, अपीलार्थी, इस अपील में इस सीमा तक सफल होना चाहिए कि पैरा 17 के प्रथम वाक्य को मिटा देना चाहिए था । क्योंकि उक्त मताभिव्यक्ति वाद संपत्ति पर हक के प्रश्न को पुनः उठाने के लिए वादी को स्वतंत्रता देने का आधार देती है, इस दशा में, वादी को बेदखली कार्यवाहियों का सामना करना अपेक्षित था, इसलिए, उक्त स्वतंत्रता को भी हटा देना चाहिए । इस दशा में, वादी या उसके माध्यम से या वादी के अधीन दावा करने वाले व्यक्तियों को यह अनुज्ञेय नहीं होगा कि वे अब से किन्हीं कार्यवाहियों में या उस मामले के लिए साम्पार्श्विक कार्यवाहियों में वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक को उद्भूत करें । प्रत्यर्थियों (वादी के हक-उत्तराधिकारियों) ने अन्य दस्तावेजों और पूर्व वृत्तांतों का अवलंब लेते हुए यह दलील दी है कि वाद संपत्ति के हक और स्वामित्व का विवाद्यक प्रत्यक्षतः और सारतः वादी द्वारा फाइल इसी प्रकार के स्थायी व्यादेश के लिए वाद में अंतर्वलित था । इस प्रकार, वादी या उसके माध्यम से या उसके अधीन दावा करने वाले व्यक्तियों के लिए यह खुला है कि वे साम्पार्श्विक कार्यवाहियों वाद संपत्ति के हक के विवाद्यक को उद्भूत करे, यदि वे वाद संपत्ति से बेदखल किए जाते हैं । यह तर्क खारिज किए जाने योग्य है । वर्तमान मामले में, वादी ने तारीख 19 अगस्त, 1985 के वाद नोटिस को चुनौती दी है, इस प्रत्याख्यान पर कि वह तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के आधार पर वाद संपत्ति का कब्जे सहित पूर्ण स्वामी है । इस प्रत्याख्यान द्वारा वादी ने विवक्षित तौर पर अपीलार्थी-प्रतिवादी के इस दावे से इनकार किया है कि वाद संपत्ति सरकार से संबंधित है और उसे वर्ग "बी-3" में आने वाले पुराने अनुदान के अधीन दिया गया था । वाद नोटिस में इस प्रत्याख्यान के अतिरिक्त, अपीलार्थी-प्रतिवादी ने वाद का विरोध करते हुए फाइल लिखित कथन में असंदिग्ध तौर पर भी यह कथन किया है कि वाद संपत्ति भारत सरकार से संबंधित है और उसे वर्ग "बी-3" में आने वाने पुराने भवन अनुदानों के अधीन प्राप्तिकर्ता को दिया गया था, जो एक माह की नोटिस देने के पश्चात् पुनःग्रहण करने के अधीन है । इन अभिवचनों के परिप्रेक्ष्य में, विचारण न्यायालय ने वाद संपत्ति के स्वामित्व से

संबंधित विवाद्यक को सम्मिलित करते हुए विवाद्यक विरचित किया । विवाद्यक सं. 1 यह था कि क्या वादी, वाद संपत्ति का पूर्ण स्वामी था, जैसा कि उसके द्वारा प्रत्याख्यान किया गया है और यदि ऐसा है तो क्या संपत्ति प्राइवेट संपदा होने के नाते सरकार द्वारा पुनः ग्रहण नहीं किया जा सकता है, इस उपधारणा पर कि यह सरकारी भूमि है । इसी प्रकार का विरोध प्रथम अपील न्यायालय के समक्ष किया गया था । प्रथम अपील न्यायालय ने भी अन्यों के साथ दस्तावेजों प्रदर्श 20-सी, 27-सी, 35-सी, 38-सी और 39-सी का विश्लेषण करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि वादी द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि वाद संपत्ति भारत सरकार में निहित है, जो प्राप्तिकर्ता/अधिभोगी को निर्माण के लिए प्रतिकर संदाय करने के पश्चात् पुनः ग्रहण किए जाने योग्य थी । प्रथम अपील न्यायालय ने ऐसे किसी अनिश्चित निबंधनों में यह निष्कर्ष निकाला है कि वाद संपत्ति भारत सरकार से संबंधित है और वादी, वाद संपत्ति का स्वामी नहीं था, अपितु, मात्र उसे पुराने अनुदान के अधीन उसके कब्जे का उपभोग करने का अधिकार था, जिसे उसने अपने हक-पूर्वाधिकारियों से प्राप्त किया था । इस प्रकार, यह सीमित अधिकारिता के सिविल न्यायालय द्वारा आनुषंगिक विवाद्यक की परीक्षा करने का मामला नहीं है, जिस पर इसी प्रकार के स्थायी व्यादेश के अनुतोष पर विचार किया जाए । यह विचारण न्यायालय द्वारा और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा कायम प्रत्यक्षतः और सारतः विवाद्यक का मामला था और उस मामले के लिए उच्च न्यायालय ने भी द्वितीय अपील इस आधार पर खारिज कर दी थी कि इसमें गुणागुण का अभाव है, जो आक्षेपित निर्णय के पैरा 15 और 19 से दर्शित होता है । वर्तमान मामले के तथ्यात्मक परिस्थिति में, यह तथ्य या विधि का जटिल विवाद्यक नहीं था जिन पर वादी द्वारा निष्पादित स्वीकृति विलेख और घोषणा विलेख के साथ ही रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार और रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेखों में निर्विवाद वर्णनों पर विचार किया जाता । ऐसी परिस्थिति में, हक घोषणा के लिए पश्चात्वर्ती वाद या अन्यथा में भी वादी के विरुद्ध अभिलिखित तथ्य के निष्कर्ष वादी पर आबद्धकर होंगे और आन्वयिक प्रांङ न्याय के रूप में प्रवर्तित होंगे । न्यायालय ने यह उल्लेख किया है कि हक पर निष्कर्ष व्यादेश के लिए वाद में अभिलिखित नहीं किया जा सकता है, जब तक कि हक के बारे में आवश्यक और समुचित विवाद्यक नहीं है । यह पूर्व धारणा है कि ऐसा करना अनुज्ञेय नहीं है । जहां हक के बारे में प्रकथनों का भी वादपत्र में अभाव है और जहां हक से संबंधित कोई विवाद्यक नहीं है वहां न्यायालय व्यादेश के लिए वाद में हक के प्रश्न पर

अन्वेषण या परीक्षा या निष्कर्ष नहीं देगा । तथापि, वर्तमान मामले में, न्यायालय का यह निष्कर्ष नहीं है कि न केवल हक से संबंधित स्पष्ट अभिवचन है अपितु दोनों पक्षकारों का उस प्रत्याख्यान पर विचारण भी किया गया है और न्यायालय को वाद संपत्ति में स्वामित्व और हक के बारे में विवाद्यक विरचित करने के लिए आमंत्रित किया गया है, अपितु उसके एवज में क्रमशः अपने दावे के समर्थन में साक्ष्य भी प्रस्तुत किया गया है, जिनका विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा सम्यक् तौर पर विश्लेषण किया गया है । रिपोर्टेड विनिश्चय के पैरा 21(ग) में, निःसंदेह, इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि पक्षकारों को व्यादेश के लिए वाद में उस विवाद्यक का विनिश्चय करने के बजाय हक के माध्यम से व्यापक वाद का उपचार दिया जाना चाहिए । तथापि, मामले में, हक से संबंधित तथ्य और विधि के जटिल प्रश्न में अंतर्वलित हो सकते हैं । वर्तमान मामले में, जैसा कि पूर्ववर्ती मत व्यक्त किया जा चुका है, हक और स्वामित्व के बारे में विवाद्यक, प्रत्यक्षतः विवाद्यक था और व्यादेश के लिए वाद में, यद्यपि, न्यायालय द्वारा सारवान् विवाद्यक के रूप में अधिनिर्णीत किया गया था । यह या तो तथ्य या विधि का जटिल विवाद्यक नहीं था । इसका रजिस्ट्रीकृत दस्तावेजों, स्वीकृति विलेख, घोषणा विलेख और अन्य दस्तावेजों से दर्शित होने वाले स्वीकृत और निर्विवाद तथ्यों के आधार पर सही तौर पर उत्तर दिया गया है । यह सत्य है कि वर्तमान मामले में अपीलार्थी (प्रतिवादी) ने वाद संपत्ति के संबंध में पुराने अनुदान को प्रस्तुत नहीं किया है किन्तु उसने जी. एल. आर. उद्धरण प्रस्तुत किया था । यह सुस्थिर है कि जी. एल. आर. उद्धरण इस तथ्य का निर्णायक सबूत है कि भूमि पुराने अनुदान के अंतर्गत आती है और वादी को उस पर किए गए निर्माणों के संबंध में ही मात्र कब्जाधारी या अधिभोगी के अधिकारों का उपभोग करने का अधिकार है । अन्य प्रमाणिकताओं की विस्तृत विवेचना करना आवश्यक नहीं है जिन पर इस विनिश्चय में पहले ही विचार किया जा चुका है । यह मत व्यक्त करना पर्याप्त होगा कि उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील में पारित निर्णय और डिक्री को किसी चुनौती के अभाव में, जिसके द्वारा द्वितीय अपील को इस आधार पर नामंजूर कर दिया था कि इसमें गुणागुण का अभाव है, प्रत्यर्थी (वादी के हक-पूर्वाधिकारी) न तो सफल हो सकते हैं न ही उन्हें भारत सरकार के वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक पर निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित निष्कर्षों की सत्यता के बारे में इस न्यायालय के समक्ष पुनः उठाने की अनुमति दी जा सकती है और यह कि वादी उसके पूर्ण स्वामी नहीं है ।

इस प्रकार अभिलिखित तथ्य के निष्कर्ष प्रत्यर्थियों पर आबद्धकर होंगे । द्वितीय अपील नामंजूर करने के परिणामस्वरूप, प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पारित और उच्च न्यायालय द्वारा कायम रखी गई डिक्री के निबंधनों में मात्र यह विवाद्यक शेष रह जाता है कि पुराने अनुदान और उसके संबंध में विनियमों के निबंधनों में निर्माण के लिए प्रतिकर का अवधारण किस प्रकार किया जाए । अपीलार्थी ने इस न्यायालय के विनिश्चयों का सही ही अवलंब लिया है जिसमें यह व्याख्या की गई है कि समुचित और युक्तियुक्त प्रतिकर का अवधारण विनियमों के अनुसार मध्यस्थ के पास मामले को निर्दिष्ट करके ही किया जा सकता है । इसलिए, यह तारीख 19 अगस्त, 1985 के वाद नोटिस के आधार पर आगे कार्यवाही करने में अपीलार्थी के रास्ते में बाधक नहीं हो सकता है, जिसकी वैधता चुनौती योग्य नहीं है । उल्लेखनीय तौर पर, उच्च न्यायालय द्वारा वादी को दी गई स्वतंत्रता का सूक्ष्म परिशीलन करने पर, यह स्पष्ट होता है कि स्वतंत्रता, वाद संपत्ति के बारे में हक का विवाद्यक उद्‌भूत करने में सीमित है, उस दशा में, जब अपीलार्थी द्वारा कोई बेदखली कार्यवाहियां प्रतिस्थापित की जाती हैं । ऐसी स्वतंत्रता, जैसा कि सुस्थिर है, इस मामले के तथ्यात्मक परिस्थितियों में आन्वयिक प्रांङ न्याय के सिद्धांतों को आघात पहुंचाती है । यह निश्चित तौर पर हक और स्वामित्व की घोषणा करने के लिए नए सिरे से वाद फाइल करने की स्वतंत्रता नहीं होती है, जिसे वादी को पूर्ववर्ती में फाइल करना चाहिए था अथवा कम-से-कम समुचित घोषणा की ईप्सा करते हुए वाद में संशोधन करना चाहिए था । न्यायालय अपीलार्थी की इस शिकायत से सहमत है कि उच्च न्यायालय को वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक पर तथ्य के समवर्ती निष्कर्ष को कायम रखने और द्वितीय अपील को इस आधार पर खारिज करने से कि इसमें गुणागुण का अभाव है, आक्षेपित निर्णय के पैरा के 17 और 18 में की गई मताभिव्यक्तियों से दूर रहना चाहिए था । ऐसी मताभिव्यक्तियों के आधार पर उच्च न्यायालय ने वादी (मूल प्रत्यर्थी) को हक का विवाद्यक उद्‌भूत करने की स्वतंत्रता अन्यायोचित तरीके से मंजूर की है, यदि उसके विरुद्ध बेदखली की कार्यवाहियां आरंभ की जाती हैं । उच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट करने में भी प्रकट त्रुटि कारित की है कि यदि ऐसा अभिवाक् उद्‌भूत किया जाता है तो उसे विचारण न्यायालय द्वारा दिए गए निष्कर्षों के प्रभाव में आए बिना विनिश्चित किया जाना चाहिए था । (पैरा 27, 28, 29, 30, 33, 34, 35, 36 और 38)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2014]	(2014) 16 एस. सी. सी. 481 : **उषा कपूर और अन्य** बनाम **भारत सरकार और अन्य** ;	14,33
[2014]	(2014) 9 एस. सी. सी. 344 : **पुरुषोत्तम दास टंडन (मृत)** मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण** बनाम **मिलिट्री इस्टेट आफिसर और अन्य** ;	14,30
[2014]	(2014) 6 एस. सी. सी. 707 : **भारत संघ और अन्य** बनाम **राबर्ट जामविया स्ट्रीट** ;	14
[2014]	(2014) 2 एस. सी. सी. 600 : **मैनेजमेंट ऑफ सुन्दरम् इंडस्ट्रीज लिमिटेड** बनाम **सुन्दरम् इंडस्ट्रीज इम्पलाइज यूनियन** ;	16,32
[2013]	(2013) 14 एस. सी. सी. 367 : **सत्येन्द्र कुमार (मृत)** मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण** बनाम **मस्त राम उनियाल (मृत)** मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण** ;	16
[2012]	(2012) 7 एस. सी. सी. 278 : **अजीम अहमद काजमी और अन्य** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य** ;	14
[2010]	(2010) 13 एस. सी. सी. 511 : **भारत संघ और अन्य** बनाम **कमला वर्मा** ;	14
[2008]	(2008) 12 एस. सी. सी. 1 : **बलबीर कौर और एक अन्य** बनाम **उत्तर प्रदेश सेकेंडरी एजुकेशन सर्विसेज सेलेक्शन बोर्ड,** **इलाहाबाद और अन्य** ;	16,32
[2008]	(2008) 4 एस. सी. सी. 594 : **अंतुला सुधाकर** बनाम **पी. बुची रेड्डी (मृत)** मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण और अन्य** ;	16,17,30
[2007]	(2007) 11 एस. सी. सी. 75 : **एस. नजीर अहमद** बनाम **स्टेट बैंक ऑफ मैसूर** ;	16,32

[2000] (2000) 7 एस. सी. सी. 543 :
ग्राम पंचायत, ग्राम नौलखा बनाम
अजगर सिंह और अन्य ; 16,17,30,32

[2000] (2000) 3 एस. सी. सी. 350 :
सज्जादनशीन सैय्यद एम. डी. बी. ई. ई. डी.
आर. (मृत) मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण** बनाम
मूसा दादाभाई उमेर और अन्य ; 16,17,31

[1999] (1999) 7 एस. सी. सी. 435 :
रविन्दर कुमार शर्मा बनाम **असम राज्य और अन्य** ; 16,32

[1999] (1999) 3 एस. सी. सी. 555 :
मुख्य कार्यपालक अधिकारी बनाम
सुरेन्द्र कुमार वकील और अन्य ; 14,17

[1995] (1995) (सप्ली.) 4 एस. सी. सी. 113 :
भारत संघ और अन्य बनाम **हरीश चंद आनंद** ; 14,35

[1988] (1988) 1 एस. सी. सी. 626 :
नेशनल इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड, नई दिल्ली बनाम
जुगल किशोर और अन्य ; 17

[1986] (1986) 1 एस. सी. सी. 133 :
एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स प्रा. लि. और अन्य बनाम
भारत संघ और अन्य ; 17

[1986] (1986) (सप्ली.) एस. सी. सी. 720 :
भारत संघ बनाम **पुरुषोत्तम दास टंडन और एक अन्य** ; 16

[1973] (1973) 2 एस. सी. सी. 547 :
उत्तर प्रदेश राज्य बनाम **जहूर अहमद और एक अन्य** ; 14

[1968] [1968] 3 एस. सी. आर. 862 :
गोपाल कृष्णाजी केटकर बनाम
मोहम्मद हाजी लतीफ और अन्य ; 17

[1959] [1959] (सप्ली.) 1 एस. सी. आर. 698 =
ए. आई. आर. 1959 एस. सी. 504 :
किशोरी लाल बनाम **चलतीबाई** ; 17

[1956] [1956] 1 एस. सी. आर. 451 :
नागूबाई अमल और अन्य बनाम
बी. समा राव और अन्य ; 17

[1897] (1897-98) 25 आई. ए. 161 :
मुहम्मद इमाम अली खान बनाम **सरदार हुसैन खान** । 17

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 16949 और 16950.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री ए. के. सांघी, (सुश्री) अलका अग्रवाल और मुकेश कुमार मरोरिया, अधिवक्तागण

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री सी. यू. सिंह, ज्येष्ठ अधिवक्ता, अर्धेन्दुमौली कुमार प्रसाद, नामित सक्सेना, (सुश्री) तरुणा अर्धेन्दुमौली प्रसाद, निर्मल कुमार अम्बष्ट और ऋषि कुमार सिंह गौतम, अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति ए. एम. खानविलकर ने दिया ।

न्या. खानविलकर – इजाजत दी जाती है ।

2. ये अपीलें, उच्च न्यायालय, उत्तराखंड, नैनीताल द्वारा 2001 की द्वितीय अपील सं. 206 में पारित तारीख 28 फरवरी, 2008 के निर्णय और डिक्री तथा 2008 की पुनर्विलोकन आवेदन सं. 668 में पारित तारीख 19 जून, 2008 के आदेश से भी उद्‌भूत हुई हैं ।

3. इन अपीलों में अंतर्वलित मुख्य विवाद्यक यह है कि क्या उच्च न्यायालय, गुणागुण रहित होने के नाते वादी (मूल प्रत्यर्थी) द्वारा फाइल द्वितीय अपील को खारिज करने और इसके बजाय भूमि के स्वामी के तथ्य पर दोनों न्यायालयों द्वारा अभिलिखित समवर्ती निष्कर्षों को कायम रखने में न्यायोचित था, ऐसा मत व्यक्त करते हुए जो वाद संपत्ति के संबंध में हक के बारे में पहले से ही सुनिश्चित विवाद्यक को पुनः खोलने की क्षमता रखता है ?

4. मूल प्रत्यर्थी विजय कृष्ण उनियाल ने सर्वेक्षण सं. 11, लैंडोर छावनी, मसूरी में स्थित ओल्फ बर्न इस्टेट के रूप में ज्ञात (जिसे इसमें इसके पश्चात् "वाद संपत्ति" कहा गया है) स्थावर संपत्ति परिमाप 3.398 एकड़ भूमि जिस पर भवन मौजूद है, जिनमें कई कमरे हैं जिसमें एक ब्लाक वाचमैन के लिए है और अन्य निर्माण मौजूद हैं, का स्वामी होने और कब्जे में होने का दावा किया है, को अवर सचिव, भारत सरकार, भारत के राष्ट्रपति की ओर से नोटिस सं. 701/64/आर एण्ड डी/एल एण्ड सी/74/1805/डी/लैंड्स द्वारा तारीख 19 अगस्त, 1985 को एक नोटिस यह तामील की गई कि वह इस नोटिस की प्राप्ति की एक माह बीतने के पश्चात् सरकारी अभिकर्ता (प्रतिरक्षा संपदा अधिकारी, मेरठ सर्किल, मेरठ छावनी) को उक्त भूमि के साथ उस पर खड़े निर्माणों को छोड़ दें और उसका कब्जा सौंप दें । यह भी पर्याप्त तौर पर स्पष्ट किया गया था कि उक्त अवधि के बीतने पर उक्त संपत्ति में अधिभोग या सुखाधिकार और हित से संबंधित सभी अधिकार समाप्त हो जाएंगे । उक्त नोटिस इस प्रकार है :–

"सं. 701/64/आर एण्ड डी/एल एण्ड सी/74/1805/डी/लैंड्स

भारत सरकार, प्रतिरक्षा मंत्रालय

नई दिल्ली

तारीख 19 अगस्त, 1985

सेवा में,

श्री विजय कृष्ण उनियाल,
क्रम. सं. 11, ओल्फ बर्न इस्टेट,
लैंडोर छावनी

नोटिस

जबकि ओल्फ बर्न इस्टेट लैंडोर छावनी के रूप में ज्ञात माप 3.398 एकड़ बी. संख्या की ओर क्रम सं. 11 में समाविष्ट भूमि और निम्नलिखित सीमाएं –

क्रम सं. 13 के उत्तर की ओर

क्रम सं. 173 और 163 के दक्षिण की ओर

क्रम सं. 170 के पूर्व की ओर

क्रम सं. 163 के पश्चिम की ओर

हैं, भारत के राष्ट्रपति (जिसे इसमें इसके पश्चात् सरकार कहा गया है) से संबंधित है और यह सरकार के अधीन तारीख 12 सितम्बर, 1836 के गर्वनर जनरल के आदेश सं. 179 के अधीन 'पुराना अनुदान' के निबंधनों में आप द्वारा धारित है और उक्त भूमि का पुनःग्रहण करने का हकदार हैं ।

2. और जबकि सरकार ने उक्त भूमि और उस पर खड़े भवनों को पुनः लेने का विनिश्चय किया है ।

3. इसलिए अब, इसमें इसके पश्चात् उल्लिखित शक्ति का प्रयोग करते हुए, तद्द्वारा, सरकार आपको इस नोटिस की प्राप्ति की एक माह बीतने के पश्चात् सरकारी अभिकर्ता (प्रतिरक्षा संपदा अधिकारी, मेरठ सर्किल, मेरठ छावनी) को उक्त भूमि के साथ उस पर खड़े निर्माणों को छोड़ने और उसका कब्जा सौंपने का नोटिस देती है । कृपया यह नोटिस करें कि इस नोटिस की तामील की तारीख से एक माह बीतने पर उक्त भूमि और उस पर खड़े भवनों में आपका अधिभोग और किसी भी प्रकार के सुखाधिकार और हित उस तारीख से समाप्त माने जाएंगे ।

4. यह भी नोटिस करें कि सरकार, आपको पूर्वोक्त भूमि पर खड़े मात्र प्राधिकृत निर्माण के मूल्य के रूप में 17,275/- रु. (सत्रह हजार दो सौ पचहत्तर रुपए मात्र) संदाय करने और इस प्रकार के प्रस्थापना करने को तैयार हैं । इस रकम के लिए चेक इसके साथ संलग्न है ।

ह0/-

(ए. के. गोयल)
अवर सचिव, भारत सरकार

भारत के राष्ट्रपति की ओर से"

(रेखांकन जोर देने के लिए किया गया है)

5. उक्त नोटिस की प्राप्ति के पश्चात्, मूल प्रत्यर्थी ने पूर्वोक्त उल्लिखित तारीख 19 अगस्त, 1985 की नोटिस के अनुसरण में उक्त संपत्ति से उसे बेकब्जा करने से अपीलार्थियों, इसके अधिकारियों या प्रतिनिधियों या सेवकों को अवरुद्ध करते हुए स्थायी व्यादेश के लिए

सिविल न्यायाधीश, न्यायालय सं. 1, देहरादून, मसूरी के समक्ष 1985 की वाद सं. 484 के अधीन एक सिविल वाद फाइल की । वैकल्पिक अनुतोष के रूप में यह प्रर्थाना की कि उसे अपीलार्थी को वाद संपत्ति का कब्जा सौंपने के लिए बाध्य करने के पूर्व, अपीलार्थी द्वारा स्थावर संपत्ति के अर्जन के लिए विधि द्वारा अधिकथित सिद्धांतों के आधार पर अपीलार्थी द्वारा अवधारित वाद संपत्ति के संबंध में युक्तियुक्त और पर्याप्त प्रतिकर, वादी (मूल प्रत्यर्थी को पर्याप्त अवसर देने और अपने समक्ष सुनवाई करने के पश्चात्) को दिलाया जाए । उक्त वाद में दावाकृत अनुतोष इस प्रकार है :–

"इसलिए, वादी ने प्रतिवादी के विरुद्ध डिक्री का दावा करते हुए, निम्नलिखित प्रार्थना की है –

1. कि प्रतिवादी, इसके अधिकारियों, प्रतिनिधियों और सेवकों को अवर सचिव, भारत सरकार, प्रतिरक्षा मंत्रालय, नई दिल्ली द्वारा जारी तारीख 19 अगस्त, 1985 के नोटिस सं. 701/64/आर एण्ड डी/एल एण्ड सी/74/1805/डी/लैंड्स के अनुसरण में, सर्वेक्षण सं. 11, लैंडोर छावनी, मसूरी में स्थित ओल्फ बर्न इस्टेट के रूप में ज्ञात स्थावर संपत्ति से वादी को बेकब्जा करने से अवरुद्ध करते हुए स्थायी व्यादेश का आदेश जारी किया जाए । वैकल्पिक रूप में, यह प्रर्थाना की कि उसे प्रतिवादी को उक्त संपत्ति के लिए दायी ठहराने और कब्जा सौंपे जाने के पूर्व, वादी को सुनने और संदत्त किए जाने के लिए अवसर देने के पश्चात् स्थावर संपत्ति के अर्जन के लिए अधिकथित सिद्धांतों पर ओल्फ बर्न संपदा के लिए प्रतिवादी द्वारा अवधारित युक्तियुक्त और पर्याप्त प्रतिकर दिलाया जाए ।

2 प्रतिवादी के विरुद्ध इस वाद का पूर्ण खर्चा दिलाया जाए ।

3. कोई अन्य अनुतोष या अनुतोषों जो विद्वान् न्यायालय की राय में यह समुचित हो कि वादी हकदार है, दिलाया जाए ।

विजय कृष्ण उनियाल
वादी
ह0/
(इन्दु मौली उनियाल)
सम्यक् रूप से गठित मुख्तारनामा"

6. वादपत्र के भाव से यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट होता है कि वाद, तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख द्वारा वाद संपत्ति में वादी द्वारा अर्जित हक के आधार पर फाइल किया गया था । उस प्रत्याख्यान पर, यह अभिवाक् किया गया है कि प्रतिवादी को उसके स्वामी होने के काल्पनिक आधार पर वाद संपत्ति का कब्जा लेने का कोई अधिकार नहीं है । वादी ने उक्त संपत्ति के स्थापित अधिभोग में होने का दावा किया है । वादी ने यह भी प्रत्याख्यान किया है कि उसे वाद संपत्ति में अधिभोग के अधिकार प्राप्त हैं जो उसमें निहित स्वामित्व अधिकारों के सदृश्य हैं । उस आधार पर, यह अभिवाक् किया गया कि वाद संपत्ति का कब्जा वादी द्वारा मात्र अर्जन के माध्यम से और उसके युक्तियुक्त प्रतिकर का संदाय करने के माध्यम से ही लिया जा सकता है । वादी ने वैकल्पिक रूप में, यह भी अभिवाक् किया है कि वह वाद संपत्ति के एवज में 60 वर्षों से अधिक कोई किराया संदत्त किए बिना लंबे और निर्विघ्न कब्जे के कारण वाद संपत्ति में पूर्ण स्वामित्व अधिकार अर्जित कर लिया है ।

7. वादी द्वारा किए गए प्रत्याख्यानों का अपीलार्थी द्वारा लिखित कथन फाइल करते हुए विरोध किया गया । यह सुस्पष्टतः कथन किया गया कि वादी ने रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के अधीन पूर्ववर्ती धारक से मात्र अधिभोगी अधिकारों को अर्जित किया था और न कि वाद के पूर्ण स्वामित्व को अर्जित किया था । संपत्ति, अपीलार्थी से संबंधित है और अपीलार्थी के लिए यह खुला था कि वह पुराने राष्ट्रीय प्रतिरक्षा अनुदान की अपेक्षा के निबंधनों में उसे पुनः ग्रहण कर लेता । अपीलार्थी ने सुस्पष्टतः वादी के इस प्रत्याख्यान से इनकार किया कि अधिभोगी अधिकार स्वामित्व अधिकारों के सदृश्य होते हैं अथवा यह कि वादी प्रतिकूल कब्जे के कारण वाद संपत्ति का पूर्ण स्वामी हो गया है । अपीलार्थी द्वारा यह प्रत्याख्यान किया गया कि भूमि को पुनः ग्रहण करना अपेक्षित था जिसे प्राइवेट अधिभोगी धारक को पुराने अनुदान निबंधनों में मूल रूप से प्रदान किया गया था । यह वाद संपत्ति के अर्जन का मामला नहीं है, अपितु पुराने अनुदान में अनुध्यात निबंधनों में पुनः ग्रहण करने का मामला है । युक्तियुक्त प्रतिकर का अधिनिर्णय करने की प्रार्थना के बारे में, अपीलार्थी ने यह कथन किया कि यह वादी (मूल प्रत्यर्थी) के लिए खुला था कि वह तत्कालीन गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा तारीख 12 अगस्त, 1836 के जनरल आर्डर सं. 179 द्वारा जारी पुराने अनुदान विनियमों के निबंधनों में युक्तियुक्त प्रतिकर का अवधारण करने के लिए सरकार से माध्यस्थम् समिति गठित करने का निवेदन कर सकता है । अपीलार्थी द्वारा यह भी प्रत्याख्यान किया गया कि

यह दलील गलत थी कि वादी ने कभी भी प्रतिकर के लिए कोई प्रस्थापना नहीं की थी । यह भी कि वादी इस प्रकार की भूमि पर खड़े मात्र निर्माणों के संबंध में ही उपयुक्त प्रतिकर पाने का हकदार होगा न कि संपूर्ण भूमि के संबंध में । इस प्रकार, अपीलार्थी ने यह प्रार्थना की कि वाद खारिज किए जाने योग्य है । अभिवचनों के आधार पर, विचारण न्यायालय ने चार विवाद्यक विरचित किए, जो इस प्रकार हैं :–

"1. क्या वादी विवादित संपत्ति का पूर्ण स्वामी है और इस प्रकार की संपत्ति को पुनःग्रहण नहीं किया जा सकता है ?

2. क्या वाद, सी. पी. सी. की धारा 80 के अधीन अपेक्षित नोटिस के कारण दूषित है ?

3. क्या प्रतिवादी द्वारा संपत्ति को पुनः ग्रहण करने का अधिकार है और वादी मात्र प्रतिकर पाने का हकदार है ?

4. अनुतोष ?"

(रेखांकन जोर देने के लिए किया गया है)

8. दोनों पक्षकारों ने अपने आधारों के समर्थन में क्रमशः मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्य प्रस्तुत किए । तथापि, विचारण न्यायालय ने वादी (मूल प्रत्यर्थी) के विरुद्ध विवाद्यकों का उत्तर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि वाद संपत्ति भारत सरकार से संबंधित है । वादी (मूल प्रत्यर्थी) का कब्जा भी उसमें उसके हक पूर्वाधिकारियों के पक्ष में पुराने अनुदान से सीमित अधिभोगी अधिकार के ही रूप में मिले थे । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादी को संपत्ति को पुनः ग्रहण करने का अधिकार है और वादी (मूल प्रत्यर्थी) उस पर किए गए निर्माण के लिए मात्र प्रतिकर ही प्राप्त करने का हकदार है । तद्नुसार, विचारण न्यायालय ने तारीख 19 अक्तूबर, 1997 के निर्णय और डिक्री द्वारा संपूर्ण वाद को खारिज कर दिया ।

9. इससे व्यथित होकर वादी (मूल प्रत्यर्थी) ने अपर जिला न्यायाधीश-II देहरादून के समक्ष 1997 की सिविल अपील सं. 69 फाइल की । अपील न्यायालय ने अपने विचार के लिए चार मुद्दों को विरचित किया, जो इस प्रकार है :–

"1. क्या अपीलार्थी/वादी, वाद संपत्ति के स्वामी हो गए हैं ?

2. क्या सी. पी. सी. की धारा 80 की नोटिस जारी नहीं होने

का प्रभाव हानिकारक है ?

3. क्या प्रतिवादियों/प्रत्यर्थियों को संपत्ति में अधिकार प्राप्त हो गए हैं और वादी मात्र प्रतिकर पाने का हकदार है ?

4. क्या वादी, ईप्सित अनुतोष/अनुतोषों को पाने का हकदार है ?

(रेखांकन जोर देने के लिए किया गया है)

अपीली न्यायालय ने अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्यों और दस्तावेजों तथा वादी द्वारा निष्पादित स्वीकृति विलेख का विश्लेषण करने के पश्चात् अपने समक्ष उद्भूत प्रश्नों विशिष्टतया वाद संपत्ति के स्वामित्व के बारे में, का उत्तर दिया । प्रथम अपील न्यायालय ने विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित तथ्य के इस निष्कर्ष को कायम रखा कि वाद संपत्ति भारत सरकार से संबंधित है और वादी (मूल प्रत्यर्थी) उसका स्वामी नहीं है । प्रथम अपील न्यायालय के विनिश्चय से उद्धृत सुसंगत भाग इस प्रकार है :–

> "मैंने दोनों पक्षकारों को सुना और अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्यों और दस्तावेजों का परिशीलन किया । मेरे समक्ष प्रश्न यह है कि क्या अपीलार्थी-वादी वाद संपत्ति का स्वामी हो गया है या नहीं ? द्वितीय प्रश्न यह है कि क्या तारीख 9 अगस्त, 1985 का नोटिस जो अपीलार्थी को जारी किया गया था वह नियमानुसार था या नहीं । एक अन्य प्रश्न यह है कि क्या अपीलार्थी कोई प्रतिकर पाने का हकदार है या नहीं ?
>
> जहां तक स्वामित्व का संबंध है, दस्तावेज जिन्हें अपने मामले के समर्थन में अपीलार्थी/वादी द्वारा फाइल किया गया था, वह उन दस्तावेजों में विक्रय विलेख 23ए1 है ।
>
> उसके अनुसार, उसने इस संपत्ति को एस. जोध सिंह, एस. जोगेन्दर सिंह, एस. हरभजन सिंह, एस. रणजीत सिंह और अन्यों से क्रय किया था । इस प्रकार, प्रतिवादी/प्रत्यर्थी यदि यह दलील उद्भूत करते हैं कि यह भूमि भारत सरकार से संबंधित है । अपीलार्थी/वादी के पास इस संपत्ति पर कोई स्वामित्व अधिकार नहीं है । अपने पक्षकथन के समर्थन, उन्होंने सूची 20-सी और 27-सी और 35-सी के माध्यम से दस्तावेजों को फाइल किया जिसमें 38-सी उक्त स्वीकृति विलेख है जिसमें अपीलार्थी/वादी ने यह स्वीकार किया है कि यह संपत्ति एक घोषणा विलेख 39-सी के

> द्वारा भारत सरकार में निहित हो गई है, यह स्वीकार किया गया है कि भारत सरकार के अधिकार इस संपत्ति में निहित हो गए हैं और यह भी स्वीकृत है कि यदि इसका पुनः ग्रहण किया जाता है तो निर्माण के लिए प्रतिकर उसे संदत्त किया जाएगा । इसी प्रकार, जोगेन्दर सिंह, जिसने इस संपत्ति को अपीलार्थी/वादी को विक्रय किया था, उसने भी विरोधी पक्षकार के पक्ष में ऐसा विलेख निष्पादित किया था । इन दस्तावेजों से यह प्रकट होता है कि यह वाद भारत सरकार से संबंधित है और अपीलार्थी/वादी उक्त भूमि के स्वामी नहीं हैं । इस प्रकार, विद्वान् निचले न्यायालय का यह निष्कर्ष अभिलेखों के अनुसार, भूमि नियमों के अधीन है ।"

(रेखांकन जोर देने के लिए किया गया है)

10. जहां तक प्रतिकर का संबंध है, प्रथम अपील न्यायालय की यह राय थी कि वादी (मूल प्रत्यर्थी) उस प्रतिकर को पाने के लिए हकदार है जिसके लिए उसने प्रथमदृष्ट्या, उसे संदत्त किए जाने वाले समुचित प्रतिकर का अवधारण करने के लिए एक मध्यस्थ की नियुक्ति के लिए सरकार के पास आवेदन किया था । परिणामतः, प्रथम अपील न्यायालय ने मात्र प्रतिकर के विवाद्यक पर विचारण न्यायालय के निर्णय को अपास्त करते हुए, अपील भागतः मंजूर कर ली थी । प्रथम अपील न्यायालय ने विचारण न्यायालय द्वारा पारित डिक्री को उपांतरित करते हुए प्रवर्तित आदेश पारित किया, जो इस प्रकार है :–

आदेश

> अपीलार्थी की अपील भागतः मंजूर की जाती है और प्रतिकर के बारे में निचले न्यायालय का निर्णय अपास्त किया जाता है । अपीलार्थी/वादी वाद संपत्ति के लिए वह प्रतिकर पाने का हकदार है, जिस प्रतिकर को पाने के लिए उसने प्रतिवादियों के पास आवेदन प्रस्तुत किया था और सुनवाई के पश्चात् प्रतिवादी ने ऐसा प्रतिकर अवधारित किया था । दोनों पक्षकार क्रमशः अपने खर्चों का स्वयं वहन करेंगे ।

11. प्रथम अपील न्यायालय के विनिश्चय के विरुद्ध वादी (मूल प्रत्यर्थी) ने 2001 की द्वितीय अपील सं. 206 के माध्यम से उत्तराखंड उच्च न्यायालय, नैनीताल के समक्ष अपील फाइल की । पक्षकारों की सुनवाई करने के पश्चात् उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने तारीख 14 जुलाई, 1999 के आदेश द्वारा विधि के दो सारवान् प्रश्नों को विरचित करते

हुए द्वितीय अपील स्वीकार कर लिया । उक्त आदेश, इस प्रकार है :–

"अपीलार्थियों के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री रवि किरण जैन को सुना ।

यह निवेदन किया गया है कि तारीख 19 अगस्त, 1985 की नोटिस, जैसा कि शपथपत्र के उपाबंध-2 में अंतर्विष्ट है, प्रश्नगत संपत्ति को प्रत्यर्थी द्वारा पुनः ग्रहण कर लिया गया था और 17,275/- रुपए की रकम को प्रतिकर के रूप में प्रस्थापित किया गया था । यह निवेदन किया गया है कि प्रतिकर की रकम, का अवधारण अपीलार्थी को कोई अवसर दिए बिना मनमाना तरीके से किया गया है । यह निवेदन किया गया है कि अपीलार्थी को बेकब्जा नहीं किया जा सकता है और प्रत्यर्थी ऐसी नोटिस के आधार पर भूमि को पुनः ग्रहण नहीं कर सकते हैं । उसका अगला निवेदन यह है कि इस प्रभाव का कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया है कि भूमि, प्रत्यर्थी से संबंधित है । प्रतिवादी/प्रत्यर्थी ने वादी/अपीलार्थी के कतिपय स्वीकृति का अवलंब लिया है, जो अकेले ही पर्याप्त नहीं है ।

विद्वान् काउंसेल ने 1978 की द्वितीय अपील सं. 286, पुरुषोत्तम दास टंडन **बनाम** भारत संघ, विनिश्चित तारीख 17 नवम्बर, 1981 में इस न्यायालय के निर्णय का अवलंब लिया है ।

अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल को सुनने और अपने तर्कों के समर्थन में निर्दिष्ट निर्णय पर विचार करने के पश्चात्, यह अपील निम्नलिखित सारवान् विधि के प्रश्नों पर स्वीकार की जाती है –

1. क्या प्रतिवादी/प्रत्यर्थी द्वारा जारी तारीख 19 अगस्त, 1985 का नोटिस, वादी/अपीलार्थी को प्रतिकर की रकम को अवधारित करने के लिए सुनवाई का अवसर दिए बिना भूमि पुनः ग्रहण करने और बेकब्जा करने का हकदार बनाता है ?

2. क्या प्रतिवादियों/प्रत्यर्थियों द्वारा प्रस्तुत किसी अन्य साक्ष्य के अभाव में वादी/अपीलार्थी की अभिकथित स्वीकृति के आधार मात्र पर ही संपत्ति को प्रत्यर्थियों से संबंधित अभिनिर्धारित किया जा सकता है और तद्द्वारा उसका पुनः ग्रहण किया जा सकता है ?

प्रत्यर्थियों को जारी नोटिस ।

विचारण न्यायालय का अभिलेख मंगाया जाए और सुनवाई के लिए तारीख 21 सितम्बर, 1999 सूचीबद्ध किया जाए ।"

(रेखांकन जोर देने के लिए किया गया है)

12. द्वितीय अपील को अंतिम तौर पर विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा सुना गया और तारीख 28 फरवरी, 2008 के निर्णय और डिक्री द्वारा इसे खारिज कर दिया गया, यह निष्कर्ष निकालते हुए कि इसमें गुणागुण का अभाव है । विवाद्यकों, जैसा कि इस न्यायालय के समक्ष विचार के लिए उद्भूत हुआ है, की परीक्षा करने के प्रयोजन के लिए, उक्त विनिश्चय के सुसंगत भाग को नीचे प्रस्तुत करना लाभदायक होगा, जो इस प्रकार है :–

"* * * * *

15. जहां तक स्वामित्व के संबंध में, अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा किए गए पूर्वोक्त निवेदन का संबंध है, दोनों निचले न्यायालयों ने इस विवाद्यक पर समवर्ती निष्कर्ष निकालते हुए, यह निष्कर्ष निकाला है कि संपत्ति भारत संघ से संबंधित है ।

16. * * * * *

17. अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने उसके पक्ष में निष्पादित तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख पर जोर दिया है, जो उसके पक्ष में विवादित संपत्ति के स्वामित्व के बारे में प्रथमदृष्ट्या मामला दर्शित करता है । अभिलेखों के परिशीलन से यह भी प्रकट होता है कि वादी उसके कब्जे में है ।

18. विवादित संपत्ति के हक पर विचार किए बिना, यह स्पष्ट किया जाता है कि अपीलार्थी को विधि के अनुसरण के सिवाय, विवादित संपत्ति से बेदखल नहीं किया जाएगा । अपीलार्थी को पूर्ण अवसर पर दिया जाएगा, यदि उसके विरुद्ध बेदखली की कार्यवाहियां आरंभ की जाती हैं । विचारण न्यायालय के साथ ही अपील न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष, अपीलार्थी के रास्ते में बाधा नहीं बनेंगे और अपीलार्थी को अपनी प्रतिरक्षा करने की स्वतंत्रता होगी और उसे विधि के अनुसरण में विनिश्चित किया जाएगा ।

19. पूर्वोक्त मताभिव्यक्तियों के अध्यधीन द्वितीय अपील गुणागुण रहित है और इसे खारिज किया जाता है । खर्चे का कोई आदेश नहीं किया जाता है ।"

(रेखांकन बल देने के लिए किया गया है)

13. विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा पैरा 17 और 18 में किए गए मताभिव्यक्तियों, जो अपीलार्थी के अनुसार दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित समवर्ती निष्कर्षों और उच्च न्यायालय द्वारा उन्हें कायम रखने के प्रभाव को समाप्त करने की क्षमता रखता है और स्वामित्व के मुद्दे को पुनः उठाने के लिए प्रत्यर्थी को प्रोत्साहित करता है, जो पहले ही व्यवस्थित हो चुका है, से अपीलार्थी व्यथित है । इसलिए, अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष 2001 की द्वितीय अपील सं. 206 के निपटारे में 2008 की पुनर्विलोकन आवेदन सं. 668 फाइल की । तथापि, विद्वान् एकल न्यायाधीश ने तारीख 19 जून, 2008 के निर्णय और आदेश द्वारा उक्त पुनर्विलोकन आवेदन को खारिज कर दिया । पुनर्विलोकन आवेदन पर पारित आदेश, इस प्रकार है :–

"अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल श्री डी. बर्तवाल को सुना और प्रत्यर्थी की ओर से कोई उपस्थित नहीं हुआ ।

वर्तमान पुनर्विलोकन आवेदन जो तारीख 28 फरवरी, 2008 के आदेश का पुनर्विलोकन करने के लिए फाइल किया गया है, जैसा कि पैरा 3 में उल्लिखित है, का निम्नलिखित प्रभाव है –

'यद्यपि, वादियों के द्वितीय अपील में निकाले गए पूर्वोक्त निष्कर्षों को माननीय उच्च न्यायालय द्वारा खारिज किए जाने के कारण तथ्य के निष्कर्षों का प्रभाव समाप्त हो जाता है और मामले को पुनः उठाने का अवसर मिलता है, जो अवैध और अनुचित है ।'

मैं पहले ही यह निर्दिष्ट कर चुका हूं कि अपीलार्थी के पक्ष में निष्पादित तारीख 14 अगस्त, 1980 का एक रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख है । प्रतिवादी द्वारा फाइल लिखित कथन में, यह कथन किया गया है कि वादी प्रश्नगत संपत्ति का स्वामी नहीं है और वादी संपत्ति का उन्मोचन होने पर मात्र प्रतिकर पाने के हकदार हैं ।

पूर्वोक्त को ध्यान में रखते हुए, मैं यह निर्देश देता हूं कि अपीलार्थी विधि के अनुसरण के सिवाय, विवादित संपत्ति से बेदखल नहीं किए जाएंगे और उन्हें स्वयं अपनी प्रतिरक्षा करने का पूर्ण अवसर दिया जाएगा, यदि उनके विरुद्ध कार्यवाहियां आरंभ की जाती हैं ।

पूर्वोक्त को ध्यान में रखते हुए, पुनर्विलोकन के लिए कोई आधार नहीं बनता है ।

पुनर्विलोकन आवेदन खारिज किया जाता है ।"

14. इसलिए, अपीलार्थी ने दोनों विनिश्चयों, उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश के तारीख 28 फरवरी, 2008 के आक्षेपित निर्णय के पैरा 17 और 18 में किए गए मताभिव्यक्तियों के विरुद्ध द्वितीय अपील खारिज करते समय और पुनर्विलोकन आवेदन में तारीख 19 जून, 2008 के निर्णय को भी चुनौती देते हुए, इन अपीलों के माध्यम से इस न्यायालय के समक्ष अपीलें फाइल की हैं । अपीलार्थी के अनुसार, मताभिव्यक्तियां पूर्णतया अनधिकृत हैं और संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक पर दोनों न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य के समवर्ती निष्कर्षों के अनुसरण में हैं और सुस्थिर विधिक प्रतिपादना के विरोध में भी है । अपीलार्थी द्वारा यह दलील दी गई है कि वाद संपत्ति वादी (मूल प्रत्यर्थी) द्वारा पुराने अनुदान निबंधनों पर धारित की गई थीं, जो बी-3 संवर्ग के रूप में वर्गीकृत थी । संपत्ति, तारीख 2 अगस्त, 1948 के विक्रय विलेख द्वारा चार्ल्स गार्डन स्टीवर्ट से श्रीमती ई. वाल्स के कब्जे में आ गई थी और उसके बाद, तारीख 15 दिसम्बर, 1970 के विक्रय विलेख द्वारा संपत्ति श्रीमती ई. वाल्स से सरदार करतार सिंह और अन्यों के कब्जे में आ गई थी और अंतिम तौर पर तारीख 14 अगस्त, 1980 के विक्रय विलेख द्वारा सरदारनी सतवंत कौर से श्री विजय कृष्ण उनियाल, वादी (मूल प्रत्यर्थी) के कब्जे में आ गई थी । इन दस्तावेजों से, यह प्रकट होता है कि अंतरकों ने अंतरितियों के पक्ष में मात्र भवनों को अंतरित किया था और इन रजिस्ट्रीकृत प्रत्येक विक्रय विलेखों में यह स्पष्टतः कथित है कि भूमि और वृक्ष भारत सरकार की संपत्ति हैं । इस प्रकार भूमि और वृक्षों को अंतरितियों में से कोई भी कभी भी क्रय नहीं कर सकता था । अपीलार्थी ने तारीख 12 सितम्बर, 1836 के जी. जी. आई. 170 के अधीन शासित पुराने अनुदान के निबंधनों का अवलंब लिया है, जो सरकार को एक माह की नोटिस देने के पश्चात् पुराने अनुदान को पुनः ग्रहण करने के लिए समर्थ बनाता है । अपीलार्थी के अनुसार, विनियम, गवर्नर जनरल को प्रवर्तित प्राधिकृत आदेशों को वापस लेने या प्रतिस्थापित करने के लिए सशक्त करते हैं, जो कानूनी विनियम हैं । उच्च न्यायालय और अधीनस्थ न्यायालय भी तारीख 19 अगस्त, 1985 के वाद नोटिस में कोई कमी नहीं पाते हैं, जिसे वाद संपत्ति को पुनः ग्रहण करने के लिए

जारी किया गया था । इसलिए, उच्च न्यायालय के लिए ऐसी कोई मताभिव्यक्ति करने की स्वतंत्रता नहीं थी, जिससे संपत्ति के हक और स्वामित्व के निष्कर्षों को पुनः खोलने का अवसर मिल जाता, जिन्हें वादी (मूल प्रत्यर्थी) द्वारा फाइल स्थायी व्यादेश के लिए वाद में प्रत्यक्षतः और सारतः रूप से पहले ही न्यायनिर्णीत किया जा चुका है । इस तथ्यात्मक प्रास्थिति को वादी (मूल प्रत्यर्थी) द्वारा तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत स्वीकृति अभिलेख द्वारा और तारीख 14 अगस्त, 1980 के घोषणा अभिलेख द्वारा स्वीकार किया जा चुका है, जो असंदिग्ध तौर पर यह अभिलिखित करता है कि वाद संपत्ति में स्वामित्व के अधिकार भारत संघ में निहित है । यह भी घोषित किया जाता है कि भारत संघ को संपत्ति पुनः ग्रहण करने का अधिकार है । ये दस्तावेजें तारीख 14 अगस्त, 1980 के विक्रय विलेख के समय ही निष्पादित की गई थी, जो तारीख 19 अगस्त, 1980 को रजिस्ट्रीकृत थी । वादी ने तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के आधार पर स्वामित्व और हक का विवाद्यक भी उद्भूत किया और विचारण न्यायालय के साथ ही प्रथम अपील न्यायालय से संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक पर न्यायनिर्णयन करने का निवेदन किया । इसलिए, अब वादी (मूल प्रत्यर्थी) के लिए यह दलील देने के लिए खुला नहीं है कि उक्त विवाद्यक, अस्थायी व्यादेश के अनुतोष का मात्र आनुषंगिक है, जैसा कि अपीलार्थी को तारीख 19 अगस्त, 1985 के वाद नोटिस के अग्रसर में कार्य करने से रोकने और बंद करने की प्रार्थना की गई है । इसके अतिरिक्त, वादी (मूल प्रत्यर्थी) ने द्वितीय अपील में उच्च न्यायालय से विधि के दो सारवान् प्रश्नों को विरचित करने का निवेदन किया है, जो वाद संपत्ति के स्वामित्व के बारे में दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य के समवर्ती निष्कर्ष निकालने में आरोप्य थे । अपीलार्थी के अनुसार, मूल प्रत्यर्थी उच्च न्यायालय के समक्ष प्रथम सारवान् प्रश्न पर जोर या तर्क नहीं दे सकता है, यह अच्छी तरह से जानते हुए कि **भारत संघ और अन्य** बनाम **हरीश चंद आनंद**[1] वाले मामले के विनिश्चय मुद्दे पर प्रत्यक्षतः तौर पर विनिश्चित है, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि प्रतिकर की रकम अधिभोगी को अवसर देने के पश्चात् सुसंगत उपबंधों के अधीन अवधारित किए जाएंगे, जिसे वाद संपत्ति को पुनः ग्रहण करने और कब्जे में लेने के पश्चात् भी किया जा सकता है । उस दशा में

---

[1] (1995) (सप्ली.) 4 एस. सी. सी. 113.

पुनः ग्रहण के अधीन भूमि पर निर्मित भवन के मूल्य का अवधारण तात्विक तथ्य और उसका संदाय परिणामस्वरूप किया जाता है । अपीलार्थी के अनुसार, विधि के द्वितीय सारवान् प्रश्न पर दोनों निचले न्यायालयों ने तथ्य का यह समवर्ती निष्कर्ष निकाला है कि वाद संपत्ति का स्वामित्व, भारत सरकार में निहित है और इसे वादी (मूल प्रत्यर्थी) द्वारा अपने पक्ष में तारीख 14 अगस्त, 1980 के विक्रय विलेख की रजिस्ट्रीकरण के समय पर की गई उद्घोषणा में भी सम्यक् रूप से स्वीकार किया गया था । अपीलार्थी ने इस न्यायालय के विनिश्चयों का भी अवलंब लिया कि अपने इस तर्क के समर्थन में कि यदि भूमि पुराने अनुदान द्वारा आच्छादित थी और बी-3 के रूप में वर्गीकृत थी तो सरकार के लिए पुराने अनुदान और उसके अधीन विरचित निबंधनों के अधीन में एक माह के नोटिस देने के पश्चात् भूमि को पुनः ग्रहण करने का अधिकार खुला था । उन्होंने **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **जहूर अहमद और एक अन्य**[1], **हरीश चंद आनंद** (उपर्युक्त), **मुख्य कार्यपालक अधिकारी** बनाम **सुरेन्द्र कुमार वकील और अन्य**[2], **भारत संघ और अन्य** बनाम **कमला वर्मा**[3], **अजीम अहमद काजमी और अन्य** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य**[4], **भारत संघ और अन्य** बनाम **राबर्ट जामविया स्ट्रीट**[5], **पुरुषोत्तम दास टंडन (मृत)** मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण** बनाम **मिलिट्री इस्टेट आफिसर और अन्य**[6] तथा **उषा कपूर और अन्य** बनाम **भारत सरकार और अन्य**[7] वाले मामलों का अवलंब लिया ।

15. अपीलार्थी ने यह दलील दी कि वादी, वाद संपत्ति पर निर्मित निर्माण के लिए मात्र युक्तियुक्त प्रतिकर पाने का अधिकार है । अपीलार्थी के अनुसार, ऐसी नोटिस के बावजूद वादी (मूल प्रत्यर्थी) का निरंतर कब्जा, अवैध कब्जा है । दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अपनाए गए इस मत को उच्च न्यायालय द्वारा उलटा नहीं गया है । तथ्य यह है कि उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपील खारिज कर दिया था, यह निष्कर्ष निकालते हुए कि इसमें गुणागुण का अभाव है । तथापि, ऐसी मताभिव्यक्तियां, दोनों निचले

---

[1] (1973) 2 एस. सी. सी. 547.
[2] (1999) 3 एस. सी. सी. 555.
[3] (2010) 13 एस. सी. सी. 511.
[4] (2012) 7 एस. सी. सी. 278.
[5] (2014) 6 एस. सी. सी. 707.
[6] (2014) 9 एस. सी. सी. 344.
[7] (2014) 16 एस. सी. सी. 481.

न्यायालयों द्वारा अभिलिखित प्रश्नगत भूमि के स्वामित्व के बारे में तथ्य के समवर्ती निष्कर्ष को बिना उन्हें उलटे दुर्बल बनाती हैं । इस प्रकार, प्रथमदृष्ट्या विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा उल्लिखित राय अभिलेख पर के निर्विवाद तथ्यों और सामग्रियों के प्रतिकूल है और इस प्रकार वादी (मूल प्रत्यर्थी) को प्रस्थापित बेदखली कार्रवाई में वाद संपत्ति के स्वामित्व के अभिवाक् को उठाने की स्वतंत्रता मंजूर करने का अनुसमर्थन नहीं किया जा सकता है । ऐसा अभिवाक् आन्वयिक प्राङ्-न्याय के सिद्धांतों द्वारा वर्जित होता है । इस न्यायालय के समक्ष प्रत्यर्थियों द्वारा लिए गए आधार के उत्तर में, यह दलील दी गई कि प्रतिवादी (अपीलार्थी) की इन अपीलों में प्रत्यर्थियों के लिए यह खुला नहीं है कि वे इस न्यायालय का ध्यान वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक के संबंध में तथ्य के समवर्ती निष्कर्षों को उलटने की ओर दिलाएं, जो वाद संपत्ति में वादी के हक और स्वामित्व के आधार पर स्थायी व्यादेश के अनुतोष के लिए वाद खारिज किए जाने की डिक्री को चुनौती देने में असफल रहे हैं । स्वीकृततः, वादी ने अपने स्वामित्व के बारे में वाद नोटिस में प्रतिवादी के प्रत्याख्यान के बावजूद समुचित घोषणा के लिए वाद फाइल नहीं किया । इसके अतिरिक्त, वादी ने भारत सरकार की वाद संपत्ति का स्वामित्व होने को स्पष्टतः स्वीकार किया है जैसा कि रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के साथ निष्पादित उसी समय की घोषणा में कथित है । स्वीकृततः, विक्रय विलेख, रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार के प्रति निर्दिष्ट करता है । तारीख 13 सितम्बर, 1979 को वादी के पक्ष में निष्पादित रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार के वर्णनों और अनुबंधों जो रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के निष्पादन सूचित करता है, अपीलार्थी का वाद भूमि में स्वामित्व की स्वीकृति का स्पष्ट परिसाक्ष्य है । वाद में कोई घोषणा ईप्सित नहीं की गई है, क्योंकि मूल तौर पर यह फाइल करने या संशोधित करने के लिए कि उक्त दस्तावेजों में वर्णन अवैध है और वादी पर आबद्धकर नहीं है । अपीलार्थी के अनुसार, वादी के लिए या उसकी ओर से या उसके अधीन दावा करने के लिए व्यक्तियों के लिए यह खुला नहीं है कि वे स्थायी व्यादेश के अनुतोष को नामंजूर करते हुए पारित डिक्री के विरुद्ध अपील फाइल किए बिना चुनौती के अधीन निर्णय में आक्षेपित मताभिव्यक्तियों को कायम रखने के लिए भूमि के स्वामित्व के संबंध में तथ्य के समवर्ती निष्कर्षों को चुनौती दें, या उन पर जोर दें जिसे वस्तुतः उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील खारिज करते हुए कायम रखा गया था, इस निष्कर्ष पर कि इसमें गुणागुण का अभाव है । अपीलार्थी ने यह प्रार्थना की है कि आक्षेपित निर्णय और डिक्री के पैरा 17 और 18 में कथित

मताभिव्यक्तियां अपास्त किए जाने और अभिलेख से मिटा दिए जाने योग्य हैं ।

16. तथापि, प्रत्यर्थियों (मृतक वादी – मूल प्रत्यर्थी के उत्तराधिकारी और विधिक प्रतिनिधिगण) ने यह दलील दी कि ये अपीलें खारिज किए जाने योग्य हैं क्योंकि इनमें इस न्यायालय द्वारा अपेक्षित हस्तक्षेप करने के लिए अत्यधिक लोक महत्व के कोई सारवान् विधिक प्रश्न उद्भूत नहीं हुए हैं । प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय वाद संपत्ति के स्वामित्व के बारे में, प्रश्न छोड़ने में न्यायोचित था, प्रत्यर्थियों को इस स्वतंत्रता के साथ कि वे इसे बेदखली कार्यवाहियों में उद्भूत कर सकते हैं । यह **अंतुला सुधाकर** बनाम **पी. बुची रेड्डी (मृत)** मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण और अन्य**[1], **सज्जादनशीन सैय्यद एम. डी. बी. ई. ई. डी. आर. (मृत)** मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण** बनाम **मूसा दादाभाई उमेर और अन्य**[2], तथा **ग्राम पंचायत, ग्राम नौलखा** बनाम **अजगर सिंह और अन्य**[3] वाले मामलों में, इस न्यायालय के निर्णय के अनुसार था । यह भी दलील दी गई कि अपीलार्थी, तारीख 24 फरवरी, 2010 के आदेश द्वारा इस न्यायालय के निर्देशों के बावजूद अभिकथित पुराने अनुदान को प्रस्तुत करने में असफल रहा है – जो विवाद्यक का जड़ है और भूमि के स्वामित्व और उस एवज में वादी के अधिकारों को भी सिद्ध करने के लिए आवश्यक है । **भारत संघ** बनाम **पुरुषोत्तम दास टंडन और एक अन्य**[4] वाले मामले का अवलंब लेते हुए यह दलील दी गई है कि क्योंकि सरकार मूल पुराने अनुदान को प्रस्तुत करने में असफल रही है, इसलिए, वाद संपत्ति के हक के संबंध में कोई दावा नहीं किया जा सकता है । प्रत्यर्थियों के अनुसार, अनुदान के निबंधनों को भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 97 के निबंधनों में ऐसे दस्तावेजों के माध्यम से ही साबित किया जा सकता है । उसके बाद यह निवेदन किया गया है कि अपीलार्थी ने लैंडोवर कन्टोनमेंट के मूल अनुदान रजिस्टर को प्रस्तुत किया है जिसमें यह उल्लिखित है कि इस मामले में अनुदान, वाल्स सेटलमेंट, 1842 के अधीन 'फी सिंपल' था, जो भूमिधारकों और वादी के हक पूर्वाधिकारियों के अधिकारों की प्रकृति को उपदर्शित करता है । अतिरिक्त तौर पर, यह

[1] (2008) 4 एस. सी. सी. 594.
[2] (2000) 3 एस. सी. सी. 350.
[3] (2000) 7 एस. सी. सी. 543.
[4] (1986) (सप्ली.) एस. सी. सी. 720.

निवेदन किया गया है कि यदि न्यायालय इन अपीलों को ग्रहण करता है तो यह उच्च न्यायालय के समक्ष पक्षकारों को भेजने के लिए ठीक मामला हो सकता है । चूंकि, यद्यपि उच्च न्यायालय ने दो सारवान् विधि के प्रश्नों को विरचित किया है, इसलिए इस प्रकार के उत्तर का चुनाव नहीं किया जा सकता है, कम से कम आक्षेपित निर्णय को उलटने के संबंध में । **सत्येन्द्र कुमार (मृत)** मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण** बनाम **मस्त राम उनियाल (मृत)** मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण**[1] के मामले में, इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लिया गया है । प्रत्यर्थियों के अनुसार उनके लिए कोई प्रति आक्षेप या प्रति अपील फाइल किए बिना अपील के अधीन निर्णय के निष्कर्षों को आक्षेप करने के लिए खुला है । उसके लिए उन्होंने **रविन्दर कुमार शर्मा** बनाम **असम राज्य और अन्य**[2], **एस. नजीर अहमद** बनाम **स्टेट बैंक ऑफ मैसूर और अन्य**[3], **बलबीर कौर और एक अन्य** बनाम **उत्तर प्रदेश सेकेंडरी एजुकेशन सर्विसेज सेलेक्शन बोर्ड, इलाहाबाद और अन्य**[4], तथा **मैनेजमेंट ऑफ सुन्दरम् इंडस्ट्रीज लिमिटेड** बनाम **सुन्दरम् इंडस्ट्रीज इम्पलाइज यूनियन**[5] वाले मामलों का अवलंब लिया ।

17. प्रत्यर्थियों द्वारा यह भी निवेदन किया गया है कि निचले न्यायालयों से व्यादेश वाद में हक के प्रश्न को विनिश्चित करने की प्रत्याशा नहीं थी । **अंतुला सुधाकर** (उपर्युक्त) वाले मामले की मताभिव्यक्तियों का अवलंब लेते हुए यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक की परीक्षा नहीं करने में और इसे विचार के लिए खुला छोड़ने में सही था, यदि बेदखली कार्यवाहियों में प्रत्यर्थियों द्वारा उद्भूत किया जाता । इस एवज में पूर्वोक्त विनिश्चय के पैरा 21ग के निर्णयसार पर जोर दिया गया है । उसके बाद यह दलील दी गई है कि एक विवाद्यक विरचित करने और पूर्ण स्वामित्व के तथ्य पर निष्कर्ष निकालने के लिए व्यादेश के वाद में विनिश्चय करना आवश्यक नहीं था, विनिर्दिष्टतः, जब वादी ने एक स्वामी के रूप में स्वयं को वर्णित करते हुए प्रतिकूल कब्जे के माध्यम से लंबे समय से कब्जाधारी अधिकारों और स्वामित्व के बारे में अभिकथन किया है । यह अपीलार्थी ही है जिसने

---

[1] (2013) 14 एस. सी. सी. 367.
[2] (1999) 7 एस. सी. सी. 435.
[3] (2007) 11 एस. सी. सी. 75.
[4] (2008) 12 एस. सी. सी. 1.
[5] (2014) 2 एस. सी. सी. 600.

1836 की जी. जी. ओ. 179 के अधीन अभिकथित सरकारी अनुदान के आधार पर अभिवाक् उद्भूत किया था । इस प्रकार स्वामित्व या हक का प्रश्न व्यादेश के लिए वाद में मात्र आनुषंगिक विवाद्यक था और न कि आवश्यक अपेक्षा । चूंकि, यह स्वीकृत प्रास्थिति थी कि वादी (मूल प्रत्यर्थी) वाद संपत्ति के कब्जे में था, इसलिए यह साबित करने का भार कि वाद संपत्ति का स्वामित्व सरकार में है, उस प्रतिवादी पर था जिसने भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 110 के निबंधनों में उसका दावा किया है । उसके बाद यह दलील दी गई है कि व्यादेश के लिए वाद में हक पर निष्कर्ष जैसा कि वर्तमान मामले में निकाला गया है, हक की घोषणा के लिए पश्चात्वर्ती मामले में आबद्धकर नहीं होगा और जिसके कारण भी उच्च न्यायालय द्वारा की गई मताभिव्यक्ति असफल नहीं हो सकती है । **सज्जादनशीन सैय्यद** (उपर्युक्त) और **ग्राम पंचायत, ग्राम नौलखा** (उपर्युक्त) वाले मामलों में, इस न्यायालय के विनिश्चय का भी अवलंब लिया गया है । उसके बाद बिना पूर्वाग्रह के यह दलील दी गई है कि विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष, अभिलेखों के प्रतिकूल है और विधि में मान्य नहीं है । यह निवेदन किया गया है कि विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय ने भूमि के अनुदान तथ्य पर अपीलार्थी की कायम नहीं रखे जाने वाले प्रतिरक्षा को स्वीकार करने में स्पष्टतः गलती की है, जिसे उस दावे के समर्थन में सुसंगत शासकीय दस्तावेज को प्रस्तुत किए बिना गवर्नर जनरल्स आर्डर्स (1836 का जी. जी. ओ. 179) के अधीन किया गया था । भूमि के स्वामित्व को साबित करने का भार अपीलार्थी (प्रतिवादी) पर था जो गलत तौर पर वादी (मूल प्रत्यर्थी) को स्थानांतरित हो गया था । तथ्य यह है कि निचले न्यायालयों को अपीलार्थी (प्रतिवादी) के विरुद्ध प्रतिकूल निष्कर्ष निकालना चाहिए था । प्रत्यर्थियों ने **गोपाल कृष्णाजी केटकर** बनाम **मोहम्मद हाजी लतीफ और अन्य**[1] तथा **नेशनल इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड, नई दिल्ली** बनाम **जुगल किशोर और अन्य**[2] वाले मामलों में दिए गए निर्णय के निर्णयासार का अवलंब लेते हुए यह दलील दी है कि अपने कब्जे में दस्तावेजों को प्रस्तुत करने की बाध्यता प्रतिवादी पर थी । उसके बाद प्रत्यर्थियों ने यह दलील दी कि अपीलार्थी (मूल प्रतिवादी) द्वारा प्रस्तुत

---

[1] [1968] 3 एस. सी. आर. 862.

[2] (1988) 1 एस. सी. सी. 626.

लैंडोवर कन्टोनमेंट के अनुदान रजिस्टर से यह प्रकट होता है कि प्रश्नगत भूमि तारीख 14 अक्तूबर, 1882 के वेल्स रजिस्टर आदेश द्वारा फी सिंपल के अधीन धारित थी । उस साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि भूमि पर स्वामित्व प्राप्तिकर्ता का था । इस दलील के समर्थन में "हल्सबरीज लॉज ऑफ इंग्लैंड" तथा "ब्लैक्स ला डिक्शनरी" में विधिक तौर में परिभाषित वर्ड्स एंड फ्रेजेज का अवलंब लिया गया है । इसके अतिरिक्त, **सुरेन्द्र कुमार वकील** (उपर्युक्त) वाले मामले के निर्णय के पैरा 15 में इस न्यायालय के निर्णयासार का भी अवलंब लेते हुए यह दलील दी गई कि वर्तमान मामले में अपीलार्थी द्वारा प्रस्तुत अनुदान रजिस्टर के प्रमाणित उद्धरणों से यह स्पष्टतः दर्शित होता है कि अनुदान पूर्ण था और भूमि "फी सिंपल" के अधीन धारित थी । भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 114 के उद्धरण (छ) का अवलंब लेते हुए यह दलील दी गई कि क्योंकि भूमि "फी सिंपल" के अधीन धारित थी, इसलिए, उस एवज में लागू विधि के नियम, विधान-मंडल की संविधि/अधिनियमन पर अभिभावी होंगे । समर्थन में, **एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स प्रा. लि. और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लिया गया है । प्रत्यर्थियों ने यह दलील दी कि जे. पी. मित्तल द्वारा लिखित पुस्तक "कन्टोनमेंट लॉज" के आधार पर कतिपय उपधारणाएं गलत होंगी और ऐसी उपधारणाएं अनुदान रजिस्टर (प्रदर्श 79-सी) के प्ररूप में दस्तावेजी साक्ष्य द्वारा विश्वसनीय होनी चाहिए । रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के साथ निष्पादित तत्समय वादी द्वारा दिए गए स्वीकृति विलेख/घोषणाओं के संदर्भ में यह दलील दी गई कि वे न तो अनन्य हो सकती हैं न ही आबद्धकर । वे कन्टोनमेंट प्राधिकारियों द्वारा विधि/तथ्यों के भूलवश प्रभाव अथवा तथ्यों और विधि को छिपाने के अधीन प्राप्त की गई थी । निश्चित तौर पर वे वाद संपत्ति के हक या स्वामित्व का अवधारण करने का आधार नहीं हो सकती थी । इस निवेदन के समर्थन में, **मुहम्मद इमाम अली खान** बनाम **सरदार हुसैन खान**[2] और **नागूबाई अमल और अन्य** बनाम **बी. समा राव और अन्य**[3] के साथ ही **किशोरी लाल** बनाम **चलतीबाई**[4] वाले मामलों का

---

[1] (1986) 1 एस. सी. सी. 133.

[2] (1897-98) 25 आई. ए. 161.

[3] [1956] 1 एस. सी. आर. 451.

[4] [1959] (सप्ली.) 1 एस. सी. आर. 698 = ए. आई. आर. 1959 एस. सी. 504.

अवलंब लिया ।

18. अभिलेख पर के दस्तावेजों के संदर्भ में प्रत्यर्थियों का तर्क "फी सिंपल" का मामला है और इसलिए, वर्ष 1982 के पूर्व निर्माण के प्राइवेट स्वामित्व में प्राइवेट संपदा अभिनिर्धारित की जाती है जो लैंडोवर कन्टोनमेंट की स्थापना के पूर्व अस्तित्व में था, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्ण स्वामित्व की गारंटी थी । निष्कर्ष तौर पर विचारण न्यायालय या अपील न्यायालयों के समक्ष वादपत्र में विनिर्दिष्टतः ऐसे किसी मामले का न तो अभिवाचित किया गया था और न ही तर्क दिया गया था ।

19. प्रत्यर्थियों के अनुसार, वाद संपत्ति के हक और स्वामित्व के बारे में प्रश्न, तथ्य और विधि का एक जटिल प्रश्न था, जिसे किसी प्रकार से स्थायी व्यादेश के लिए वाद में प्रत्यक्षतः या सारतः नहीं उठाया जा सकता था, जो वादी के कब्जे का संरक्षण करने के लिए फाइल किया गया था । अतएव, उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा निर्णय के पैरा 17 और 18 में की गई इन मताभिव्यक्तियों में कोई गलती नहीं पाई जा सकती थी कि उन्होंने उक्त विवाद्यक को प्रत्यर्थी को बेदखली कार्यवाहियों में भी उठाने की स्वतंत्रता दी थी, जिसे अपीलार्थी द्वारा पुनः प्रतिस्थापित किया गया था । अतएव, उसमें हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए ।

20. हमने अपीलार्थी के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री पी. एस. पटवालिया और श्री ए. के. सांघी तथा प्रत्यर्थियों के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री सी. यू. सिंह को सुना ।

21. गंभीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात्, हम दोनों पक्षकारों द्वारा दिए गए इन तर्कों में बल पाते हैं कि उच्च न्यायालय, उस तरीके से मामले का विश्लेषण करने में असफल रहा है, जिस तरीके से उसे अंतिम सुनवाई के समय पर सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "सी. पी. सी." कहा गया है) की धारा 100 के अधीन द्वितीय अपील पर विचार करते समय किया जाना था । वर्तमान मामले में, उच्च न्यायालय ने दोनों विधि के सारवान् प्रश्नों का भी उल्लेख नहीं किया है जिसे 14 जुलाई, 1999 के अपने आदेश के निबंधनों में विरचित किया था, न ही मामले को समुचित तौर पर विश्लेषण किया है । चाहे जैसी भी स्थिति हो, अपीलार्थी (प्रतिवादी) ने अकेले ही आक्षेपित निर्णय को आक्षेपित किया है । वादी (मूल प्रत्यर्थी) की स्थायी व्यादेश के अनुतोष को नामंजूर करने वाले डिक्री की मौन स्वीकृति रही है, क्योंकि वह आक्षेपित निर्णय के विरुद्ध प्रति

अपील अथवा उसके लिए मामले में प्रति-आक्षेप फाइल करने में असफल रहा है ।

22. गंभीर विचार-विमर्श करने के पश्चात्, हमारा यह विचार है कि यह अपीलार्थी द्वारा उद्भूत मूल विवाद्यक की प्रथम परीक्षा के विरुद्ध है । उसके लिए, हमें उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 28 फरवरी, 2008 के निर्णय का विश्लेषण करना चाहिए । पैरा 1 से 14 में न्यायालय ने सुसंगत तथ्यों का वर्णन किया है जिनके कारण द्वितीय अपील फाइल की गई है । पैरा 15 का स्वयं द्वारा परिशीलन करने से यह इंगित होता है कि न्यायालय ने वादी (मूल प्रत्यर्थी) के विद्वान् काउंसेल के निवेदन को अभिलिखित किया और उन्हें नामंजूर कर दिया, यह उल्लिखित करते हुए कि दोनों निचले न्यायालयों ने समवर्ती तौर पर यह निष्कर्ष निकाला है कि संपत्ति, अपीलार्थी से संबंधित है । वस्तुतः, इसे सुसंगत तथ्यों का समुचित विश्लेषण किए बिना गलत तरीके से किया गया था । उस दलील को नामंजूर करने में भी तारीख 14 जुलाई, 1999 के अपने आदेश के निबंधनों में विरचित दोनों सारवान् विधि के प्रश्नों का पर्याप्त उत्तर नहीं दिया गया है । सारवान् प्रश्न यह विरचित किया गया था कि क्या प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत किसी अन्य साक्ष्य के अभाव में, संपत्ति प्रतिवादी द्वारा वादी की मात्र अभिकथित स्वीकृति के आधार पर धारित की जा सकती थी ।

23. चाहे जैसी भी स्थिति हो, उच्च न्यायालय ने स्वामित्व के विवाद्यक पर आक्षेपित निर्णय (जैसा कि निर्णय के पैरा 15 में दर्शित है) द्वारा निकाले गए समवर्ती निष्कर्षों को चुनौती देने वाले वादी के वाद को नामंजूर कर दिया था और उसके बाद अंततः यह निष्कर्ष निकाला कि द्वितीय अपील में गुणागुण का अभाव है और इसे खारिज किया जाता है, यह अयथार्थ है कि किस प्रकार उसके बाद यह मत व्यक्त किया जा सकता था कि तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के प्ररूप में साक्ष्य से वादी का वाद संपत्ति के बारे में प्रथमदृष्ट्या स्वामित्व दर्शित होता है । वादी का वाद संपत्ति में मात्र कब्जे के कारण ही इसकी स्वयमेव वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक के साक्ष्य के रूप में गणना नहीं की जा सकती है । हमें यह याद रखना चाहिए कि अस्थायी व्यादेश के अनुदान के लिए वादी का दावा तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख पर ही वाद संपत्ति में उसके हक और स्वामित्व पर आधारित था । निस्संदेह, उच्च न्यायालय ने वादी का वाद संपत्ति के स्वामित्व के बारे में अपना प्रथमदृष्ट्या मत अभिलिखित करने के लिए तारीख 14 अगस्त,

1980 के उक्त दस्तावेज के प्रति निर्देश किया है । यह भी सत्य है कि तारीख 14 अगस्त, 1980 का रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख, इस तथ्य के बारे में कोई उल्लेख नहीं करता है कि वाद संपत्ति को पुराने अनुदान और बी-3 संवर्ग के रूप में वर्गीकृत के अधीन वादी के हक-पूर्वाधिकारियों को दी गई थी अथवा यह कि यह भारत सरकार से संबंधित है । संभाव्यतः, उच्च न्यायालय ने पैरा 17 में अपना प्रथमदृष्ट्या मत अभिलिखित करने में मात्र उक्त रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख का अवलंब लिया है । यह इस जटिल रूह तथ्य का संपूर्ण व्याख्या करता है कि विक्रय विलेख, तारीख 13 सितम्बर, 1979 को वादी (मूल प्रत्यर्थी) और उसके हक-पूर्वाधिकारी के बीच निष्पादित रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार का परिणाम था, जिसे रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के रूप में निर्दिष्ट किया गया है, जो इस प्रकार है :–

> "जबकि विक्रेता, क्रेता के साथ तारीख 13 सितम्बर, 1979 के रजिस्ट्रीकृत करार सं. 9517, पुस्तक-1, खंड 1634, पृष्ठ 352-356 द्वारा उप-रजिस्ट्रार, देहरादून के कार्यालय में तारीख 23 नवम्बर, 1979 को 25,000/- रुपए (पच्चीस हजार रुपए मात्र) के प्रतिफल में उक्त ओल्फबर्न इस्टेट, लैंडोवर कन्टोनमेंट, मसूरी में स्थित संपत्ति का संपूर्ण विक्रय करने के लिए सहमत हुआ है ।"

पूर्वोक्त उल्लिखित रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार के संदर्भ में विक्रय विलेख निर्मित हुआ था । वादी के पक्ष में निष्पादित रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख में कोई अनिश्चित निबंधन नहीं थे, जिससे इस तथ्य की स्वीकृति होती है कि वाद संपत्ति सरकार से संबंधित है और अधिकार जिन्हें अंतरित किए जाने हैं, वे पुराने अनुदान के अधीन मंजूर उक्त भूमि में मात्र कब्जे के उपभोग करने का था, जो वादी के हक-पूर्वाधिकारी को लागू होते हैं । रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार का सुसंगत भाग इस प्रकार है :–

> "एतद्द्वारा, यह स्पष्ट किया जाता है कि ओल्फबर्न इस्टेट की कन्टोनमेंट सर्वे सं. 11 के अधीन भूमि, तद्द्वारा और इसमें अंतरित संपत्ति, भारत सरकार से संबंधित है । पुराने अनुदान के अधीन मंजूर उक्त भूमि के कब्जे के मात्र उपभोग करने के अधिकार हैं और स्व. श्रीमती इडिथ वाल्स द्वारा धारित थे और उसके पश्चात् उसके विल के निष्पादक और ट्रस्टी के रूप में उक्त श्री एम. जे. गोडिन के पास धारित थे और अंतिम रूप से विक्रेताओं को अंतरित किए जाने थे, जो विक्रेताओं द्वारा क्रेताओं को उस पर निर्मित और खड़े भवनों के साथ अंतरित किए जाने थे । उक्त ओल्फबर्न इस्टेट में खड़े वृक्ष भी भारत

सरकार से संबंधित हैं और उक्त वृक्षों के मामले में भी मात्र उपभोग करने के अधिकार हैं ।

(रेखांकन बल देने के लिए किया गया है)

24. उल्लेखनीय तौर पर, यह रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार, वाद संपत्ति के पूर्ववर्ती स्वामी के हक और हित को निर्दिष्ट करता है, जो उसके द्वारा तारीख 15 दिसम्बर, 1970 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के निबंधनों में तत्काल हक-पूर्वाधिकारी से प्राप्त किया गया था । निर्विवाद तौर पर, श्री एम. जे. गोडिन और सरदार करतार सिंह तथा पांच अन्यों के बीच तारीख 15 दिसम्बर, 1970 के उक्त रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख से भी इस तथ्य के बारे में पुनः वर्णन मिलता है कि वाद संपत्ति उसके कब्जे के सीमित उपभोग अधिकार के साथ सरकार से संबंधित थी, जिसे उक्त विक्रय विलेख के वर्णन से देखा जा सकता है, जो इस प्रकार है :–

"एतद्द्वारा, यह स्पष्ट किया जाता है कि इसमें अंतरित ओल्फर्बन इस्टेट संपत्ति के कन्टोनमेंट सर्वे सं. 11 के अधीन भूमि भारत सरकार से संबंधित है । पुराने अनुदान के अधीन मंजूर उक्त भूमि के कब्जे के उपभोग करने का मात्र अधिकार है और जिसे स्व. श्रीमती ईडिथ वाल्स (मृतक) द्वारा धारित किया गया था और उसके पश्चात् विक्रेता, निष्पादक और उसके विल के न्यासी के रूप में उस पर निर्मित और खड़े भवन निर्माणों के साथ इस विलेख को ध्यान में रखते हुए विक्रेताओं द्वारा क्रेता को अंतरित किया गया था । इसी प्रकार, उक्त ओल्फबर्न इस्टेट में खड़े वृक्ष भी भारत सरकार के हैं और उक्त वृक्षों में विक्रय के अध्यधीन मात्र उपभोग करने के अधिकार ही हैं ।"

25. कुछ और रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख हैं, जिन्हें अभिलेख पर लाया गया है जो तारीख 2 अगस्त, 1948 को श्री चार्ल्स गार्डन स्टीवर्ट और श्रीमती ई. वाल्स के बीच हुए थे । वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक पर विचार करते हैं । इस विक्रय विलेख के आधार पर ही निष्कर्ष तौर पर यह पुनः कथन किया जा सकता है कि वाद संपत्ति सरकार में निहित है । सुसंगत वर्णन इस प्रकार है :–

"जबकि ओल्फबर्न इस्टेट से संबंधित भूमि और उस पर खड़े वृक्ष सरकार में निहित हैं । क्रेता ने इसके पूर्व यह घोषित किया है कि उसके सरकार के पक्ष में स्वयं अपने खर्चे पर एक स्वीकृति

विलेख निष्पादित और रजिस्ट्रीकृत करेगी ।"

26. निर्विवाद तौर पर, वादी ने उन्हीं निबंधनों पर तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के अधीन वाद संपत्ति अर्जित किया है और इसलिए, तारीख 19 अगस्त, 1980 के विक्रय विलेख के रजिस्ट्रीकरण के समय पर ही स्वीकृति विलेख और घोषणा निष्पादित की है । वादी द्वारा निष्पादित स्वीकृति विलेख इस प्रकार है :–

"स्वीकृति विलेख

मैं, विजय कृष्ण उनियाल, पुत्र – पं. महेशनंद उनियाल, वर्तमान में, 4, ईल्सपाथ कॉलेज, मसोनिक लॉज रोड, मसूरी में रह रहा हूं और ओल्फबर्न इस्टेट, कन्टोनमेंट सर्वे सं. 11, लैंडोवर कन्टोनमेंट, मसूरी में स्थित माप 3.398 एकड़ भूमि के अधिभोगी अधिकारों का धारक हूं, तद्द्वारा, भूमि के साथ ही उस पर खड़े वृक्षों के स्वत्वधारी अधिकारों में भारत सरकार का हक स्वीकार करता हूं जो मेरे द्वारा धारित किया गया है और उपर्युक्त उल्लिखित संपत्ति से संबंधित है, जैसा कि भारत सरकार के स्वत्वधारी हक के अध्यधीन सर्वे प्लान में दर्शित किया गया है, जो भूमि मेरे द्वारा 'पुराने अनुदान' के निबंधनों (जी. जी. ओ. 179 ऑफ 12.9.1836) में मेरे द्वारा धारित है, स्वीकृति में ऐसा कुछ नहीं है जो पूर्वोक्त भूमि में मेरे द्वारा या मेरे हित उत्तराधिकारियों द्वारा इसमें इसके पश्चात् उपभोग करने वाले अधिकारों, विशेषाधिकारों और सुखाधिकारों के प्रतिकूल हो ।

भूमि की परिसीमा :

उत्तर की ओर – सर्वे सं. 13

दक्षिण की ओर – सर्वे सं. 16

पूर्व की ओर – सर्वे सं. 117

पश्चिम की ओर – सड़क

ह./-

(विजय कृष्ण उनियाल)
अधिभोगी अधिकारों का धारक

साक्षीगण :

1. प्रताप सिंह, 24, चमन इस्टेट, मसूरी

2. ह./- ड्रीम लॉज, मसूरी

इसी प्रकार, वादी द्वारा निष्पादित घोषणा विलेख इस प्रकार है :-

"घोषणा विलेख

मैं, विजय कृष्ण उनियाल, पुत्र – पं. महेशनंद उनियाल, वर्तमान में, 4, ईल्सपाथ कालेज, मसोनिक लॉज रोड, मसूरी में रह रहा हूं और ओल्फबर्न इस्टेट, कन्टोनमेंट सर्वे सं. 11, लैंडोवर कन्टोनमेंट, मसूरी में स्थित माप 3.398 एकड़ भूमि का स्वामी हूं, तद्द्वारा, शपथ पर यह घोषणा करता हूं :-

(क) कि मैं सरकार द्वारा संपत्ति को पुनः ग्रहण करने के अधिकारों को स्वीकार करता हूं ,

(ख) कि पुनः ग्रहण करने की दशा में, मुझे मात्र प्राधिकृत निर्माणों के ही प्रतिकर संदत्त किया जाएगा जैसा कि सामान्य प्रक्रिया के अधीन विभाग द्वारा निर्धारित किया जाएगा और विक्रय मूल्य प्रतिकर के लिए आधार प्ररूप नहीं होना चाहिए, और

(ग) कि मुझे संपत्ति के धारक के रूप में माना जाएगा और इसका कोई उपविभाजन नहीं होगा ।

ह./-

(विजय कृष्ण उनियाल)

अधिभोगी अधिकारों का धारक"

14.08.1980

साक्षीगण :

1. प्रताप सिंह, 24, चमन इस्टेट, मसूरी

2. ह./- ट्रीम लाज, मसूरी

27. वादी को तारीख 19 अगस्त, 1985 का वाद नोटिस, जिसमें यह प्रत्याख्यान है कि वाद संपत्ति सरकारी भूमि है जो पुराने अनुदान के अधीन "बी-3" संवर्ग के रूप में वर्गीकृत थी, दी गई थी और यह कि सरकार उसे पुनः ग्रहण करना चाहती थी, को प्राप्त करने के पश्चात् जानबूझकर वाद नोटिस के अनुसरण में वाद संपत्ति से वादी को बेकब्जा करने से अपीलार्थी (प्रतिवादी) के विरुद्ध स्थायी व्यादेश के लिए वाद फाइल किया था । वाद

नोटिस में लिए गए स्पष्ट आधार के कारण, वादी को यह घोषणा करने के लिए वाद फाइल करना चाहिए था कि वाद संपत्ति के स्वामित्व के बारे में वाद नोटिस में प्रतिवादी द्वारा किया गया दावा अवैध है । सुस्पष्टतः, वादी यह जानता था कि उसे संवर्ग "बी-3" के रूप में पुराने अनुदान के अधीन मंजूर वाद संपत्ति का मात्र उपभोग करने का अधिकार प्राप्त है । भूमि भारत सरकार से संबंधित है ।

28. वस्तुतः, वादी, वाद संपत्ति के स्वामित्व के दावे को स्थापित किया है, प्रथमतः तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के आधार पर और द्वितीयतः, वाद संपत्ति में अधिभोगी अधिकारों जो स्वामित्व के अधिकारों के सदृश्य थे, के आधार पर और तृतीयतः, यह कि वादी ने पिछले लगभग 60 वर्षों से अधिक समय से बिना किसी किराए का संदाय किए लंबे और निर्बाधित कब्जे में होने के कारण वाद संपत्ति पर प्रतिकूल कब्जे द्वारा पूर्ण स्वामित्व अधिकारों को प्राप्त कर लिया है । जहां तक तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के अधीन प्राप्त अधिकारों के आधार पर वादी के पूर्ण स्वामित्व के दावे का संबंध है, का समर्थन नहीं किया जा सकता है । तारीख 13 सितम्बर, 1979 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार से उपदर्शित तथ्यात्मक परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में, जो तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के पूर्ववर्ती निष्पादित हुआ था, वादी ने पूर्ण समझदारी और ज्ञान के साथ स्वीकृति विलेख और घोषणा विलेख निष्पादित किया था । उच्च न्यायालय ने पैरा 17 में, प्रथमदृष्ट्या राय अभिलिखित करते समय इन आवश्यक तथ्यों और दस्तावेजों का उल्लेख नहीं किया है, उच्च न्यायालय को इन तथ्यों और निर्विवाद साक्ष्यों का उल्लेख करना चाहिए था, जिन्हें विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा विचार में लिया गया था, इसे वादी के पक्ष में वाद संपत्ति के स्वामित्व के बारे में ऐसी प्रथमदृष्ट्या मताभिव्यक्ति के रूप में कभी अभिलिखित नहीं किया जा सकता था । इसलिए अपीलार्थी (प्रतिवादी), आक्षेपित निर्णय के पैरा 17 में उल्लिखित प्रथमदृष्ट्या राय को आक्षेपित करने में न्यायोचित है । ऐसी मताभिव्यक्ति, जैसा कि आक्षेपित निर्णय के पैरा 15 में उल्लिखित है, दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवादक पर समवर्ती निष्कर्ष कायम रखने के बावजूद अभिलिखित की गई थी । इसलिए, अपीलार्थी, इस अपील में इस सीमा तक सफल होना चाहिए कि पैरा 17 के प्रथम वाक्य को मिटा देना चाहिए था । क्योंकि उक्त मताभिव्यक्ति वाद संपत्ति पर हक के प्रश्न को पुनः उठाने के लिए वादी को स्वतंत्रता देने का आधार

देती है, इस दशा में, वादी को बेदखली कार्यवाहियों का सामना करना अपेक्षित था, इसलिए, उक्त स्वतंत्रता को भी हटा देना चाहिए । इस दशा में, वादी या उसके माध्यम से या वादी के अधीन दावा करने वाले व्यक्तियों को यह अनुज्ञेय नहीं होगा कि वे अब से किन्हीं कार्यवाहियों में या उस मामले के लिए साम्पार्श्विक कार्यवाहियों में वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक को उद्भूत करें ।

29. प्रत्यर्थियों (वादी के हक-उत्तराधिकारियों) ने अन्य दस्तावेजों और पूर्व वृत्तांतों का अवलंब लेते हुए यह दलील दी है कि वाद संपत्ति के हक और स्वामित्व का विवाद्यक प्रत्यक्षतः और सारतः वादी द्वारा फाइल इसी प्रकार के स्थायी व्यादेश के लिए वाद में अंतर्वलित था । इस प्रकार, वादी या उसके माध्यम से या उसके अधीन दावा करने वाले व्यक्तियों के लिए यह खुला है कि वे साम्पार्श्विक कार्यवाहियों में वाद संपत्ति के हक के विवाद्यक को उद्भूत करे, यदि वे वाद संपत्ति से बेदखल किए जाते हैं । यह तर्क खारिज किए जाने योग्य है । वर्तमान मामले में, वादी ने तारीख 19 अगस्त, 1985 के वाद नोटिस को चुनौती दी है, इस प्रत्याख्यान पर कि वह तारीख 14 अगस्त, 1980 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के आधार पर वाद संपत्ति का कब्जे सहित पूर्ण स्वामी है । इस प्रत्याख्यान द्वारा वादी ने विवक्षित तौर पर अपीलार्थी-प्रतिवादी के इस दावे से इनकार किया है कि वाद संपत्ति सरकार से संबंधित है और उसे वर्ग "बी-3" में आने वाले पुराने अनुदान के अधीन दिया गया था । वाद नोटिस में इस प्रत्याख्यान के अतिरिक्त, अपीलार्थी-प्रतिवादी ने वाद का विरोध करते हुए फाइल लिखित कथन में असंदिग्ध तौर पर भी यह कथन किया है कि वाद संपत्ति भारत सरकार से संबंधित है और उसे वर्ग "बी-3" में आने वाले पुराने भवन अनुदानों के अधीन प्राप्तिकर्ता को दिया गया था, जो एक माह की नोटिस देने के पश्चात् पुनः ग्रहण करने के अधीन है । इन अभिवचनों के परिप्रेक्ष्य में, विचारण न्यायालय ने वाद संपत्ति के स्वामित्व से संबंधित विवाद्यक को सम्मिलित करते हुए विवाद्यक विरचित किया । विवाद्यक सं. 1 यह था कि क्या वादी, वाद संपत्ति का पूर्ण स्वामी था, जैसा कि उसके द्वारा प्रत्याख्यान किया गया है और यदि ऐसा है तो क्या संपत्ति प्राइवेट संपदा होने के नाते सरकार द्वारा पुनःग्रहण नहीं किया जा सकता है, इस उपधारणा पर कि यह सरकारी भूमि है । इसी प्रकार का विरोध प्रथम अपील न्यायालय के समक्ष किया गया था । प्रथम अपील न्यायालय ने भी अन्यों के साथ दस्तावेजों प्रदर्श 20-सी, 27-सी, 35-सी, 38-सी और 39-सी का विश्लेषण करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि वादी द्वारा यह स्वीकार किया गया है

कि वाद संपत्ति भारत सरकार में निहित है, जो प्राप्तिकर्ता/अधिभोगी को निर्माण के लिए प्रतिकर संदाय करने के पश्चात् पुनः ग्रहण किए जाने योग्य थी । प्रथम अपील न्यायालय ने ऐसे किसी अनिश्चित निबंधनों में यह निष्कर्ष निकाला है कि वाद संपत्ति भारत सरकार से संबंधित है और वादी, वाद संपत्ति का स्वामी नहीं था, अपितु, मात्र उसे पुराने अनुदान के अधीन उसके कब्जे का उपभोग करने का अधिकार था, जिसे उसने अपने हक-पूर्वाधिकारियों से प्राप्त किया था । इस प्रकार, यह सीमित अधिकारिता के सिविल न्यायालय द्वारा आनुषंगिक विवाद्यक की परीक्षा करने का मामला नहीं है, जिस पर इसी प्रकार के स्थायी व्यादेश के अनुतोष पर विचार किया जाए । यह विचारण न्यायालय द्वारा और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा कायम प्रत्यक्षतः और सारतः विवाद्यक का मामला था और उस मामले के लिए उच्च न्यायालय ने भी द्वितीय अपील इस आधार पर खारिज कर दी थी कि इसमें गुणागुण का अभाव है, जो आक्षेपित निर्णय के पैरा 15 और 19 से दर्शित होता है । वर्तमान मामले के तथ्यात्मक परिस्थिति में, यह तथ्य या विधि का जटिल विवाद्यक नहीं था जिन पर वादी द्वारा निष्पादित स्वीकृति विलेख और घोषणा विलेख के साथ ही रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार और रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेखों में निर्विवाद वर्णनों पर विचार किया जाता । ऐसी परिस्थिति में, हक घोषणा के लिए पश्चात्वर्ती वाद या अन्यथा में भी वादी के विरुद्ध अभिलिखित तथ्य के निष्कर्ष वादी पर आबद्धकर होंगे और आन्यविक प्रांङ्-न्याय के रूप में प्रवर्तित होंगे ।

30. प्रत्यर्थियों ने **अंतुला सरकार** (उपर्युक्त) वाले मामले के निर्णयासार का अवलंब लिया है । हम यह समझने में असमर्थ हैं कि किस प्रकार यह विनिश्चय प्रत्यर्थियों (वादी के हक-उत्तराधिकारी) की कोई सहायता करेगा । उस मामले में, न्यायालय को इस प्रश्न पर विधिक स्थिति की समीक्षा करनी चाहिए कि क्या हक के बारे में प्रकथनों को हक से संबंधित अभिवचनों और विवाद्यक के अभाव में, इसी प्रकार के व्यादेश के लिए वाद में विचार किया जा सकता है । तथापि, प्रत्यर्थियों ने रिपोर्टिंग विनिश्चय के पैरा 21(ग) के पूर्ववर्ती भाग की अनदेखी करते हुए, अंतिम पैरा का ही अवलंब लिया है । पैरा 21(ग) इस प्रकार है :–

> "21. अस्थावर संपत्ति से संबंधित प्रतिषेधात्मक व्यादेश के लिए वादों के बारे में संक्षिप्त प्रास्थिति इस प्रकार है –
>
> (क) * * * * *
>
> (ख) * * * * *

> (ग) किन्तु हक पर निष्कर्ष, व्यादेश के लिए वाद में अभिलिखित नहीं किया जा सकता है, जब तक कि हक के बारे में आवश्यक अभिवचनों और समुचित विवाद्यकों का उल्लेख नहीं किया जाता है (या तो विनिर्दिष्ट या विवक्षित जैसा कि अन्नाईमुथु थेवर **बनाम** अलगम्मल) [(2005) 6 एस. सी. सी. 202] में उल्लिखित किया गया है । जहां हक के बारे में प्रकथनों का वादपत्र में अभाव है और जहां हक के बारे में कोई विवाद्यक नहीं है वहां न्यायालय व्यादेश के लिए वाद में, हक के प्रश्न पर कोई अन्वेषण या परीक्षा या निष्कर्ष नहीं निकालेगा । यद्यपि, जहां आवश्यक अभिवचन और विवाद्यक हैं यदि हक से संबंधित तथ्य और विधि के जटिल प्रश्न अंतर्वलित हैं तो वहां न्यायालय, मात्र व्यादेश के लिए वाद में विवाद्यक पर विनिश्चय करने के बजाय, हक की घोषणा के लिए विस्तृत वाद के माध्यम से पक्षकारों को उपचार प्राप्त करने के लिए भेजेगा ।"

न्यायालय ने यह उल्लेख किया है कि हक पर निष्कर्ष व्यादेश के लिए वाद में अभिलिखित नहीं किया जा सकता है, जब तक कि हक के बारे में आवश्यक और समुचित विवाद्यक नहीं है । यह पूर्व धारणा है कि ऐसा करना अनुज्ञेय नहीं है । जहां हक के बारे में प्रकथनों का भी वादपत्र में अभाव है और जहां हक से संबंधित कोई विवाद्यक नहीं है वहां न्यायालय व्यादेश के लिए वाद में हक के प्रश्न पर अन्वेषण या परीक्षा या निष्कर्ष नहीं देगा । तथापि, वर्तमान मामले में, हमारा यह निष्कर्ष नहीं है कि न केवल हक से संबंधित स्पष्ट अभिवचन है अपितु दोनों पक्षकारों का उस प्रत्याख्यान पर विचारण भी किया गया है और न्यायालय को वाद संपत्ति में स्वामित्व और हक के बारे में विवाद्यक विरचित करने के लिए आमंत्रित किया गया है, अपितु उसके एवज में क्रमशः अपने दावे के समर्थन में साक्ष्य भी प्रस्तुत किया गया है, जिनका विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा सम्यक् तौर पर विश्लेषण किया गया है । रिपोर्टेड विनिश्चय के पैरा 21(ग) में, निःसंदेह, इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि पक्षकारों को व्यादेश के लिए वाद में उस विवाद्यक का विनिश्चय करने के बजाय हक के माध्यम से व्यापक वाद का उपचार दिया जाना चाहिए । तथापि, मामले में, हक से संबंधित तथ्य और विधि के जटिल प्रश्न में अंतर्वलित हो सकते हैं । वर्तमान मामले में, जैसा कि पूर्ववर्ती मत व्यक्त किया जा चुका है, हक और स्वामित्व के बारे में विवाद्यक, प्रत्यक्षतः विवाद्यक था और व्यादेश के लिए वाद में, यद्यपि, न्यायालय द्वारा सारवान् विवाद्यक के रूप में अधिनिर्णीत किया गया था ।

यह या तो तथ्य या विधि का जटिल विवाद्यक नहीं था । इसका रजिस्ट्रीकृत दस्तावेजों, स्वीकृति विलेख, घोषणा विलेख और अन्य दस्तावेजों से दर्शित होने वाले स्वीकृत और निर्विवाद तथ्यों के आधार पर सही तौर पर उत्तर दिया गया है । **ग्राम पंचायत ऑफ ग्राम नौलखा** (उपर्युक्त) वाले मामले में विनिश्चय, उस मामले के तथ्यों पर किया गया था, जैसा कि विनिश्चय के पैरा 3 और 9 से 11 से दर्शित होता है । **पुरुषोत्तम दास टंडन** (उपर्युक्त) वाले मामले में विनिश्चय भी उस मामले के तथ्यों पर दिया गया है । न्यायालय का यह निष्कर्ष है कि भूमि के स्वामित्व का दावा एक विवादास्पद विवाद्यक था और उच्च न्यायालय ने रिट अधिकारिता में, इसे सक्षम सिविल न्यायालय के न्यायनिर्णयन के लिए छोड़ दिया था । वर्तमान मामले में, तथ्यात्मक परिस्थिति इस तरीके में कोई संदेह नहीं छोड़ती है कि वाद संपत्ति के स्वामित्व का विवाद्यक, सिविल न्यायालय के समक्ष प्रत्यक्षतः और सारतः विवाद्यक था और वाद की विषय-वस्तु बनाया गया था ।

31. **सज्जादनशीन सैय्यद** (उपर्युक्त) वाले मामले के विनिश्चय का भी प्रत्यर्थियों को कोई लाभ नहीं होगा । पैरा 18 में न्यायालय ने विवाद्यक पर गंभीर विचार किया है और यह उल्लिखित किया है कि वादपत्र, लिखित कथन, विवाद्यकों और निर्णय की तभी परीक्षा की जा सकती है, यदि मामले में प्रत्यक्षतः और सारतः विवाद्यक हो । उक्त विनिश्चय का पैरा इस प्रकार है :–

> "18. भारत में मुल्ला ने इसी प्रकार के परीक्षण (मुल्ला 15वां संस्करण, पृष्ठ 104) को निर्दिष्ट किया है । विद्वान् लेखक ने यह कथन किया है कि उस संबंध में मामला जिसके बारे में अनुतोष के लिए पूर्ववर्ती वाद में दावा किया गया है, उसे साधारण तौर पर मामले में प्रत्यक्षतः और सारतः विवाद्य कहा जा सकता है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यदि मामला उससे संबंधित है जिसके बारे में कोई अनुतोष ईप्सित नहीं है, तो यह प्रत्यक्षतः या सारतः विवाद्य नहीं हो सकता है । यह हो सकता है, या नहीं हो सकता है । यह संभाव्य है कि यह प्रत्यक्षतः और सारतः विवाद्य था और यह भी हो सकता है कि यह मात्र साम्पार्श्विक तौर पर या आनुषंगिक तौर पर विवाद्य था, यह मामले के तथ्यों पर निर्भर करता है । प्रश्न यह उद्भूत होता है कि विनिश्चय के लिए परीक्षण क्या है और मामला किस संवर्ग में आता है ? एक परीक्षण यह है कि यदि विवाद्यक, मुख्य विवाद्यक पर न्यायनिर्णयन के लिए विनिश्चित किया जाना आवश्यक था और

विनिश्चित किया गया था तो इसे प्रत्यक्षतः और सारतः विवाद्य होना समझा जाएगा और यदि यह स्पष्ट है कि निर्णय, वस्तुतः उस विनिश्चय पर आधारित था तो यह पश्चात्वर्ती मामले में प्रांड-न्याय के रूप में होगा । (मुल्ला, पृष्ठ 104) । वादपत्र, लिखित कथन, विवाद्यकों और निर्णयों की तभी परीक्षा की जाती है जब मामले में प्रत्यक्षतः और सारतः विवाद्य होते हैं । (ईश्वर सिंह **बनाम** सरवन सिंह और सैय्यद मुहम्मद सलाई लब्बाई **बनाम** मोहम्मद हनीफ [(1976) 4 एस. सी. सी. 780] । हमारा यह मत है कि मुल्ला का उपर्युक्त सारांश, विधि का सही कथन है ।"

(रेखांकन बल देने के लिए किया गया है)

32. वर्तमान मामले में, हमने वादपत्र, लिखित कथन निचले न्यायालय द्वारा विरचित विवाद्यकों और हक तथा स्वामित्व के विवाद्यक का न्यायनिर्णयन करने वाले प्रत्यक्षतः और सारतः निर्णयों का उल्लेख किया है । इस कठिनाई को दूर करने के लिए प्रत्यर्थियों ने **रविन्दर कुमार शर्मा** (उपर्युक्त), **एस. नाजीर अहमद** (उपर्युक्त), **बलबीर कौर** (उपर्युक्त) और **मैनेजमेंट ऑफ सुन्दरम् इंडस्ट्रीज लिमिटेड** (उपर्युक्त) वाले मामलों में, इस न्यायालय के विनिश्चयों का अवलंब लेते हुए, यह दलील दी है कि प्रत्यर्थियों के लिए यह खुला था कि वे वर्तमान अपीलों में औपचारिक प्रति-आक्षेप फाइल किए बिना वाद संपत्ति के हक और स्वामित्व के विवाद्यक पर दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित प्रतिकूल निष्कर्षों को चुनौती दे सकते थे । हमारा इस तथ्य के बारे में यह सचेतन मत है कि संविधान, 1950 के अनुच्छेद 136 के अधीन इस न्यायालय की सर्वांगीण अधिकारिता, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश XLI के नियम 22 में उपबंधित अभिमुक्ति देने तक सीमित नहीं है । तथापि, संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक पर निचले न्यायालयों के निष्कर्षों को आक्षेपित करने के लिए प्रत्यर्थियों को अनुमति देना इस मूल सिद्धांत की अनदेखी करना होगा कि इसे अपील करने वाले पक्षकारों को साधारण तौर पर आदेश, निर्देश या डिक्री नहीं देना उस स्थिति में ज्यादा हानिकारक होता है, बशर्ते कि इसके विरुद्ध अपील करने की इजाजत नहीं देना । [देखें – **मैनेजमेंट ऑफ सुन्दरम् इंडस्ट्रीज लिमिटेड** (उपर्युक्त), पैरा 20] । द्वितीय अपील को खारिज करते हुए उच्च न्यायालय का आक्षेपित निर्णय भी निश्चित तौर पर वादी के पक्ष में नहीं था । यह स्थायी व्यादेश के लिए अनुतोष को नामंजूर करते हुए डिक्री और आदेश को कायम रखा गया था । इसलिए, अब,

प्रत्यर्थियों द्वारा दिया गया यह तर्क, इस प्रकार उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश या डिक्री के प्रवर्तन को कायम रखने के लिए लागू नहीं होगा । यदि, इसे स्वीकार भी कर लिया जाता है तो यह अपरिहार्य तौर पर निचले न्यायालयों द्वारा स्वामित्व के विवाद्यक पर अभिलिखित समवर्ती निष्कर्षों का न केवल उलटने के समान होगा, अपितु यह आवश्यक तौर पर स्थायी व्यादेश के अनुतोष को नामंजूर करते हुए निचले न्यायालय द्वारा पारित डिक्री को भी उलटने के समान होगा । ऐसा तभी किया जा सकता है, यदि वादी, वाद नोटिस के संदर्भ में स्थायी व्यादेश के अनुतोष को नामंजूर करने वाले डिक्री को चुनौती देता है । अपील या प्रति-आक्षेप के माध्यम से ऐसी चुनौती के अभाव में, वह डिक्री कायम रखी जाएगी जिसके द्वारा प्रथम अपील न्यायालय ने प्रतिकर के दावे के सीमा तक वादी (मूल प्रत्यर्थी) की अपील भागतः मंजूर कर ली थी, इस आधार-वाक्य पर कि वादी विनियमों के निबंधनों में निर्माण के बारे में प्रतिकर प्राप्त करेगा । प्रत्यर्थियों द्वारा **बलबीर कौर** (उपर्युक्त), **एस. नाजीर अहमद** (उपर्युक्त), **पंचायत ऑफ ग्राम नौलखा** (उपर्युक्त) और **रविन्दर कुमार शर्मा** (उपर्युक्त) वाले मामलों में पूर्ववर्ती विनिश्चयों का अवलंब लिया गया है जिनसे भी प्रत्यर्थियों को कोई लाभ नहीं होगा । इसके अतिरिक्त, रजिस्ट्रीकृत विक्रय करार और रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेखों और स्वीकृत विलेख के साथ ही घोषणा विलेख में स्वीकृत तथ्यों के परे तर्कों को देने के लिए प्रत्यर्थियों को अनुज्ञा देना, इस तर्क को प्रोत्साहित करना होगा कि वादी ने वाद संपत्ति में उससे अधिक हक प्राप्त किया है, जो उसके हक-पूर्वाधिकारियों ने अधिभोगी/कब्जाधारी अधिकारों का उपभोग किया था । यह युक्ति - "कोई भी व्यक्ति अपने हक से ऊंचा नहीं अंतरित कर सकता है", मेरे विवेक में उद्‌भूत होती है जिसका अभिप्राय यह है कि कोई व्यक्ति वह चीज नहीं दे सकता है जो उसे प्राप्त नहीं हुआ है । उपर्युक्त मत को ध्यान में रखते हुए हमारा यह निष्कर्ष है कि पक्षकारों को द्वितीय अपील में नए सिरे से विचार करने के लिए उच्च न्यायालय के समक्ष भेजने का कोई विधिक आधार नहीं है ।

33. वर्ग बी-3 में आने वाले पुराने अनुदान के प्रभाव के बारे में विधिक प्रास्थिति की परीक्षा इस न्यायालय द्वारा उत्तरवर्ती विनिश्चयों में की गई है, जैसा कि अपीलार्थी द्वारा जो दिया गया है और अंततः **उषा कपूर** (उपर्युक्त) वाले मामले में जोर दिया गया है । इस विनिश्चय में, उन मुद्दों पर जो प्रत्यर्थियों द्वारा अवलंब लिए गए हैं, इस न्यायालय के सभी पूर्ववर्ती

विनिश्चय सम्मिलित हैं, विचार किया गया है । रिपोर्टेड मामले में भी पुराना अनुदान वर्ग बी-3 के अंतर्गत आता था । न्यायालय ने पूर्ववर्ती सभी विनिश्चयों जिनमें जे. पी. मित्तल द्वारा बुक आन कन्टोनमेंट लाज की व्याख्या भी सम्मिलित है, जिन्हें प्रत्यर्थियों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है, पर विचार करते हुए, इस विधिक प्रास्थिति का पुनः कथन किया है कि तारीख 12 सितम्बर, 1836 के आदेश सं. 179 के अधीन मंजूर अवधि के निबंधनों में भूमि का स्वामित्व सरकार के पास बना हुआ है और इस भूमि को प्राप्तिकर्ता द्वारा विक्रय नहीं किया जा सकता है । मूल प्राप्तिकर्ता में भूमि पर गृह/निर्माण करने का अधिकार ही निहित था और वह केवल उसका ही अंतरण कर सकता था । ऐसा अंतरण करते समय कमांडिंग अधिकारी की सहमति अपेक्षित होती है जब अंतरण ऐसे व्यक्ति को किया जाता है जो सशस्त्र बल से संबंधित नहीं है । किसी समय पर भूमि को पुनःग्रहण करने का अधिकार विहित प्रक्रिया का पालन करने के पश्चात् अभिव्यक्त तौर पर सरकार में निहित की गई है । वर्ग बी-3 भूमि के धारक की प्रास्थिति का उल्लेख उक्त विनिश्चय के पैरा 14 और 15 में भी किया गया है । यह सत्य है कि वर्तमान मामले में अपीलार्थी (प्रतिवादी) ने वाद संपत्ति के संबंध में पुराने अनुदान को प्रस्तुत नहीं किया है किन्तु उसने जी. एल. आर. उद्धरण प्रस्तुत किया था । यह सुस्थिर है कि जी. एल. आर. उद्धरण इस तथ्य का निर्णायक सबूत है कि भूमि पुराने अनुदान के अंतर्गत आती है और वादी को उस पर किए गए निर्माणों के संबंध में ही मात्र कब्जाधारी या अधिभोगी के अधिकारों का उपभोग करने का अधिकार है । अन्य प्रमाणिकताओं की विस्तृत विवेचना करना आवश्यक नहीं है जिन पर इस विनिश्चय में पहले ही विचार किया जा चुका है ।

34. यह मत व्यक्त करना पर्याप्त होगा कि उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील में पारित निर्णय और डिक्री को किसी चुनौती के अभाव में, जिसके द्वारा द्वितीय अपील को इस आधार पर नामंजूर कर दिया था कि इसमें गुणागुण का अभाव है, प्रत्यर्थी (वादी के हक-पूर्वाधिकारी) न तो सफल हो सकते हैं न ही उन्हें भारत सरकार के वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक पर निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित निष्कर्षों की सत्यता के बारे में इस न्यायालय के समक्ष पुनः उठाने की अनुमति दी जा सकती है और यह कि वादी उसके पूर्ण स्वामी नहीं है । इस प्रकार अभिलिखित तथ्य के निष्कर्ष प्रत्यर्थियों पर आबद्धकर होंगे । द्वितीय अपील नामंजूर करने के परिणामस्वरूप, प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पारित और उच्च न्यायालय द्वारा कायम रखी गई डिक्री के निबंधनों में मात्र यह विवाद्यक

शेष रह जाता है कि पुराने अनुदान और उसके संबंध में विनियमों के निबंधनों में निर्माण के लिए प्रतिकर का अवधारण किस प्रकार किया जाए ।

35. अपीलार्थी ने इस न्यायालय के विनिश्चयों का सही ही अवलंब लिया है जिसमें यह व्याख्या की गई है कि समुचित और युक्तियुक्त प्रतिकर का अवधारण विनियमों के अनुसार मध्यस्थ के पास मामले को निर्दिष्ट करके ही किया जा सकता है । [देखें – **हरिश चंद आनंद** (उपर्युक्त) पैरा 2 और 5] । इसलिए, यह तारीख 19 अगस्त, 1985 के बाद नोटिस के आधार पर आगे कार्यवाही करने में अपीलार्थी के रास्ते में बाधक नहीं हो सकता है, जिसकी वैधता चुनौती योग्य नहीं है ।

36. उल्लेखनीय तौर पर, उच्च न्यायालय द्वारा वादी को दी गई स्वतंत्रता का सूक्ष्म परिशीलन करने पर, यह स्पष्ट होता है कि स्वतंत्रता, वाद संपत्ति के बारे में हक का विवाद्यक उद्भूत करने में सीमित है, उस दशा में, जब अपीलार्थी द्वारा कोई बेदखली कार्यवाहियां प्रतिस्थापित की जाती हैं । ऐसी स्वतंत्रता, जैसा कि सुस्थिर है, इस मामले के तथ्यात्मक परिस्थितियों में आन्यविक प्रांङ्-न्याय के सिद्धांतों को आघात पहुंचाती है । यह निश्चित तौर पर हक और स्वामित्व की घोषणा करने के लिए नए सिरे से वाद फाइल करने की स्वतंत्रता नहीं होती है, जिसे वादी को पूर्ववर्ती में फाइल करना चाहिए था अथवा कम-से-कम समुचित घोषणा की ईप्सा करते हुए वाद में संशोधन करना चाहिए था ।

37. हमारे द्वारा अपनाए गए उपर्युक्त मत को ध्यान में रखते हुए, अन्य प्रमाणिकताओं और पक्षकारों द्वारा जोर दिए गए दलीलों के साथ इस निर्णय पर यह भार होना आवश्यक नहीं है कि इस निर्णय का अति विस्तार करने से बचा जाए ।

38. तद्नुसार, ये अपीलें सफल होनी चाहिए । हम अपीलार्थी की इस शिकायत से सहमत हैं कि उच्च न्यायालय को वाद संपत्ति के स्वामित्व के विवाद्यक पर तथ्य के समवर्ती निष्कर्ष को कायम रखने और द्वितीय अपील को इस आधार पर खारिज करने से कि इसमें गुणागुण का अभाव है, आक्षेपित निर्णय के पैरा के 17 और 18 में की गई मताभिव्यक्तियों से दूर रहना चाहिए था । ऐसी मताभिव्यक्तियों के आधार पर उच्च न्यायालय ने वादी (मूल प्रत्यर्थी) को हक का विवाद्यक उद्भूत करने की स्वतंत्रता अन्यायोचित तरीके से मंजूर की है, यदि उसके विरुद्ध बेदखली की कार्यवाहियां आरंभ की जाती हैं । उच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट करने में भी

प्रकट त्रुटि कारित की है कि यदि ऐसा अभिवाक् उद्भूत किया जाता है तो उसे विचारण न्यायालय द्वारा दिए गए निष्कर्षों के प्रभाव में आए बिना विनिश्चित किया जाना चाहिए था ।

39. तद्नुसार, हम 2001 की द्वितीय अपील सं. 206 में उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 28 फरवरी, 2008 के आक्षेपित निर्णय के पैरा 17 और 18 में की गई पूर्वोक्त मताभिव्यक्तियों को अपास्त करते हैं । पूर्वोक्त कारणों से, हम, 2008 की प्रकीर्ण पुनर्विलोकन आवेदन सं. 668 में पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश को भी अपास्त करते हैं ।

40. इसके पूर्व, तारीख 19 अगस्त, 1985 की नोटिस के अग्रसरण में, अपीलार्थी विधि के अनुसरण में, वाद संपत्ति का कब्जा लेने में स्वतंत्र है । तथापि, प्रत्यर्थियों को 31 जनवरी, 2018 तक वाद संपत्ति का खाली और शांतिपूर्ण कब्जा सौंपने का समय मंजूर किया जाता है ।

41. हम यह स्पष्ट करते हैं कि यदि प्रत्यर्थियों को वाद संपत्ति पर खड़े निर्माणों के संबंध में मध्यस्थ द्वारा अवधारित प्रतिकर की मात्रा के बारे में कोई शिकायत है तो उन्हें विधि के अनुसार समुचित विधिक उपचार पाने का अवसर खुला रहेगा ।

42. उपर्युक्त निबंधनों में, अपीलें मंजूर की जाती हैं और खर्चे का कोई आदेश नहीं किया जाता है ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

क.

चांद देवी डागा और अन्य

बनाम

मंजू के. हुमातानी और अन्य

3 नवम्बर, 2017

न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी और न्यायमूर्ति अशोक भूषण

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 256 और 302 [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 420, 467, 468, 471, 120ख, 201 और 34] – उच्च न्यायालय के समक्ष कार्यवाहियों के दौरान परिवादी की मृत्यु – परिवादी के विधिक वारिसों को कार्यवाहियां जारी रखने के लिए अनुज्ञात करना – भारतीय दंड संहिता के अधीन आने वाले वारंट मामलों के विचारण में परिवादी की मृत्यु की दशा में, न्यायालय परिवादी के विधिक प्रतिनिधियों को परिवादी के रूप में कार्य करने के लिए अनुज्ञात कर सकता है ।

प्रस्तुत मामले में परिवादी ने अपीलार्थियों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 420, 467, 468, 471, 120ख, 201 और 34 के अधीन अपराध का अभिकथन करते हुए एक परिवाद फाइल किया था । परिवादी का पति एक दुकान का पट्टा धारक था । दुकान अपीलार्थी सं. 1 के पति के नाम में मंजूर की गई थी । यद्यपि अपीलार्थी सं. 1 के पति की, जो कि एक संसद् सदस्य था, मृत्यु हो गई थी, तथापि, परिवादी द्वारा यह अभिकथित किया गया था कि कतिपय करार संसद् सदस्य के विधिक वारिसों द्वारा निष्पादित किए गए थे, जिससे अपराध कारित करना गठित होता है । वह परिवाद मजिस्ट्रेट द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए खारिज कर दिया गया था कि अभियुक्तों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 420, 467, 468, 120ख और 201/34 के अधीन प्रथमदृष्ट्या मामला नहीं बनता है । अपर सेशन न्यायाधीश के समक्ष एक दांडिक पुनरीक्षण फाइल किया जो कि खारिज कर दिया गया था । परिवादी द्वारा सेशन न्यायालय के आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में दांडिक प्रकीर्ण आवेदन फाइल किया गया था । उच्च न्यायालय ने दांडिक प्रकीर्ण आवेदन में नोटिस जारी किया । नोटिस जारी किए जाने के पश्चात्, परिवादी की मृत्यु हो गई । परिवादी के विधिक वारिसों द्वारा यह प्रार्थना करते हुए एक आवेदन फाइल किया गया था कि

उन्हें परिवादी के स्थान पर प्रतिस्थापित किया जाए । अपीलार्थियों ने उस आवेदन का विरोध किया था । उच्च न्यायालय ने उक्त आवेदन को मंजूर कर लिया और परिवादी के विधिक प्रतिनिधियों को दांडिक प्रकीर्ण आवेदन को अग्रसर करने के लिए अभिलेख पर आने के लिए अनुज्ञात कर दिया । उक्त निर्णय से व्यथित होकर, अपीलार्थियों ने उच्चतम न्यायालय में प्रस्तुत अपील फाइल की है । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – प्रस्तुत मामले के तथ्यों और घटनाओं के संबंध में कोई विवाद नहीं है । मूल परिवादी की उच्च न्यायालय के समक्ष दांडिक प्रकीर्ण आवेदन के लंबित रहने के दौरान मृत्यु हो गई थी, जो कि सेशन न्यायाधीश के उस आदेश को चुनौती देते हुए फाइल किया गया था जिसके द्वारा परिवाद को खारिज करने वाले मजिस्ट्रेट के आदेश के विरुद्ध दांडिक पुनरीक्षण नामंजूर कर दिया गया था । दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 256 के सदृश उपबंध दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 247 में अंतर्विष्ट थे । धारा 247 में वर्ष 1955 में परन्तुक जोड़ा गया था जिसमें यह कहा गया था कि "जहां मजिस्ट्रेट की यह राय है कि वैयक्तिक हाजिरी आवश्यक नहीं है वहां मजिस्ट्रेट ऐसी हाजिरी से उसे अभिमुक्ति दे सकता है" । उक्त परन्तुक द्वारा मूल नियम की कठोरता को कम कर दिया गया और सब कुछ न्यायालय के विवेकाधिकार पर छोड़ दिया गया था । धारा 256 की उपधारा (1) में उक्त परन्तुक समरूप रीति में अंतर्विष्ट है । इस प्रकार, समन-मामलों के विचारण की दशा में यह आवश्यक या आज्ञापक नहीं है कि परिवादी की मृत्यु के पश्चात् परिवाद नामंजूर किया जाना है, मजिस्ट्रेट धारा 256(1) के परन्तुक के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए परिवाद में आगे कार्यवाही कर सकता है । इसके अलावा, प्रस्तुत मामला एक ऐसा मामला है जिसमें भारतीय दंड संहिता की धारा 420, 467, 468, 471, 120ख और धारा 34 के साथ पठित धारा 201 के अधीन अपराध का अभिकथन किया गया था जिसके लिए समन-मामलों के विचारण की प्रक्रिया लागू नहीं होती थी और अध्याय 19 - "मजिस्ट्रेटों द्वारा वारंट मामलों का विचारण" में ऐसा कोई उपबंध नहीं है जिसमें यह उपबंधित हो कि परिवादी की मृत्यु की दशा में परिवाद नामंजूर किया जाना है । मजिस्ट्रेट के पास धारा 249 के अधीन ऐसे मामले को खारिज करने की शक्ति प्राप्त है जहां परिवादी अनुपस्थित है । तथापि, धारा 249 के अधीन उन्मोचन के साथ यह शर्त लगी है कि "अपराध का विधिपूर्वक शमन किया जा सकता हो या वह एक संज्ञेय अपराध न हो" । यदि 1973

की संहिता में यह आशयित होता कि किसी वारंट मामले में परिवादी की मृत्यु की दशा में परिवाद नामंजूर किया जाना है तो उपबंध में ऐसा कोई आशय उपदर्शित होता जो कि स्पष्ट रूप से नहीं है । (पैरा 7 और 9)

इस प्रक्रम पर, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 302 के प्रतिनिर्देश करना आवश्यक है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 302 "जांचों तथा विचारणों के बारे में साधारण उपबंध" शीर्षक वाले अध्याय 25 में अंतर्विष्ट है । धारा 302 का संबंध अभियोजन के संचालन की अनुज्ञा से है । संहिता की धारा 302 लागू करने के लिए, मामले की जांच या विचारण करने वाले मजिस्ट्रेट से अभियोजन का संचालन करने की अनुज्ञा अभिप्राप्त करनी होगी । मजिस्ट्रेट के पास निरीक्षक की पंक्ति से नीचे के पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी भी व्यक्ति द्वारा अभियोजन के संचालित किए जाने की अनुज्ञा देने की शक्ति प्राप्त है; किन्तु महाधिवक्ता या सरकारी अधिवक्ता या लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक से भिन्न कोई व्यक्ति ऐसी अनुज्ञा के बिना ऐसा करने का हकदार न होगा । (पैरा 12)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2006]	(2006) 5 एस. सी. सी. 530 : **बालासाहेब के. ठाकरे और एक अन्य** बनाम **वेंकट** उर्फ **बबरू** ;	13
[2004]	(2004) 12 एस. सी. सी. 509 : **जिम्मी जहांगीर मदान** बनाम **बॉली केरियप्पा हिंडले (मृत), विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत** ;	14
[1967]	ए. आई. आर. 1967 एस. सी. 983 : **अश्विन नानूभाई व्यास** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** ।	10,14

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2017 की दांडिक अपील सं. 1860.

2016 के दांडिक प्रकीर्ण आवेदन सं. 216 में 2016 की अंतरिम अपील सं. 1 में छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय की बिलासपुर न्यायपीठ द्वारा पारित तारीख 2 फरवरी, 2017 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से श्री गरवेश काबरा, श्रीमती पूजा काबरा और सुश्री निकिता काबरा

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री कौस्तुभ शुक्ला, राहुल श्याम भंडारी, दीपायान मंडल और कोनार्क त्यागी

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अशोक भूषण ने दिया ।

न्या. भूषण – यह अपील छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय के उस निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई है जिसके द्वारा याची के विधिक प्रतिनिधियों द्वारा दांडिक प्रकीर्ण आवेदन में फाइल किए गए अंतरिम आवेदन को मंजूर कर लिया गया था । प्रत्यर्थियों ने उच्च न्यायालय के आदेश से व्यथित होकर यह अपील फाइल की है ।

2. इस अपील का विनिश्चय करने के लिए आवश्यक संक्षिप्त तथ्य निम्नलिखित हैं :– श्रीमती चन्द्रा नारायण दास ने, जिसके विधिक प्रतिनिधि प्रत्यर्थी सं. 1 से प्रत्यर्थी सं. 7 तक हैं, अपीलार्थियों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 420, 467, 468, 471, 120ख, 201 और 34 के अधीन अपराध का अभिकथन करते हुए एक परिवाद फाइल किया था । श्रीमती चन्द्रा नारायण दास का पति छत्तीसगढ़ के भिलाई इस्पात संयंत्र के सिविक सेंटर में स्थित एक दुकान का पट्टा धारक था । दुकान सं. 12 वर्ष 1959 में अपीलार्थी सं. 1 के पति के नाम में मंजूर की गई थी । यद्यपि अपीलार्थी सं. 1 के पति की, जो कि एक संसद् सदस्य था, वर्ष 1952 में ही मृत्यु हो गई थी, तथापि, परिवादी द्वारा यह अभिकथित किया गया था कि कतिपय करार संसद् सदस्य के विधिक वारिसों द्वारा निष्पादित किए गए थे, जिससे अपराध कारित करना गठित होता है । वह परिवाद मजिस्ट्रेट द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए तारीख 26 फरवरी, 2015 के आदेश द्वारा खारिज कर दिया गया था कि अभियुक्तों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 420, 467, 468, 120ख, 201 और 34 के अधीन प्रथमदृष्ट्या मामला नहीं बनता है ।

3. श्रीमती चन्द्रा नारायण दास ने अपर सेशन न्यायाधीश, दुर्ग के समक्ष एक दांडिक पुनरीक्षण फाइल किया जो कि अष्टम अपर सेशन न्यायाधीश, दुर्ग द्वारा तारीख 20 नवम्बर, 2015 के निर्णय द्वारा खारिज कर दिया गया था । तारीख 20 नवम्बर, 2015 के उक्त आदेश के विरुद्ध श्रीमती चन्द्रा नारायण दास द्वारा छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय में दांडिक प्रकीर्ण आवेदन फाइल किया गया था । उच्च न्यायालय ने तारीख 18 फरवरी, 2016 को दांडिक प्रकीर्ण आवेदन में नोटिस जारी किया । नोटिस जारी किए जाने के पश्चात्, याची श्रीमती चन्द्रा नारायण दास की तारीख

2 अप्रैल, 2016 को मृत्यु हो गई । श्रीमती चन्द्रा नारायण दास के विधिक वारिसों द्वारा यह प्रार्थना करते हुए एक आवेदन फाइल किया गया था कि उन्हें याची के स्थान पर प्रतिस्थापित किया जाए । अपीलार्थियों ने उस आवेदन का विरोध किया था । उच्च न्यायालय ने तारीख 2 फरवरी, 2017 के अपने आदेश द्वारा उक्त आवेदन को मंजूर कर लिया और श्रीमती चन्द्रा नारायण दास के विधिक प्रतिनिधियों को दांडिक प्रकीर्ण आवेदन को अग्रसर करने के लिए अभिलेख पर आने के लिए अनुज्ञात कर दिया । उक्त निर्णय से व्यथित होकर, अपीलार्थियों ने यह अपील फाइल की है ।

4. अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 में (जिसे इसमें इसके पश्चात् "1973 की संहिता" कहा गया है) ऐसा कोई उपबंध नहीं है जिसमें परिवादी के विधिक प्रतिनिधियों को परिवाद को अग्रसर करने के लिए प्रतिस्थापित करना अनुज्ञात किया गया हो । यह दलील दी गई है कि प्रस्तुत मामला एक ऐसा मामला है जहां अपीलार्थियों को कोई समन जारी नहीं किए गए थे चूंकि परिवाद को मजिस्ट्रेट द्वारा नामंजूर कर दिया गया था और उक्त आदेश को चुनौती देने वाला दांडिक पुनरीक्षण भी खारिज कर दिया गया है । यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय ने परिवादी के विधिक प्रतिनिधियों के मामले को अग्रसर करने के लिए अभिलेख पर लाने की अनुज्ञा देकर त्रुटि कारित की है ।

5. प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल ने अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल की दलील का खंडन करते हुए यह दलील दी है कि परिवाद की नामंजूरी और दांडिक पुनरीक्षण को खारिज करने वाले सेशन न्यायाधीश के आदेश को उच्च न्यायालय के समक्ष इस आधार पर चुनौती दी गई है कि प्रथमदृष्ट्या अपराध को परिवाद में प्रकट किया गया था और निचले न्यायालयों ने परिवाद को नामंजूर करके त्रुटि कारित की है । चूंकि अपराध अपीलार्थियों द्वारा कारित किया गया है इसलिए उच्च न्यायालय को मूल परिवादी की मृत्यु की दशा में उसके विधिक प्रतिनिधियों को मामला अग्रसर करने के लिए अनुज्ञात करने की पूरी अधिकारिता है । यह दलील दी गई है कि 1973 की संहिता में ऐसा कोई उपबंध नहीं है कि परिवादी की मृत्यु होने पर परिवाद को किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अग्रसर करने के लिए, जिसमें उसके विधिक प्रतिनिधि भी हैं, अनुज्ञात नहीं किया जा सकता है ।

6. हमने पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों की दलीलों पर विचार किया है और अभिलेख का परिशीलन किया है ।

7. प्रस्तुत मामले के तथ्यों और घटनाओं के संबंध में कोई विवाद नहीं है । मूल परिवादी की उच्च न्यायालय के समक्ष दांडिक प्रकीर्ण आवेदन के लंबित रहने के दौरान मृत्यु हो गई थी, जो कि सेशन न्यायाधीश के उस आदेश को चुनौती देते हुए फाइल किया गया था जिसके द्वारा परिवाद को खारिज करने वाले मजिस्ट्रेट के आदेश के विरुद्ध दांडिक पुनरीक्षण नामंजूर कर दिया गया था ।

8. दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 256, अध्याय 20 में अंतर्विष्ट है जिसका शीर्षक "मजिस्ट्रेट द्वारा समन मामलों का विचारण" है । धारा 256 में, जिसका अवलंब लिया गया है, निम्नलिखित रूप में उपबंध किया गया है :–

> "**256. परिवादी का हाजिर न होना या उसकी मृत्यु** – (1) यदि परिवाद पर समन जारी कर दिया गया हो और अभियुक्त की हाजिरी के लिए नियत दिन, या उसके पश्चात्वर्ती किसी दिन, जिसके लिए सुनवाई स्थगित की जाती है, परिवादी हाजिर नहीं होता है तो, मजिस्ट्रेट इसमें इसके पूर्व किसी बात के होते हुए भी, अभियुक्त को दोषमुक्त कर देगा जब तक कि वह किन्हीं कारणों से किसी अन्य दिन के लिए मामले की सुनवाई स्थगित करना ठीक न समझे :
>
> परन्तु जहां परिवादी का प्रतिनिधित्व प्लीडर द्वारा या अभियोजन का संचालन करने वाले अधिकारी द्वारा किया जाता है या जहां मजिस्ट्रेट की यह राय है कि परिवादी की वैयक्तिक हाजिरी आवश्यक नहीं है वहां मजिस्ट्रेट उसकी हाजिरी से उसे अभिमुक्ति दे सकता है और मामले में कार्यवाही कर सकता है ।
>
> (2) उपधारा (1) के उपबंध, जहां तक हो सके, उन मामलों को भी लागू होंगे, जहां परिवादी के हाजिर न होने का कारण उसकी मृत्यु है ।"

9. 1973 की संहिता की धारा 256 के सदृश उपबंध दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 247 में अंतर्विष्ट थे । धारा 247 में वर्ष 1955 में परन्तुक जोड़ा गया था जिसमें यह कहा गया था कि "जहां मजिस्ट्रेट की यह राय है कि वैयक्तिक हाजिरी आवश्यक नहीं है वहां मजिस्ट्रेट ऐसी हाजिरी से उसे अभिमुक्ति दे सकता है" । उक्त परन्तुक द्वारा मूल नियम की कठोरता को कम कर दिया गया और सब कुछ न्यायालय के विवेकाधिकार पर छोड़ दिया गया था । धारा 256 की उपधारा (1) में उक्त

परन्तुक समरूप रीति में अंतर्विष्ट है । इस प्रकार, समन मामलों के विचारण की दशा में यह आवश्यक या आज्ञापक नहीं है कि परिवादी की मृत्यु के पश्चात् परिवाद नामंजूर किया जाना है, मजिस्ट्रेट धारा 256(1) के परन्तुक के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए परिवाद में आगे कार्यवाही कर सकता है । इसके अलावा, प्रस्तुत मामला एक ऐसा मामला है जिसमें भारतीय दंड संहिता की धारा 420, 467, 468, 471, 120ख और धारा 34 के साथ पठित धारा 201 के अधीन अपराध का अभिकथन किया गया था जिसके लिए समन मामलों के विचारण की प्रक्रिया लागू नहीं होती थी और अध्याय 19 – "मजिस्ट्रेटों द्वारा वारंट मामलों का विचारण" में ऐसा कोई उपबंध नहीं है जिसमें यह उपबंधित हो कि परिवादी की मृत्यु की दशा में परिवाद नामंजूर किया जाना है । मजिस्ट्रेट के पास धारा 249 के अधीन ऐसे मामले को खारिज करने की शक्ति प्राप्त है जहां परिवादी अनुपस्थित है । तथापि, धारा 249 के अधीन उन्मोचन के साथ यह शर्त लगी है कि "अपराध का विधिपूर्वक शमन किया जा सकता हो या वह एक संज्ञेय अपराध न हो" । यदि 1973 की संहिता में यह आशयित होता कि किसी वारंट मामले में परिवादी की मृत्यु की दशा में परिवाद नामंजूर किया जाना है तो उपबंध में ऐसा कोई आशय उपदर्शित होता जो कि स्पष्ट रूप से नहीं है ।

10. इस संदर्भ में, **अश्विन नानूभाई व्यास** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय के प्रतिनिर्देश किया जाता है । उक्त मामले में इस न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 के उपबंधों पर विचार किया । परिवादी ने अपीलार्थियों के विरुद्ध परिवाद फाइल किया था । वह परिवाद भारतीय दंड संहिता की धारा 498 और धारा 496 के अधीन फाइल किया गया था । अभियुक्तों को समन किया गया था । तथापि, परिवाद के लंबित रहने के दौरान परिवादी की मृत्यु हो गई । परिवादी की माता ने उसे परिवादी के रूप में कार्यवाही करने हेतु प्रतिस्थापित करने और कार्यवाहियों को जारी रखने के लिए आवेदन किया । मजिस्ट्रेट ने परिवादी की माता को उस परिवाद को जारी रखने के लिए अनुज्ञात किया जिसके विरुद्ध उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण फाइल किया गया था, जो कि खारिज कर दिया गया था । उच्च न्यायालय के आदेश से व्यथित होकर, अपीलार्थी ने इस न्यायालय के समक्ष अपील की थी । इस न्यायालय ने उपर्युक्त संदर्भ में धारा 247 (अब धारा 256) के संबंध में दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 के तात्विक रूप से समान उपबंधों

[1] ए. आई. आर. 1967 एस. सी. 983.

पर विचार किया और विनिर्दिष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उक्त उपबंध में कोई विधिमान्य सादृश्यता नहीं है । उस निर्णय के पैरा 4 में निम्नलिखित रूप में मताभिव्यक्ति की गई थी :–

"4. व्यास की ओर से श्री केसवानी ने मामले के उपशमन के समर्थन में धारा 431 की, जिसके अधीन अपीलों का उपशमन होता है और धारा 247 और 259 की, जिसके अधीन परिवादी के अनुपस्थित रहने पर न्यायालय अभियुक्तों को रिहा या दोषमुक्त कर सकता है, सादृश्यता का अवलंब लिया । ये सादृश्यताएं उसे उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि इनमें विशेष स्थितियों का उपबंध है । न्यायालय के समक्ष जांच और विचारण अनेक किस्म के होते हैं । धारा 247 अध्याय 20 में आती है जो कि किसी मजिस्ट्रेट द्वारा समन मामलों के विचारण के संबंध में है और धारा 259 अध्याय 21 में आती है, जो मजिस्ट्रेटों के समक्ष वारंट मामलों के विचारण के संबंध में है । पूर्ववर्ती धारा के अधीन, यदि किसी परिवाद पर समन जारी किया जाता है और परिवादी किसी भी दिन न्यायालय से अनुपस्थित रहता है तो यदि वह विचारण को अग्रसर करने का विनिश्चय नहीं करता है, उसे अभियुक्त को दोषमुक्त करना चाहिए । यह केवल ऐसे मामलों के विचारण में हो सकता है जो कि एक वर्ष से कम के कारावास से दंडनीय हैं । चूंकि यह किसी सेशन मामले का विचारण नहीं है बल्कि यह एक सुपुर्दगी जांच है इसलिए धारा 247 न तो लागू होती है और न ही यह कोई विधिमान्य सादृश्यता प्रस्तुत करती है । इसी प्रकार, धारा 259, जो कि वारंट मामलों, अर्थात्, किसी मजिस्ट्रेट द्वारा विचारणीय और एक वर्ष से अधिक के कारावास से दंडनीय मामलों के विचारण से संबंधित अध्याय में आती है, कोई सादृश्यता प्रस्तुत नहीं कर सकती । धारा 259 के अधीन, यदि किसी वारंट मामले के रूप में विचारण किया जाने वाला अपराध शमनीय है या संज्ञेय नहीं है तो मजिस्ट्रेट आरोप विरचित किए जाने से पूर्व अभियुक्त को दोषमुक्त कर सकेगा, यदि परिवादी अनुपस्थित रहता है । पुनः, यह धारा लागू नहीं हो सकती है क्योंकि प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट मामले का विचारण अध्याय 21 के अधीन नहीं कर रहा था ।"

11. इस न्यायालय ने आगे 1898 की संहिता की धारा 495 (अब दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 302) पर विचार किया और इस न्यायालय ने पैरा 7 में निम्न प्रकार अधिकथित किया :–

"7. श्री केसवानी ने यह दलील दी कि प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट ने एक नए परिवादी का "प्रतिस्थापन" किया है और संहिता में ऐसी कोई बात नहीं है जो एक परिवादी के स्थान पर दूसरे परिवादी को प्रतिस्थापित करना न्यायसंगत ठहराती हो । यह सही है कि प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट ने "प्रतिस्थापित" शब्द का प्रयोग किया है किन्तु आदेश का आशय यह नहीं है । प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट ने जो कुछ किया है वह माता को अभियोजन जारी रखने के लिए परिवादी के रूप में कार्य करने के लिए अनुज्ञात किया है । निस्संदेह, यह शक्ति प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट के पास संहिता की धारा 495 के कारण थी, जिसके द्वारा न्यायालय (कुछ अपवादों सहित) किसी व्यक्ति को अभियोजन का संचालन करने हेतु प्राधिकृत करने के लिए सशक्त हैं । 'किसी व्यक्ति' शब्दों में निसंदिग्ध रूप से ऐसे मामले में, जैसा कि प्रस्तुत मामला है, परिवादी की माता भी शामिल है । स्वयं धारा 198 में यह अनुध्यात है कि कोई परिवाद व्यथित व्यक्ति से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है और हमें ऐसा कोई विधिमान्य कारण प्रतीत नहीं होता है कि हमें ऐसे गंभीर मामले में यह अभिनिर्धारित क्यों करना चाहिए कि परिवादी की मृत्यु होने से अभियोजन का अंत हो जाता है ।"

12. इस प्रक्रम पर, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 302 के प्रति निर्देश करना आवश्यक है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 302 "जांचों तथा विचारणों के बारे में साधारण उपबंध" शीर्षक वाले अध्याय 25 में अंतर्विष्ट है । धारा 302 का संबंध अभियोजन के संचालन की अनुज्ञा से है, जो कि निम्नलिखित प्रभाव की है :–

"**302. अभियोजन का संचालन करने की अनुज्ञा** – (1) किसी मामले की जांच या विचारण करने वाला कोई मजिस्ट्रेट निरीक्षक की पंक्ति से नीचे के पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी भी व्यक्ति द्वारा अभियोजन के संचालित किए जाने की अनुज्ञा दे सकता है ; किन्तु महाधिवक्ता या सरकारी अधिवक्ता या लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक से भिन्न कोई व्यक्ति ऐसी अनुज्ञा के बिना ऐसा करने का हकदार न होगा :

परन्तु यदि पुलिस के किसी अधिकारी ने उस अपराध के अन्वेषण में, जिसके बारे में अभियुक्त का अभियोजन किया जा रहा है, भाग लिया है तो अभियोजन का संचालन करने की उसे अनुज्ञा न दी जाएगी ।

(2) अभियोजन का संचालन करने वाला कोई व्यक्ति स्वयं या प्लीडर द्वारा ऐसा कर सकता है ।"

13. इस न्यायालय ने **बालासाहेब के. ठाकरे और एक अन्य** बनाम **वेंकट** उर्फ **बबरू**[1] वाले मामले में धारा 256 और धारा 302 पर विचार किया । उपर्युक्त मामले में, परिवाद भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 500 के अधीन फाइल किया गया था । उच्च न्यायालय में आदेशिका जारी किए जाने वाले आदेश के विरुद्ध 1973 की संहिता की धारा 482 के अधीन एक आवेदन फाइल किया गया था, जो कि खारिज कर दिया गया था । इस न्यायालय में विशेष इजाजत याचिका फाइल की गई थी जिसमें सूचना जारी की गई थी और अपील के लंबित रहने के दौरान यह पाया गया था कि परिवादी की मृत्यु हो गई थी । यह दलील दी गई थी कि परिवाद को इस आधार पर खारिज कर दिया जाए कि परिवादी की मृत्यु हो गई है । इस न्यायालय ने उपर्युक्त संदर्भ में धारा 256 और धारा 302 के प्रति निर्देश किया । इस न्यायालय ने अपीलार्थी की इस दलील का खंडन किया कि परिवाद को इस आधार पर खारिज कर दिया जाए कि परिवादी की मृत्यु हो गई थी । पैरा 3 से पैरा 6 में निम्नलिखित रूप में अभिनिर्धारित किया गया था :–

"3. अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल ने संहिता की धारा 256 के प्रति निर्देश से यह दलील दी कि परिवाद को परिवादी की मृत्यु हो जाने के आधार पर खारिज किया जाना था । जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, प्रत्यर्थी सं. 1 के विधिक वारिसों के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि परिवादी के विधिक वारिस अभियोजन चलाने की अनुज्ञा के लिए आवेदन फाइल करेंगे और इसलिए परिवाद पर अब भी विचार किया जा सकता है ।

4. इस प्रक्रम पर इस न्यायालय द्वारा इससे पूर्व लागू होने वाले सिद्धांतों के बारे में जो कथन किया गया है उसका उल्लेख करना सुसंगत है । अश्विन नानूभाई व्यास **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (उपरोक्त) वाले मामले में, दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'पुरानी संहिता' कहा गया है) की धारा 495 के प्रति निर्देश से यह अभिनिर्धारित किया गया था कि मजिस्ट्रेट के पास अभियोजन को चालू रखने के लिए किसी नातेदार को परिवादी के रूप में कार्य करने

---

[1] (2006) 5 एस. सी. सी. 530.

की अनुज्ञा देने की शक्ति प्राप्त है । जिम्मी जहांगीर मदान **बनाम** बॉली केरियप्पा हिंडले (उपरोक्त) वाले मामले में अश्विन (उपरोक्त) वाले मामले के प्रति निर्देश करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया गया था कि परिवादी के वारिस को अभियोजन जारी रखने के लिए संहिता की धारा 302 के अधीन आवेदन फाइल करने के लिए अनुज्ञात किया जा सकता है ।

5. संहिता की धारा 302 निम्नलिखित रूप में है –

'302. अभियोजन का संचालन करने की अनुज्ञा – (1) किसी मामले की जांच या विचारण करने वाला कोई मजिस्ट्रेट निरीक्षक की पंक्ति से नीचे के पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी भी व्यक्ति द्वारा अभियोजन के संचालित किए जाने की अनुज्ञा दे सकता है ; किन्तु महाधिवक्ता या सरकारी अधिवक्ता या लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक से भिन्न कोई व्यक्ति ऐसी अनुज्ञा के बिना ऐसा करने का हकदार न होगा :

परन्तु यदि पुलिस के किसी अधिकारी ने उस अपराध के अन्वेषण में, जिसके बारे में अभियुक्त का अभियोजन किया जा रहा है, भाग लिया है तो अभियोजन का संचालन करने की उसे अनुज्ञा न दी जाएगी ।

(2) अभियोजन का संचालन करने वाला कोई व्यक्ति स्वयं या प्लीडर द्वारा ऐसा कर सकता है ।'

6. संहिता की धारा 302 लागू करने के लिए, मामले की जांच या विचारण करने वाले मजिस्ट्रेट से अभियोजन का संचालन करने की अनुज्ञा अभिप्राप्त करनी होगी । मजिस्ट्रेट के पास निरीक्षक की पंक्ति से नीचे के पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी भी व्यक्ति द्वारा अभियोजन के संचालित किए जाने की अनुज्ञा देने की शक्ति प्राप्त है ; किन्तु महाधिवक्ता या सरकारी अधिवक्ता या लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक से भिन्न कोई व्यक्ति ऐसी अनुज्ञा के बिना ऐसा करने का हकदार न होगा ।"

14. **जिम्मी जहांगीर मदान** बनाम **बॉली केरियप्पा हिंडले (मृत), विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत**[1] वाले मामले में दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ

---

[1] (2004) 12 एस. सी. सी. 509.

ने **अश्विन नानूभाई व्यास** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय के प्रति निर्देश करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि परिवादी के वारिस अभियोजन जारी रख सकते हैं । पैरा 5 में निम्नलिखित रूप में अभिनिर्धारित किया गया था :-

> "5. यह प्रश्न कि परिवादी के वारिसों को अभियोजन जारी रखने के लिए संहिता की धारा 302 के अधीन आवेदन फाइल करने के लिए अनुज्ञात किया जा सकता है अथवा नहीं, अब अनिर्णीत विषय नहीं रहा है क्योंकि इसे अश्विन नानूभाई व्यास **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय द्वारा विनिश्चित कर दिया गया है जिसमें यह न्यायालय दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 495 के अधीन वाले मामले में कार्यवाही कर रहा था, जो कि संहिता की धारा 302 की तत्स्थानी धारा है । उस मामले में, यह अधिकथित किया गया था कि परिवादी की मृत्यु हो जाने पर, उक्त संहिता की धारा 495 के उपबंधों के अधीन परिवादी की माता को अभियोजन को जारी रखने के लिए अनुज्ञात किया जा सकता था । इसके अतिरिक्त, यह अधिकथित किया गया था कि वह या तो स्वयं या किसी प्लीडर के माध्यम से आवेदन कर सकेगी । निसंदिग्ध रूप से, प्रस्तुत मामले में, वारिसों ने अभियोजन को जारी रखने के लिए स्वयं आवेदन फाइल नहीं किए हैं बल्कि वे उनके मुख्तारनामा धारकों द्वारा फाइल किए गए हैं .....।"

15. उपर्युक्त विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए, हमारा यह मत है कि उच्च न्यायालय ने परिवादी के विधिक वारिसों को उच्च न्यायालय के समक्ष दांडिक प्रकीर्ण आवेदन को अग्रसर करने के लिए अनुज्ञात करके कोई गलती नहीं की है । हमें उच्च न्यायालय के आदेश में कोई त्रुटि प्रतीत नहीं होती है । अपील खारिज की जाती है ।

अपील खारिज की गई ।

ग्रो.

यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड

बनाम

सुनील कुमार और एक अन्य

24 नवम्बर, 2017

न्यायमूर्ति रंजन गोगोई, न्यायमूर्ति आदर्श कुमार गोयल और न्यायमूर्ति नवीन सिन्हा

मोटर यान अधिनियम, 1988 (1988 का 59) – धारा 163क और धारा 166 – धारा 163क के अधीन दावा कार्यवाहियां – चूंकि धारा 163क के अधीन संरचना-सूत्र के आधार पर प्रतिकर अनुदत्त किया जाना अंतिम अधिनिर्णय की प्रकृति में आता है और उसके अधीन उपेक्षा के बारे में किसी सबूत की अपेक्षा किए बिना अधिनिर्णय किया जाना होता है, इसलिए, बीमाकर्ता को उपेक्षा संबंधी ऐसा प्रतिवाद करने के लिए अनुज्ञात करना उस धारा को पुरःस्थापित करने संबंधी विधायी आशय के प्रतिकूल होगा ।

प्रस्तुत मामले में, इस न्यायालय के दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ के तर्काधार और निष्कर्ष से सहमत होने में असमर्थ होने के कारण इस न्यायालय की समन्वय न्यायपीठ ने तारीख 29 अक्तूबर, 2013 के आदेश द्वारा ऐसे प्रश्न का समाधान करने के लिए, जो कि विधि संबंधी निम्नलिखित प्रश्न प्रतीत होता है, वर्तमान मामला निर्देशित किया है – "क्या मोटर यान अधिनियम, 1988 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "अधिनियम" कहा गया है) की धारा 163क के अधीन किसी दावा कार्यवाही में बीमाकर्ता उपेक्षा संबंधी प्रतिरक्षा/अभिवाक् करने के लिए स्वतंत्र है ?" इस बारे में एक दूसरा प्रश्न भी उद्भूत होता है कि अधिनियम की धारा 170 में अंतर्विष्ट उपबंधों की सही व्याप्ति और अर्थान्वयन क्या होगा, विनिर्दिष्ट रूप से जैसा कि यह बताया गया है कि निर्देशित प्रश्नों के उत्तर अभी प्रतीक्षित हैं । उपर्युक्त कारणवश इस न्यायालय को निर्देश में उद्भूत होने वाले केवल प्रथम प्रश्न का उत्तर देना होगा । इस न्यायालय के दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने अधिनियम की धारा 163क की व्याप्ति को इस रूप में समझा कि वह किसी बीमाकर्ता को प्रतिकर के दावे का विरोध करने के लिए उपेक्षा संबंधी प्रतिरक्षा का पक्षकथन करने में समर्थ बनाती है । वह मूल आधार, जिस पर निष्कर्ष निकाला और अभिलिखित किया गया था,

अधिनियम की धारा 163क में अधिनियम की धारा 140 की उपधारा (4) के समरूप किसी उपबंध का अभाव है । न्यायपीठ द्वारा ऐसे अभाव को ऐसे स्पष्ट विधायी आशय की अभिव्यक्ति के रूप में समझा गया है कि अधिनियम की धारा 140 के अधीन किसी कार्यवाही के विपरीत, जहां उपेक्षा पर आधारित बीमाकर्ता की प्रतिरक्षा को निकाल दिया गया है, अधिनियम की धारा 163क के अधीन किसी कार्यवाही में वही स्थिति नहीं है । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील का तद्नुसार निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – मोटर यान अधिनियम, 1988 की धारा 163क नए अधिनियम में प्रथम बार ऐसी स्थिति के उपचारस्वरूप पुरःस्थापित की गई थी जहां अधिनियम की धारा 166 के अधीन त्रुटि के आधार पर अंतिम प्रतिकर के अवधारण में निरंतर विलंब हो रहा है । विधायी आशय और प्रयोजन, दावेदारों के एक वर्ग को (जिसकी आय 40,000/– रुपए प्रतिवर्ष से कम है) त्रुटियुक्त दायित्व के प्रति कोई निर्देश किए बिना संरचना सूत्र के आधार पर अंतिम प्रतिकर का संदाय करने के लिए उपबंध करना था । संरचना सूत्र के आधार पर धारा 163क के अधीन प्रतिकर अनुदत्त किया जाना अंतिम अधिनिर्णय की प्रकृति में आता है और उसके अधीन दुर्घटना में अंतर्वलित यान(यानों) के चालक/स्वामी की उपेक्षा के बारे में किसी सबूत की कोई अपेक्षा किए बिना अधिनिर्णय किया जाना अपेक्षित होता है । इसे धारा 163क(2) द्वारा स्पष्ट किया गया है । यद्यपि अधिनियम की पूर्वोक्त धारा में धारा 140(4) द्वारा यथा-अनुध्यात दावेदार की उपेक्षा पर आधारित बीमाकर्ता की संभावित प्रतिरक्षा को अपवर्जित नहीं किया गया है तथापि, बीमाकर्ता को ऐसी प्रतिरक्षा किए जाने के लिए अनुज्ञात करना और/या अधिनियम की धारा 163क के उपबंधों को इस प्रकार समझना कि उसमें ऐसी कोई स्थिति अनुध्यात है, अधिनियम की धारा 163क को पुरःस्थापित करने के पीछे इस विधायी उद्देश्य के प्रतिकूल होगा, अर्थात् ऐसी स्थितियों से निपटने के लिए जहां त्रुटियुक्त दायित्व के आधार पर प्रतिकर के दावों में असम्यक् लंबा समय लग रहा है, वहां समय-सीमा के भीतर संरचना सूत्र के आधार पर सीमित अंतिम प्रतिकर देना । वास्तव में, अधिनियम की धारा 163क को इस प्रकार समझना कि उसमें बीमाकर्ता को उपेक्षा संबंधी प्रतिरक्षा करने के लिए अनुज्ञात किया गया है, अधिनियम की धारा 163क के अधीन आने वाली किसी कार्यवाही को अधिनियम की धारा 166 के अधीन आने वाली कार्यवाही के समान लाना होगा, जो कि न केवल परस्पर-विरोधी होगा बल्कि इससे विधायी आशय भी विफल हो

जाएगा । पूर्वोक्त कारणों से, उद्भूत होने वाले प्रश्न का उत्तर दिया जाता है कि अधिनियम की धारा 163क के अधीन किसी कार्यवाही में बीमाकर्ता पीड़ित व्यक्ति की ओर से उपेक्षा बरते जाने संबंधी कोई प्रतिवाद करने के लिए स्वतंत्र नहीं है । (पैरा 7, 8 और 9)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2012]	(2012) 2 एस. सी. सी. 356 : **नेशनल इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड** बनाम **सिनीता और अन्य** ;	1,3
[2011]	(2011) 10 एस. सी. सी. 509 : **यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड** बनाम **शीला दत्ता और अन्य** ;	2
[2004]	(2004) 5 एस. सी. सी. 385 : **दीपाली गिरीशभाई सोनी और अन्य** बनाम **यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड, बड़ौदा** ;	5,6
[2001]	(2001) 5 एस. सी. सी. 175 : **ओरियंटल इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड** बनाम **हंसराजभाई वी. कोडला और अन्य** ।	6,7

सिविल अपीली अधिकारिता : 2013 की सिविल अपील सं. 9694.

2011 की मोटर दुर्घटना मामला (एम. सी. ए.) अपील सं. 900 में नई दिल्ली स्थित दिल्ली उच्च न्यायालय के तारीख 10 अक्तूबर, 2011 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से	श्री अमित कुमार सिंह और श्रीमती ई. एनातोली सेमा, मैसर्स ला एसोसिएट्स की ओर से
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री अजय कुमार तलेसरा, अमित सिंह चौहान, (सुश्री) निधि विपिन नायर, पी. बी. सुरेश और अभय प्रताप सिंह

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति रंजन गोगोई ने दिया ।

न्या. गोगोई – **नेशनल इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड** बनाम **सिनीता और**

अन्य[1] वाले मामले में इस न्यायालय के दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ के तर्काधार और निष्कर्ष से सहमत होने में असमर्थ होने के कारण इस न्यायालय की समन्वय न्यायपीठ ने तारीख 29 अक्तूबर, 2013 के आदेश द्वारा ऐसे प्रश्न का समाधान करने के लिए, जो कि विधि संबंधी निम्नलिखित प्रश्न प्रतीत होता है, वर्तमान मामला निर्देशित किया है :–

> "क्या मोटर यान अधिनियम, 1988 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 163क के अधीन किसी दावा कार्यवाही में बीमाकर्ता उपेक्षा संबंधी प्रतिरक्षा/अभिवाक् करने के लिए स्वतंत्र है ?"

2. इस बारे में एक दूसरा प्रश्न भी उद्भूत होता है कि अधिनियम की धारा 170 में अंतर्विष्ट उपबंधों की सही व्याप्ति और अर्थान्वयन क्या होगा, विनिर्दिष्ट रूप से जैसा कि **यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड** बनाम **शीला दत्ता और अन्य**[2] वाले मामले में रिपोर्ट के पैरा 10 में प्रश्न सं. (iii) से (iv) में उपवर्णित किया गया है, । तथापि, पूर्वोक्त प्रश्न **शीला दत्ता** (उपर्युक्त) वाले मामले में ही बृहत्तर न्यायपीठ को निर्देशित कर दिया गया है । हमें यह बताया गया है कि निर्देशित प्रश्नों के उत्तर अभी प्रतीक्षित हैं । उपर्युक्त कारणवश हमें निर्देश में उद्भूत होने वाले केवल प्रथम प्रश्न का उत्तर देना होगा, जिसे इसमें इसके ऊपर उपवर्णित किया गया है ।

3. **सिनीता** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने अधिनियम की धारा 163क की व्याप्ति को इस रूप में समझा कि वह किसी बीमाकर्ता को प्रतिकर के दावे का विरोध करने के लिए उपेक्षा संबंधी प्रतिरक्षा का पक्षकथन करने में समर्थ बनाती है । वह मूल आधार, जिस पर **सिनीता** (उपर्युक्त) वाले मामले में निष्कर्ष निकाला और अभिलिखित किया गया था, अधिनियम की धारा 163क में अधिनियम की धारा 140 की उपधारा (4) के समरूप किसी उपबंध का अभाव है । न्यायपीठ द्वारा ऐसे अभाव को ऐसे स्पष्ट विधायी आशय की अभिव्यक्ति के रूप में समझा गया है कि अधिनियम की धारा 140 के अधीन किसी कार्यवाही के विपरीत, जहां उपेक्षा पर आधारित बीमाकर्ता की प्रतिरक्षा को निकाल दिया गया है, अधिनियम की धारा 163क के अधीन किसी कार्यवाही में वही स्थिति नहीं है ।

---

[1] (2012) 2 एस. सी. सी. 356.

[2] (2011) 10 एस. सी. सी. 509.

4. हमने मामले पर विचार किया है और पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों की सुनवाई की है ।

5. **दीपाली गिरीशभाई सोनी और अन्य** बनाम **यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड, बड़ौदा**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ के समक्ष विवाद्यक अधिनियम की धारा 163क और धारा 166 के उपबंधों की पारस्परिक असंगति के बारे में था । उक्त प्रश्न पर विचार करते समय, इस न्यायालय को अधिनियम में धारा 140 और धारा 163क को सम्मिलित करने संबंधी कारणों और उद्देश्यों का परिशीलन करने का अवसर मिला, जिन्हें पश्चात्वर्ती संशोधनों द्वारा लाया गया था, जिसके विवरण के संबंध में इसमें इसके नीचे पृथक् रूप से उल्लेख किया जा रहा है । न्यायपीठ ने यह दृष्टिकोण भी अपनाया कि जबकि अधिनियम की धारा 140 अंतरिम प्रतिकर के मामलों के संबंध में है जिसमें दावेदार को अधिनियम की धारा 166 के उपबंधों का अवलंब लेकर अंतिम प्रतिकर के लिए प्रश्न उठाने की स्वतंत्रता दी गई है, अधिनियम की धारा 163क में अधिनियम से संलग्न दूसरी अनुसूची के उपबंधों का अनुसरण करते हुए संरचना सूत्र के आधार पर अंतिम प्रतिकर अधिनिर्णीत करने का उपबंध किया गया है । दोनों धाराएं, अर्थात्, धारा 140 और धारा 163क 'त्रुटि के बिना दायित्व' की संकल्पना पर आधारित हैं और उन्हें सामाजिक सुरक्षा के अध्युपायों के रूप में अधिनियमित किया गया है । इसके अलावा, यह उल्लेख किया गया था कि अधिकरण से अधिनियम की धारा 140 के अधीन किसी कार्यवाही के विपरीत, अधिनियम की धारा 163क के अधीन किसी कार्यवाही में विभिन्न विवादग्रस्त प्रश्नों, जैसे आयु, आय, आदि के संबंध में न्यायनिर्णय करने की अपेक्षा की जा सकती है ।

6. **दीपाली गिरीशभाई सोनी** (उपर्युक्त) वाला मामला, वास्तव में **ओरियंटल इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड** बनाम **हंसराजभाई वी. कोडला और अन्य**[2] वाले मामले में अभिव्यक्त इस मत की शुद्धता के संबंध में विनिश्चय करने के लिए किए गए निर्देश से उद्भूत हुआ था कि अधिनियम की धारा 163क के अधीन किसी कार्यवाही में प्रतिकर का निर्धारण अंतिम है और अधिनियम की धारा 166 के अधीन आगे कार्यवाहियां वर्जित हैं । **हंसराजभाई वी. कोडला** (उपर्युक्त) वाले मामले में व्यक्त राय में पुराने अधिनियम (अर्थात्, मोटर यान अधिनियम, 1939) की धारा 92क से 92ङ

---

[1] (2004) 5 एस. सी. सी. 385.

[2] (2001) 5 एस. सी. सी. 175.

को (जो कि प्रस्तुत अधिनियम की धारा 140 से 144 तक की तत्स्थानी धाराएं हैं) अधिनियमित करने वाले कारणों को विस्तार से दोहराया गया है, जिनके द्वारा प्रथम बार इस प्रायिक सामान्य विधि से विचलन करते हुए कि दावेदार को किसी मोटर यान दुर्घटना के कारण कारित मृत्यु या स्थायी निःशक्तता के लिए किसी प्रतिकर का दावा करने से पूर्व मोटर यान के स्वामी या चालक की ओर से बरती गई उपेक्षा को साबित करना चाहिए, त्रुटि के बिना दायित्व की संकल्पना पुरःस्थापित की गई थी । उक्त रिपोर्ट में मोटर यान अधिनियम, 1988 के उपबंधों का पुनर्विलोकन करने के लिए गठित समिति के विचार-विमर्श और परिवहन विकास परिषद् के सुझावों के प्रति निर्देश किया गया है, जिनके आधार पर 1994 का प्रारूप विधेयक अधिनियमित किया गया था, जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ निम्नलिखित के लिए उपबंध किया गया है :-

> "(ज) दुर्घटना करके भाग जाने वाले मामलों के शिकार व्यक्तियों के प्रतिकर की रकम में वृद्धि करना ;
>
> (ट) सड़क दुर्घटना के शिकार व्यक्तियों को आयु/आय के आधार पर प्रतिकर का संदाय करने संबंधी एक नया पूर्व-निर्धारित सूत्र, जो अधिक उदार और तर्कसंगत है ।"

7. जैसा कि **हंसराजभाई वी. कोडला** (उपर्युक्त) वाले मामले में मत व्यक्त किया गया है, परिवहन विकास परिषद् द्वारा दिए गए सुझावों में से एक सुझाव "सड़क दुर्घटनाओं के शिकार व्यक्तियों के लिए लंबी चलने वाली प्रक्रिया के बिना पर्याप्त प्रतिकर का उपबंध करना" था । समिति और परिषद् द्वारा की गई सिफारिशों के परिणामस्वरूप पुराने अधिनियम की धारा 92क से 92ङ के स्थान पर प्रस्तुत अधिनियम में धारा 140 अधिनियमित की गई थी । उसके अधीन संदेय प्रतिकर, जैसा कि निरसित उपबंधों के अधीन था, त्रुटि के बिना दायित्व के आधार पर जारी रहा हालांकि वह प्रतिकर वृद्धित दर पर था, जिसमें पश्चात्वर्ती संशोधनों द्वारा और वृद्धि की गई थी । प्रस्तुत अधिनियम की धारा 140 और 141 से यह स्पष्ट होता है कि उसके अधीन संदेय प्रतिकर से अधिनियम की धारा 163क के अधीन अधिनिर्णीत प्रतिकर के सिवाय, अधिनियम के किसी अन्य उपबंध या किसी अन्य प्रवृत्त विधि के अधीन प्रतिकर का संदाय करने का दायित्व या प्रतिकर प्राप्त करने का अधिकार पुरोबंधित नहीं हो जाता है । इस प्रकार, अधिनियम की धारा 140 के अधीन प्रतिकर के बारे में यह समझा जाता है कि वह अधिनियम की धारा 166 के अधीन अंतिम अधिनिर्णय के लंबित

रहते हुए अंतरिम संदाय की प्रकृति का है । दूसरी ओर, धारा 163क नए अधिनियम में प्रथम बार ऐसी स्थिति के उपचारस्वरूप पुरःस्थापित की गई थी जहां अधिनियम की धारा 166 के अधीन त्रुटि के आधार पर अंतिम प्रतिकर के अवधारण में निरंतर विलंब हो रहा है । विधायी आशय और प्रयोजन, दावेदारों के एक वर्ग को (जिसकी आय 40,000/– रुपए प्रतिवर्ष से कम है) त्रुटियुक्त दायित्व के प्रति कोई निर्देश किए बिना संरचना सूत्र के आधार पर अंतिम प्रतिकर का संदाय करने के लिए उपबंध करना था । वास्तव में, **हंसराजभाई वी. कोडला** (उपर्युक्त) वाले मामले में न्यायपीठ ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया :–

> "तेज़ी से बढ़ते समाज में मोटर यान दुर्घटना की लगातार बढ़ती संख्या के कारण सामाजिक सुरक्षा अध्युपाय के रूप में सामाजिक न्याय के सिद्धांत के आधार पर त्रुटि का अभिवाक् करने या त्रुटि के सबूत के बिना प्रतिकर की रकम का संदाय किया जाता है । इसके अतिरिक्त, धारा 163क के अंतःस्थापन से पूर्व विधि की दृष्टि से त्रुटि के बिना दायित्व के लिए धारा 140 के अधीन उपबंधित सीमा तक सीमित फायदा दिया जा रहा था और त्रुटियुक्त दायित्व के आधार पर प्रतिकर की रकम का अवधारण करने में काफी समय लग रहा था । धारा 163क पुरःस्थापित करके उस रिष्टि का उपचार करने की ईप्सा की गई है और पीड़ित व्यक्तियों को संरचना सूत्र के आधार पर फायदा प्रदान करके विलंब की बुराई का काफी हद तक अंत करने की ईप्सा की गई है । इसके अतिरिक्त, यदि त्रुटियुक्त दायित्व के आधार पर प्रतिकर अवधारित करने के प्रश्न को जीवित रखा जाता है तो इसके परिणामस्वरूप अतिरिक्त मुकदमेबाजी और जटिलताएं पैदा होंगी, यदि दावेदार व्यतिक्रमी यानों के स्वामी के दायित्व को साबित करने में असफल रहता है ।"

8. उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह स्पष्ट होता है कि संरचना सूत्र के आधार पर अधिनियम की धारा 163क के अधीन प्रतिकर अनुदत्त किया जाना अंतिम अधिनिर्णय की प्रकृति में आता है और उसके अधीन दुर्घटना में अंतर्वलित यान (यानों) के चालक/स्वामी की उपेक्षा के बारे में किसी सबूत की कोई अपेक्षा किए बिना अधिनिर्णय किया जाना अपेक्षित होता है । इसे धारा 163क(2) द्वारा स्पष्ट किया गया है । यद्यपि अधिनियम की पूर्वोक्त धारा में धारा 140(4) द्वारा यथा-अनुध्यात दावेदार की उपेक्षा पर आधारित बीमाकर्ता की संभावित प्रतिरक्षा को अपवर्जित नहीं किया गया है

तथापि, बीमाकर्ता को ऐसी प्रतिरक्षा किए जाने के लिए अनुज्ञात करना और/ या अधिनियम की धारा 163क के उपबंधों को इस प्रकार समझना कि उसमें ऐसी कोई स्थिति अनुध्यात है, अधिनियम की धारा 163क को पुरःस्थापित करने के पीछे इस विधायी उद्देश्य के प्रतिकूल होगा, अर्थात् ऐसी स्थितियों से निपटने के लिए जहां त्रुटियुक्त दायित्व के आधार पर प्रतिकर के दावों में असम्यक् लंबा समय लग रहा है, वहां समय-सीमा के भीतर संरचना सूत्र के आधार पर सीमित अंतिम प्रतिकर देना । वास्तव में, अधिनियम की धारा 163क को इस प्रकार समझना कि उसमें बीमाकर्ता को उपेक्षा संबंधी प्रतिरक्षा करने के लिए अनुज्ञात किया गया है, अधिनियम की धारा 163क के अधीन आने वाली किसी कार्यवाही को अधिनियम की धारा 166 के अधीन आने वाली कार्यवाही के समान लाना होगा, जो कि न केवल परस्पर-विरोधी होगा बल्कि इससे विधायी आशय भी विफल हो जाएगा ।

9. पूर्वोक्त कारणों से, हम यह अभिनिर्धारित करते हुए उद्भूत होने वाले प्रश्न का उत्तर देते हैं कि अधिनियम की धारा 163क के अधीन किसी कार्यवाही में बीमाकर्ता पीड़ित व्यक्ति की ओर से उपेक्षा बरते जाने संबंधी कोई प्रतिवाद करने के लिए स्वतंत्र नहीं है ।

10. अब यह अपील, मोटर यान अधिनियम, 1939 की धारा 170 में अंतर्विष्ट उपबंधों की सही व्याप्ति और अर्थान्वयन के संबंध में वृहत्तर न्यायपीठ की राय प्राप्त होने के पश्चात् गुणागुण के आधार पर निपटारा करने के लिए नियमित न्यायपीठ के समक्ष सूचीबद्ध की जाएगी ।

11. चूंकि अपील के अंतिम निपटारे में समय लग सकता है इसलिए हमारा यह मत है कि प्रतिकर का 50 प्रतिशत, जो कि तारीख 24 फरवरी, 2012 के आदेश के निबंधनानुसार इस समय रजिस्ट्री में जमा पड़ा हुआ है, दावेदारों को सम्यक् पहचान करने पर दे दिया जाना चाहिए ।

अपील का तद्नुसार निपटारा किया गया ।

ग्रो.

[2018] 1 उम. नि. प. 424

अग्रवाल ट्राकोम प्राइवेट लिमिटेड

बनाम

पंजाब नेशनल बैंक और अन्य

27 नवम्बर, 2017

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

वित्तीय आस्तियों का प्रतिभूतिकरण और पुनर्गठन और प्रतिभूति हित का प्रवर्तन अधिनियम, 2002 (2002 का 54) – धारा 13(4) और 17 [सपठित प्रतिभूति हित (प्रवर्तन) नियम, 2002 का नियम 8 और 9] – अनुकल्पी कानूनी उपचार – प्रतिभूत लेनदार द्वारा नीलाम क्रेता की ओर से किए गए निक्षेप का समपहरण – प्रतिभूत लेनदार की समपहरण की कार्रवाई को दी गई चुनौती को धारा 17(1) के अधीन अनुकल्पी कानूनी उपचार उपलब्ध होने के आधार पर नामंजूर किया जाना – चूंकि नीलाम क्रेता द्वारा किए गए निक्षेप को समपहृत करने संबंधी प्रतिभूत लेनदार की कार्रवाई धारा 13(4) के अधीन उधार लेने वाले द्वारा विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर अपने दायित्व का पूर्णतः निर्वहन करने में असफल रहने पर प्रतिभूत लेनदार द्वारा किए जाने वाले उपायों का एक भाग है, इसलिए, नीलाम-क्रेता के पास प्रतिभूत लेनदार की उक्त कार्रवाई को चुनौती देने के लिए धारा 17(1) के अधीन संबंधित ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष आवेदन फाइल करने का अनुकल्पी कानूनी उपचार उपलब्ध था ।

प्रत्यर्थी एक राष्ट्रीयकृत बैंक है । प्रत्यर्थी ने मैसर्स इंडिया आयरन एंड स्टील कारपोरेशन लिमिटेड नामक एक कंपनी को (जिसे संक्षेप में "उधार लेने वाला" कहा गया है) उसके कारबार के लिए उधार सुविधा दी थी । उधार लेने वाले ने उधार की रकम सुनिश्चित करने के लिए अपनी आस्तियों को प्रतिभूत किया था । तथापि, उधार लेने वाला अपनी उधार की रकम वापस करने में असफल रहा और उसके प्रतिसंदाय में व्यतिक्रमी हो गया । इसलिए, प्रत्यर्थी-बैंक ने वित्तीय आस्तियों का प्रतिभूतिकरण और पुनर्गठन तथा प्रतिभूति हित का प्रवर्तन अधिनियम, 2002 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "सरफेसी अधिनियम" कहा गया है) की धारा 13(4) के अधीन अपनी शक्तियों का आश्रय लिया और उधार लेने वाले की बंधकित आस्तियों का सार्वजनिक नीलामी में विक्रय के लिए एक सार्वजनिक विक्रय

सूचना जारी की । अपीलार्थी उन बोली लगाने वालों में से एक था, जिसकी बोली उच्चतर घोषित की गई थी । तद्नूसार, प्रत्यर्थी-बैंक द्वारा अपीलार्थी की बोली को स्वीकार किया गया था और उसके पश्चात् अपीलार्थी और बैंक के बीच समझौता ज्ञापन निष्पादित (उपाबंध पी-4) किया गया था । बैंक ने भी अपीलार्थी को यह कथन करते हुए एक पत्र भेजा कि संपूर्ण संयंत्र, मशीनरी, भूमि और भवन को अपीलार्थी के पक्ष में नीलाम किया जाता है । उस पत्र में अपीलार्थी को समझौता ज्ञापन में पक्षकारों के बीच करार की गई विक्रय रकम का आवश्यक किस्त जमा करने के पश्चात् उस संयंत्र और मशीनरी को, जो उधार लेने वाले के कारखाना परिसर में पड़ी हुई थी, विखंडित करने और स्क्रैप का विक्रय करने के लिए भी प्राधिकृत किया गया था । तथापि, अपीलार्थी प्रत्यर्थी-बैंक को समझौता ज्ञापन के निबंधनानुसार विक्रय धनराशि के मद्धे नियमित किस्तों का संदाय करने में असफल रहा और उसने संदाय करने और स्थल से स्क्रैप सामग्री हटाने के लिए समय बढ़ाने की ईप्सा की । इससे पक्षकारों, अर्थात् प्रत्यर्थी-बैंक, अपीलार्थी (नीलाम क्रेता) और उधार लेने वाले के बीच ऋण वसूली अधिकार के समक्ष विवाद उद्भूत हो गए, जिसमें अपीलार्थी को यह निदेश देते हुए एक आदेश पारित किया गया था कि कारखाना परिसर से कोई सामग्री न हटाई जाए । इसके पश्चात्, अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी-बैंक को यह अनुरोध करते हुए एक पत्र लिखा कि उसकी धनराशि का ब्याज सहित प्रतिदाय किया जाए । इसके परिणामस्वरूप पक्षकारों के बीच एक अन्य विवाद उत्पन्न हो गया जो पहले ऋण वसूली अधिकरण में और इसके पश्चात् अपील प्राधिकारी - ऋण वसूली अपील अधिकरण और अंततः उधार लेने वाले द्वारा उच्च न्यायालय में रिट याचिका फाइल की गई थी । इस रिट याचिका में यह मत व्यक्त किया गया था कि चूंकि अपीलार्थी समझौता ज्ञापन के निबंधनों का अनुपालन करने में असफल रहा था और क्योंकि अपीलार्थी विक्रय धनराशि की अपेक्षित किस्त जमा करने में असफल रहा था इसलिए प्रत्यर्थी-बैंक नीलामी विक्रय के संबंध में कार्यवाही नहीं कर सकता है और न ही अपीलार्थी को कारखाना परिसर में पड़ी स्क्रैप सामग्री को हटाने के लिए अनुज्ञात किया जा सकता है । इसके परिणामस्वरूप प्रत्यर्थी-बैंक ने अपीलार्थी के निक्षेप को समपहृत कर लिया । अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी-बैंक की कार्रवाई के संबंध में पत्रों द्वारा आक्षेप किया और इसके पश्चात् उच्च न्यायालय में रिट याचिका फाइल की, जिसके द्वारा अपीलार्थी के धन निक्षेप को समपहृत करने वाली बैंक की कार्रवाई को चुनौती दी गई । उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने

अपीलार्थी की रिट याचिका को इस आधार पर खारिज कर दिया कि अपीलार्थी के पास उसके धन निक्षेप को समपहृत करने वाली प्रत्यर्थी-बैंक की कार्रवाई को चुनौती देने के लिए ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष सरफेसी अधिनियम की धारा 17 के अधीन आवेदन फाइल करने का अनुकल्पी कानूनी उपचार उपलब्ध है । इसलिए, एकल न्यायाधीश ने मामले के गुणागुण की परीक्षा करने से इनकार कर दिया । अपीलार्थी ने, एकल न्यायाधीश के आदेश से व्यथित महसूस करते हुए, खंड न्यायपीठ के समक्ष अंतर-न्यायालीय अपील फाइल की । खंड न्यायपीठ ने आक्षेपित निर्णय द्वारा अपील खारिज कर दी और एकल न्यायाधीश के आदेश को पुष्ट कर दिया । खंड न्यायपीठ का यह मत भी था कि अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई रिट याचिका एकल न्यायाधीश (रिट न्यायालय) द्वारा इस आधार पर ठीक ही ग्रहण नहीं की गई थी कि अपीलार्थी के पास उचित उपचार यह था कि वह बैंक द्वारा की गई समपहरण की कार्रवाई को प्रश्नगत करने के लिए सरफेसी अधिनियम की धारा 17 के अधीन ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष आवेदन फाइल करता न कि संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट याचिका फाइल करता । नीलाम क्रेता ने इससे व्यथित महसूस करते हुए उच्चतम न्यायालय में विशेष इजाजत लेकर प्रस्तुत अपील फाइल की है । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – वित्तीय आस्तियों का प्रतिभूतिकरण और पुनर्गठन तथा प्रतिभूति हित का प्रवर्तन अधिनियम, 2002 के अधीन प्रतिभूत लेनदार द्वारा अपने उधार लेने वालों के विरुद्ध धारा 13(4) का अवलंब तब लिया जाता है जब उधार लेने वाला विनिर्दिष्ट समय के भीतर अपने दायित्व का पूर्ण रूप से निर्वहन करने में असफल रहता है । तब प्रतिभूत लेनदार खंड (क) के अधीन बकाया शोध्यों की वसूली करने के लिए उधार लेने वाले की आस्तियों का कब्जा ग्रहण कर सकता है, पट्टे या समनुदेशन द्वारा आस्तियों का अंतरण या आस्तियों का विक्रय कर सकता है । खंड (ख) के अधीन, प्रतिभूत लेनदार उधार लेने वाले के कारबार का प्रबंध-ग्रहण या पट्टे, समनुदेशन या विक्रय द्वारा अंतरण भी कर सकता है । तथापि, ऐसी शक्ति का अवलंब केवल तभी लिया जा सकता है जब लेनदार उधार लेने वाले के कारबार का सारवान् भाग प्रतिभूति के रूप में धारित करता हो और इसके अलावा वह दूसरे परन्तुक में उपवर्णित शर्तों को पूरा करता हो । खंड (ग) के अधीन, प्रतिभूत लेनदार, उधार लेने वाले के कारबार का प्रबंध करने के लिए कोई प्रबंधक भी नियुक्त कर सकता है और अंततः खंड (घ) के अधीन, प्रतिभूत लेनदार ऐसे किसी व्यक्ति को, जिससे धन शोध्य है या

शोध्य हो जाता है, उधार लेने वाले को संदाय करने की बजाय प्रतिभूत लेनदार को उतना संदाय करने के लिए कह सकता है, जो कि ऋण की तुष्टि के लिए पर्याप्त है । जहां तक धारा 17 का संबंध है, इसमें ऐसे किसी व्यक्ति के लिए, जो कि प्रतिभूत लेनदार या उसके प्राधिकृत अधिकारी द्वारा धारा 13(4) के अधीन उधार लेने वाले की प्रतिभूत आस्तियों के संबंध में किए गए उपायों से व्यथित है, एक उपचार का उपबंध किया गया है । इसमें यह कहा गया है कि कोई व्यक्ति (जिसमें उधार लेने वाला भी सम्मिलित है) धारा 13(4) के अधीन उपाय किए जाने की तारीख से पैंतालीस दिन के भीतर ऋण वसूली अधिकरण को आवेदन कर सकेगा । धारा 17 की उपधारा (2) तारीख 11 नवम्बर, 2004 के संशोधन द्वारा जोड़ी गई थी । इसमें यह उपबंध किया गया है कि धारा 17(1) के अधीन ऐसा आवेदन किए जाने पर, अधिकरण यह विचार करेगा कि क्या धारा 13 की उपधारा (4) के अधीन निर्दिष्ट और प्रतिभूत लेनदार द्वारा किए गए उपाय, "इस अधिनियम और तद्धीन बनाए गए नियमों के उपबंधों" के अनुरूप हैं । (पैरा 20, 21, 22 और 23)

प्रतिभूति हित (प्रवर्तन) नियम, 2002 के नियम 9 के उपनियम (5) में यह उपबंधित है कि यदि नीलाम क्रेता विनिर्दिष्ट समय के भीतर विक्रय प्रतिफल का संदाय करने में कोई व्यतिक्रम करता है तो नीलाम क्रेता द्वारा किया गया निक्षेप प्रतिभूत लेनदार को "समपहृत" हो जाएगा और नीलाम संपत्ति का पुनर्विक्रय किया जाएगा तथा व्यतिक्रमी क्रेता के संपत्ति या ऐसी धनराशि के, जिसके लिए उसे बाद में विक्रय किया जा सकता है, भाग पर के सभी दावे "समपहृत" हो जाएंगे । ऊपर उल्लिखित धाराओं और नियमों तथा विशेषकर धारा 17(2) और नियम 9(5) के पठन से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होगा कि नीलाम क्रेता द्वारा किए गए निक्षेप को समपहृत करने में प्रतिभूत लेनदार की कार्रवाई धारा 13(4) के अधीन प्रतिभूत लेनदार द्वारा किए गए उपायों का एक भाग है । (पैरा 26 और 27)

धारा 17(2) में अधिकरण को धारा 13(4) के अधीन किए गए उपायों से, जिसके अंतर्गत प्रतिभूत लेनदार द्वारा नियम 8 और नियम 9 के अधीन उधार लेने वाले की प्रतिभूत आस्तियों का व्ययन करने के लिए किए गए उपाय भी सम्मिलित हैं, उद्भूत सभी विवाद्यकों की परीक्षा करने के लिए सशक्त किया गया है । धारा 17 की उपधारा (2), (3), (4) और (7) में आने वाली "इस अधिनियम और तद्धीन बनाए गए नियमों के उपबंध" अभिव्यक्ति से स्पष्ट रूप से यह संकेत मिलता है कि इसके अंतर्गत धारा 13(4) के अधीन की गई कार्रवाई सम्मिलित है तथा उसमें नियम 8 और

नियम 9 के अधीन, जो प्रतिभूत आस्तियों का विक्रय पूरा होने के संबंध में है, की गई कार्रवाई भी सम्मिलित है । दूसरे शब्दों में, धारा 13(4) के अधीन किए गए उपाय तब तक पूर्ण नहीं होंगे जब तक नियम 8 और नियम 9 में प्रतिभूत आस्तियों के विक्रय के लिए अधिकथित संपूर्ण प्रक्रिया का प्रतिभूत लेनदार द्वारा पूर्ण रूप से अनुपालन नहीं किया जाता है । इसी कारण, धारा 17(2), (3) और (4) द्वारा अधिकरण को इस बात का पता लगाने की दृष्टि से कि प्रतिभूत आस्तियों का विक्रय नियमों के साथ पठित धारा 13(4) में अंतर्विष्ट अपेक्षाओं के अनुरूप किया गया था अथवा नहीं, प्रतिभूत लेनदार द्वारा उठाए गए सभी कदमों की परीक्षा करने के लिए सशक्त किया गया है । नियम 9(5) में प्रतिभूत लेनदार को नीलाम क्रेता द्वारा किए गए निक्षेप को उस दशा में समपहृत करने की स्पष्ट शक्ति प्रदान की गई है यदि नीलाम क्रेता प्रतिभूत लेनदार को विक्रय धन की किस्त का संदाय करने में कोई व्यतिक्रम कारित करता है । प्रतिभूत लेनदार द्वारा की गई ऐसी कार्रवाई धारा 13(4) में विनिर्दिष्ट उपायों का एक भाग है और इसलिए इसे नियम 9(5) के साथ पठित धारा 13(4) के अधीन एक उपाय समझा जाता है । (पैरा 28 और 29)

रिट न्यायालय तथा अपील न्यायालय द्वारा नियम 9(5) के अधीन अपीलार्थी के निक्षेप को समपहृत करने संबंधी पी. एन. बी. की कार्रवाई को चुनौती देने के लिए सरफेसी अधिनियम की धारा 17(1) के अधीन संबंधित अधिकरण के समक्ष आवेदन फाइल करने संबंधी अनुकल्पी कानूनी उपचार उपलब्ध होने के आधार पर अपीलार्थी की रिट याचिका को खारिज करना न्यायोचित था । तद्नुसार, अपीलार्थी को इस आदेश की तारीख से 45 दिन के भीतर सरफेसी अधिनियम की धारा 17(1) के अधीन संबंधित अधिकरण (ऋण वसूली अधिकरण) के समक्ष आवेदन फाइल करने की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है, जिसे ऐसा आवेदन ग्रहण करने की अधिकारिता प्राप्त है । यदि अपीलार्थी ऐसा कोई आवेदन फाइल करता है तो अधिकरण इस न्यायालय और आक्षेपित निर्णय में उच्च न्यायालय द्वारा की गई किसी भी मताभिव्यक्ति से प्रभावित हुए बिना विधि के अनुसार गुणागुण के आधार पर उसका विनिश्चय करेगा । (पैरा 34 और 35)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2014]	(2014) 4 महाराष्ट्र ला जर्नल 113 : **उमंग शुगर्स प्राइवेट लिमिटेड** बनाम **महाराष्ट्र राज्य और एक अन्य** ;	32

[2010] (2010) 8 एस. सी. सी. 110 : **यूनाइटेड बैंक आफ इंडिया** बनाम **सरस्वती टंडन और अन्य** । 33

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 19847.

2015 की लेटर्स पेटेंट अपील सं. 699 में नई दिल्ली स्थित दिल्ली उच्च न्यायालय के तारीख 11 मई, 2016 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री जयदीप गुप्ता, ज्येष्ठ अधिवक्ता, अजीत शर्मा और सुरजादिप्ता सेठ

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री एम. टी. जॉर्ज और सुरेन्द्र कुमार

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे ने दिया ।

न्या. सप्रे – इजाजत दी जाती है ।

2. यह अपील 2015 की लेटर्स पेटेंट अपील सं. 699 में नई दिल्ली स्थित दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 11 मई, 2016 के उस अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने एकल न्यायाधीश द्वारा पारित तारीख 1 सितम्बर, 2015 के उस आदेश को अभिखंडित करने के लिए इस मामले में के अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई अपील खारिज कर दी थी, जिसके द्वारा अपीलार्थी की 2015 की रिट याचिका (सिविल) सं. 8314 खारिज कर दी गई थी ।

3. इस अपील में अंतर्वलित संविवाद संक्षिप्त तथ्यों पर केन्द्रित है और वह आवश्यक रूप से एक विधिक संविवाद है । तथापि, संविवाद का मूल्यांकन करने के लिए सुसंगत तथ्यों का संक्षेप में उल्लेख करने की आवश्यकता है ।

4. प्रत्यर्थी-पंजाब नैशनल बैंक (जिसे इसमें इसके पश्चात् "पी. एन. बी." कहा गया है) एक राष्ट्रीयकृत बैंक है । पी. एन. बी. ने मैसर्स इंडिया आयरन एंड स्टील कारपोरेशन लिमिटेड नामक एक कंपनी को (जिसे संक्षेप में "उधार लेने वाला" कहा गया है) उसके कारबार के लिए, जो वे नूरपूर खिड़की, ग्राम फरीद नगर, तहसील धामपुर, जिला बिजनौर (उत्तर प्रदेश) नामक स्थान पर चला रहे थे, उधार सुविधा दी थी ।

5. उधार लेने वाले ने उधार की रकम सुनिश्चित करने के लिए अपनी आस्तियों को प्रतिभूत किया था, जिसमें धामपुर में स्थित भूमि, कारखाना भवन, संयंत्र और मशीनरी शामिल थे । तथापि, उधार लेने वाला अपनी उधार की रकम वापस करने में असफल रहा और उसके प्रतिसंदाय में व्यतिक्रमी हो गया । इसलिए, पी. एन. बी. ने वित्तीय आस्तियों का प्रतिभूतिकरण और पुनर्गठन तथा प्रतिभूति हित का प्रवर्तन अधिनियम, 2002 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "सरफेसी अधिनियम" कहा गया है) की धारा 13(4) के अधीन अपनी शक्तियों का आश्रय लिया और उधार लेने वाले की बंधकित आस्तियों का तारीख 17 जून, 2014 के लिए नियत सार्वजनिक नीलामी में विक्रय के लिए अंग्रेजी के प्रमुख समाचारपत्रों में एक सार्वजनिक विक्रय सूचना (उपाबंध पी-1) जारी की । प्रस्तुत मामले में का अपीलार्थी उन बोली लगाने वालों में से एक था, जिसकी बोली उच्चतर घोषित की गई थी ।

6. तद्नुसार, पी. एन. बी. द्वारा अपीलार्थी की बोली को स्वीकार किया गया था और उसके पश्चात् अपीलार्थी और पी. एन. बी. के बीच समझौता ज्ञापन निष्पादित (उपाबंध पी-4) किया गया था । पी. एन. बी. ने भी अपीलार्थी को यह कथन करते हुए एक पत्र भेजा कि संपूर्ण संयंत्र, मशीनरी, भूमि और भवन को अपीलार्थी के पक्ष में नीलाम किया जाता है । उस पत्र में अपीलार्थी को समझौता ज्ञापन में पक्षकारों के बीच करार की गई विक्रय रकम का आवश्यक किस्त जमा करने के पश्चात् उस संयंत्र और मशीनरी को, जो उधार लेने वाले के कारखाना परिसर में पड़ी हुई थी, विखंडित करने और स्क्रैप का विक्रय करने के लिए भी प्राधिकृत किया गया था ।

7. तथापि, अपीलार्थी पी. एन. बी. को समझौता ज्ञापन के निबंधनानुसार विक्रय धनराशि के मद्धे नियमित किस्तों का संदाय करने में असफल रहा और उसने संदाय करने और स्थल से स्क्रैप सामग्री हटाने के लिए समय बढ़ाने की ईप्सा की ।

8. इससे पक्षकारों, अर्थात् पी. एन. बी., अपीलार्थी (नीलाम क्रेता) और उधार लेने वाले के बीच 2014 के एस. ए. सं. 310 के रूप में ऋण वसूली अधिकरण, लखनऊ के समक्ष विवाद उद्भूत हो गए, जिसमें अपीलार्थी को तारीख 3 जुलाई, 2014 को यह निदेश देते हुए एक आदेश पारित किया गया था कि कारखाना परिसर से कोई सामग्री न हटाई जाए । इसके पश्चात्, अपीलार्थी ने पी. एन. बी. को यह अनुरोध करते हुए

एक पत्र लिखा कि उसकी धनराशि का ब्याज सहित प्रतिदाय किया जाए । इसके परिणामस्वरूप पक्षकारों के बीच एक अन्य विवाद उत्पन्न हो गया जो पहले ऋण वसूली अधिकरण में और इसके पश्चात् अपील प्राधिकारी - ऋण वसूली अपील अधिकरण के समक्ष फाइल किया गया था और अंततः उधार लेने वाले द्वारा इलाहाबाद उच्च न्यायालय में 2015 की रिट याचिका (सिविल) सं. 22246 फाइल की गई थी । इस रिट याचिका का अंततः 29 मई, 2015 को निपटारा किया गया था, जिसमें यह मत व्यक्त किया गया था कि चूंकि अपीलार्थी समझौता ज्ञापन के निबंधनों का अनुपालन करने में असफल रहा था और क्योंकि अपीलार्थी विक्रय धनराशि की अपेक्षित किस्त जमा करने में असफल रहा था इसलिए पी. एन. बी. तारीख 17 जून, 2014 को आयोजित नीलामी विक्रय के संबंध में कार्यवाही नहीं कर सकता है और न ही अपीलार्थी को कारखाना परिसर में पड़ी स्क्रैप सामग्री को हटाने के लिए अनुज्ञात किया जा सकता है ।

9. इसके परिणामस्वरूप पी. एन. बी. ने तारीख 26 जून, 2015 के अपने पत्र द्वारा अपीलार्थी के निक्षेप को समपहृत कर लिया (उपाबंध पी-25) । अपीलार्थी ने पी. एन. बी. की कार्रवाई के संबंध में पत्रों द्वारा आक्षेप किया और इसके पश्चात् दिल्ली उच्च न्यायालय में रिट याचिका फाइल की, जिसके द्वारा अपीलार्थी के धन निक्षेप को समपहृत करने वाली पी. एन. बी. की कार्रवाई को चुनौती दी गई ।

10. उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने, तारीख 1 सितम्बर, 2015 के आदेश द्वारा अपीलार्थी की रिट याचिका को इस आधार पर खारिज कर दिया कि अपीलार्थी के पास उसके धन निक्षेप को समपहृत करने वाली पी. एन. बी. की कार्रवाई को चुनौती देने के लिए ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष सरफेसी अधिनियम की धारा 17 के अधीन आवेदन फाइल करने का अनुकल्पी कानूनी उपचार उपलब्ध है । इसलिए, एकल न्यायाधीश ने मामले के गुणागुण की परीक्षा करने से इनकार कर दिया ।

11. अपीलार्थी ने, एकल न्यायाधीश के आदेश से व्यथित महसूस करते हुए, खंड न्यायपीठ के समक्ष अंतर-न्यायालीय अपील (2015 की लेटर्स पेटेंट अपील सं. 699) फाइल की । खंड न्यायपीठ ने आक्षेपित निर्णय द्वारा अपील खारिज कर दी और एकल न्यायाधीश के आदेश को पुष्ट कर दिया । खंड न्यायपीठ का यह मत भी था कि अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई रिट याचिका एकल न्यायाधीश (रिट न्यायालय) द्वारा इस आधार पर ठीक ही ग्रहण नहीं की गई थी कि अपीलार्थी के पास उचित

उपचार यह था कि वह पी. एन. बी. द्वारा की गई समपहरण की कार्रवाई को प्रश्नगत करने के लिए सरफेसी अधिनियम की धारा 17 के अधीन ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष आवेदन फाइल करता न कि संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट याचिका फाइल करता । नीलाम क्रेता ने इससे व्यथित महसूस करते हुए इस न्यायालय में विशेष इजाजत लेकर प्रस्तुत अपील फाइल की है ।

12. अपीलार्थी के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री जयदीप गुप्ता और प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल श्री एम. टी. जॉर्ज की सुनवाई की गई ।

13. अपीलार्थी (नीलाम क्रेता) की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री जयदीप गुप्ता ने निचले दोनों न्यायालयों द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण की वैधता और शुद्धता को प्रश्नगत करते समय यह दलील दी कि रिट न्यायालय और अपील न्यायालय द्वारा दिया गया तर्काधार और निकाला गया निष्कर्ष सही नहीं है और इसलिए वह अपास्त किए जाने योग्य है । उसकी मुख्य दलील यह थी कि अपीलार्थी द्वारा अपनी रिट याचिका में आक्षेपित कार्रवाई, अर्थात्, पी. एन. बी. द्वारा धन निक्षेप का समपहरण सरफेसी अधिनियम की धारा 13(4) के अधीन विनिर्दिष्ट उपायों में से एक उपाय नहीं है और इसलिए जहां तक ऐसी कार्रवाई को सरफेसी अधिनियम की धारा 17 के अधीन ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष चुनौती देने संबंधी अपीलार्थी के अधिकार का संबंध है, धारा 17 के उपबंध लागू नहीं होते हैं ।

14. दूसरे शब्दों में, यह दलील दी गई थी कि सरफेसी अधिनियम की धारा 17 की कठोरताओं को लागू करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि संबंधित पक्षकार द्वारा जिस कार्रवाई के संबंध में शिकायत की गई है उससे धारा 13(4) में उपवर्णित शर्तें अवश्य पूरी होनी चाहिएं । इस बात पर जोर दिया गया था कि रिट याचिका में आक्षेपित "निक्षेप का समपहरण" धारा 13(4) के अंतर्गत आने वाले उपायों में एक उपाय नहीं है और न ही उसे ऐसा समझा जा सकता है जिससे कि सरफेसी अधिनियम की धारा 17 की कठोरताएं लागू हो सकें । इस बात पर जोर दिया गया था कि प्रश्नगत विवाद आवश्यक रूप से पी. एन. बी. (प्रतिभूत लेनदार) और नीलाम क्रेता (अपीलार्थी) के बीच था और वह प्रतिभूत लेनदार (पी. एन. बी.) द्वारा उधार लेने वाले के विरुद्ध धारा 13(4) के अधीन उपाय करने के पश्चात् उद्भूत हुआ था और इसलिए प्रश्नगत विवाद धारा 13(4) के कार्यक्षेत्र के बाहर था और परिणामस्वरूप वह धारा 17 के कार्यक्षेत्र के बाहर हो गया । संक्षेप में,

प्रश्नगत विवाद का धारा 13(4) में विनिर्दिष्ट किसी भी उपाय से कोई संबंध नहीं है ।

15. इसके अतिरिक्त, इस बात पर जोर दिया गया था कि धारा 17 के पठन से यह दर्शित होगा कि प्रतिभूत लेनदार द्वारा एक बार किए गए धारा 13(4) में निर्दिष्ट किसी उपाय को चुनौती देने के लिए धारा 17 के अधीन आवेदन "किसी व्यक्ति" द्वारा, जिसके अंतर्गत उधार लेने वाला भी है, ऋण वसूली अधिकरण को किया जा सकता है । तथापि, चूंकि प्रतिभूत लेनदार द्वारा नीलाम क्रेता के विरुद्ध किया गया रकम का समपहरण धारा 13(4) के अधीन आने वाले उपायों में एक उपाय नहीं है इसलिए प्रतिभूत लेनदार द्वारा की गई समपहरण की कार्रवाई को नीलाम क्रेता द्वारा सरफेसी अधिनियम की धारा 17 के अधीन आवेदन फाइल करके चुनौती नहीं दी जा सकती है । यह दलील दी गई थी कि इन परिस्थितियों में, अपीलार्थी ने निक्षेप धनराशि के समपहरण की कार्रवाई को चुनौती देने के लिए अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालय में रिट याचिका फाइल करके सही किया था, चूंकि उनके पास केवल यही उपचार उपलब्ध था और इसलिए रिट न्यायालय द्वारा रिट याचिका को गुणागुण के आधार पर उसकी सुनवाई करने के लिए ग्रहण किया जाना चाहिए था । यही दलीलें अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा सरफेसी अधिनियम के सुसंगत उपबंधों का उल्लेख करते हुए विस्तार से दी गई थीं ।

16. इसके प्रत्युत्तर में, प्रत्यर्थियों (पी. एन. बी.) के विद्वान् काउंसेल ने आक्षेपित निर्णय का समर्थन किया और यह दलील दी कि रिट याचिका में आक्षेपित कार्रवाई को धारा 13(4) के अधीन विरचित नियमों के साथ पठित धारा 13(4) लागू होती है और अपीलार्थी के पास सरफेसी अधिनियम की धारा 17 के अधीन आवेदन फाइल करके ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष समावेदन करने का उपचार उपलब्ध था, जैसा दोनों निचले न्यायालयों द्वारा ठीक ही अभिनिर्धारित किया गया था ।

17. पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों की सुनवाई करने और मामले के अभिलेख का परिशीलन करने पर हमें इस अपील में कोई सार प्रतीत नहीं होता है । दूसरे शब्दों में,उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण न्यायसंगत और युक्तियुक्त प्रतीत होता है और इसलिए इसमें कोई हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है ।

18. इस अपील में जो संक्षिप्त प्रश्न विचारणार्थ उद्भूत होता है, वह यह है कि क्या उच्च न्यायालय का यह अभिनिर्धारित करना न्यायोचित था कि

अपीलार्थी (नीलाम क्रेता) के पास निक्षेप का समपहरण करने संबंधी प्रतिभूत लेनदार (पी. एन. बी.) की कार्रवाई को सरफेसी अधिनियम की धारा 17 के अधीन ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष आवेदन फाइल करके चुनौती देने का उपचार उपलब्ध था या नीलाम क्रेता के पास ऐसी कार्रवाई की वैधता की परीक्षा करने के लिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन रिट याचिका फाइल करने का उपचार उपलब्ध था ।

19. सरफेसी अधिनियम की धारा 13(4) और धारा 17, प्रतिभूति हित (प्रवर्तन) नियम, 2002 (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् "नियम" कहा गया है) के नियम 8 और नियम 9 को, जहां तक वे इस अपील में अंतर्वलित प्रश्न का विनिश्चय करने के लिए सुसंगत हैं, नीचे उद्धृत किया जाता है :–

धारा 13(4)

13. प्रतिभूति हित का प्रवर्तन –

(1) से (3क)..

(4) यदि उधार लेने वाला, उपधारा (2) में विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर अपने दायित्व का पूर्णतः निर्वहन करने में असफल रहता है तो प्रतिभूत लेनदार, अपने प्रतिभूत ऋण की वसूली के लिए निम्नलिखित में से एक या अधिक उपाय कर सकेगा, अर्थात् –

(क) उधार लेने वाले की प्रतिभूति आस्तियों का कब्ज़ा लेना, जिसके अंतर्गत प्रतिभूति आस्ति की वसूली के लिए पट्टे, समनुदेशन या विक्रय द्वारा अंतरण का अधिकार भी है ;

(ख) उधार लेने वाले के कारबार का प्रबंध ग्रहण करना, जिसके अंतर्गत प्रतिभूति आस्ति की वसूली के लिए पट्टे, समनुदेशन या विक्रय द्वारा अंतरण का अधिकार भी है :

परन्तु पट्टे, समनुदेशन या विक्रय द्वारा अंतरण के अधिकार का केवल वहीं प्रयोग किया जाएगा, जहां उधार लेने वाले के कारबार का महत्वपूर्ण भाग ऋण के लिए प्रतिभूति के रूप में धारित किया गया है :

परन्तु यह और कि जहां संपूर्ण कारबार या कारबार के भाग का प्रबंधन पृथक्करणीय है, वहां प्रतिभूत लेनदार, उधार लेने वाले के ऐसे कारबार का, जो ऋण के लिए प्रतिभूति से संबंधित है, प्रबंध-ग्रहण करेगा ।

(ग) प्रतिभूत आस्तियों, जिसका कब्जा प्रतिभूत लेनदार द्वारा ग्रहण किया गया है, का प्रबंध करने के लिए किसी व्यक्ति को नियुक्त करना (इसे इसमें इसके पश्चात् 'प्रबंधक' कहा गया है) ;

(घ) ऐसे किसी व्यक्ति, जिसने उधार लेने वाले से किन्हीं प्रतिभूत आस्तियों का अर्जन किया है और जिससे कोई धन शोध्य है या उधार लेने वाले को शोध्य हो सकता है, लिखित में सूचना द्वारा किसी भी समय उतने धन का प्रतिभूत लेनदार को संदाय किए जाने की अपेक्षा करना जो प्रतिभूत ऋण के संदाय के लिए पर्याप्त हो ।

धारा 17

17. **प्रतिभूत ऋणों की वसूली के उपायों के विरुद्ध आवेदन** – (1) इस अध्याय के अधीन प्रतिभूत लेनदार या उसके प्राधिकृत अधिकारी द्वारा धारा 13 की उपधारा (4) में निर्दिष्ट कोई उपाय करने से व्यथित कोई व्यक्ति (जिसमें उधार लेने वाला भी सम्मिलित है) उस तारीख से जिसको ऐसा उपाय किया गया था, पैंतालीस दिन के भीतर इस विषय में अधिकारिता रखने वाले ऋण वसूली अधिकरण को ऐसी फीस के साथ, जो विहित की जाए, आवेदन कर सकेगा ।

(2) ऋण वसूली अधिकरण, यह विचार करेगा कि क्या प्रतिभूति के प्रवर्तन के लिए प्रतिभूत लेनदार द्वारा किए गए धारा 13 की उपधारा (4) में विनिर्दिष्ट कोई उपाय, इस अधिनियम और तद्धीन बनाए गए नियमों के उपबंधों के अनुरूप हैं ।

(3) यदि ऋण वसूली अधिकरण, मामले के तथ्यों और परिस्थितियों तथा पक्षकारों द्वारा प्रस्तुत किए गए साक्ष्य की परीक्षा करने के पश्चात्, इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि प्रतिभूत लेनदार द्वारा किया गया धारा 13 की उपधारा (4) में निर्दिष्ट कोई उपाय इस अधिनियम या तद्धीन बनाए गए नियमों के उपबंधों के अनुसार नहीं है और उधार लेने वाले या अन्य व्यथित व्यक्ति को प्रतिभूत आस्तियों के प्रत्यावर्तन की अपेक्षा करते हैं, तो वह आदेश द्वारा, –

(क) से (ग)................................

(4) यदि ऋण वसूली अधिकरण यह घोषणा करता है कि धारा 13 की उपधारा (4) के अधीन किसी प्रतिभूत लेनदार द्वारा लिया गया अवलंब इस अधिनियम तथा तद्धीन बनाए गए नियमों के उपबंधों के

अनुसार है, तो तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, प्रतिभूत लेनदार अपने प्रतिभूत ऋण की वसूली के लिए धारा 13 की उपधारा (4) के अधीन विनिर्दिष्ट एक या अधिक उपायों का अवलंब लेने का हकदार होगा ।

(4क)..

(5)..

(6)..

(7) इस अधिनियम में अन्यथा उपबंधित के सिवाय ऋण वसूली अधिकरण आवेदन का निपटारा जहां तक हो सके, बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 (1993 का 51) तथा तद्धीन बनाए गए नियमों के उपबंधों के अनुसार करेगा ।

***नियम 8**

8. स्थावर प्रतिभूत आस्तियों का विक्रय –

(1) से (8)...

****नियम 9**

9. विक्रय का समय, विक्रय प्रमाणपत्र का जारी किया जाना और कब्ज़े का परिदान –

(1) से (4)...

(5) उपनियम (4) में उल्लिखित अवधि के भीतर संदाय में व्यतिक्रम करने पर, निक्षेप प्रतिभूत लेनदार को समपहृत हो जाएगा और संपत्ति का पुनर्विक्रय किया जाएगा तथा व्यतिक्रमी क्रेता के उस

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है:–

Rule 8

"8. Sale of immovable secured assets –

(1) to (8).................................

****Rule 9**

9. Time of sale, issue of sale certificate and delivery of possession, etc. –

(1) to (4)......................................

(5) In default of payment within the period mentioned in sub-rule (4), the deposit shall be forfeited to the secured creditor and the property

संपत्ति या ऐसी धनराशि के, जिसके लिए उसे बाद में विक्रय किया जा सकता है, किसी भाग पर के सभी दावे समपहृत हो जाएंगे ।

(6) प्रतिभूत लेनदार द्वारा विक्रय की पुष्टि करने पर और यदि संदाय के निबंधनों का अनुपालन किया गया है तो विक्रय की शक्ति का प्रयोग करने वाला प्राधिकृत अधिकारी क्रेता के पक्ष में इन नियमों के परिशिष्ट V में दिए गए प्ररूप में स्थावर संपत्ति के विक्रय का एक प्रमाणपत्र जारी करेगा ।"

(जोर देने के लिए रेखांकित किया गया है)

20. प्रतिभूत लेनदार द्वारा अपने उधार लेने वालों के विरुद्ध धारा 13(4) का अवलंब तब लिया जाता है जब उधार लेने वाला विनिर्दिष्ट समय के भीतर अपने दायित्व का पूर्ण रूप से निर्वहन करने में असफल रहता है । तब प्रतिभूत लेनदार खंड (क) के अधीन बकाया शोध्यों की वसूली करने के लिए उधार लेने वाले की आस्तियों का कब्ज़ा ग्रहण कर सकता है, पट्टे या समनुदेशन द्वारा आस्तियों का अंतरण या आस्तियों का विक्रय कर सकता है ।

21. खंड (ख) के अधीन, प्रतिभूत लेनदार उधार लेने वाले के कारबार का प्रबंध-ग्रहण या पट्टे, समनुदेशन या विक्रय द्वारा अंतरण भी कर सकता है । तथापि, ऐसी शक्ति का अवलंब केवल तभी लिया जा सकता है जब लेनदार उधार लेने वाले के कारबार का सारवान् भाग प्रतिभूति के रूप में धारित करता हो और इसके अलावा वह दूसरे परन्तुक में उपवर्णित शर्तों को पूरा करता हो ।

22. खंड (ग) के अधीन, प्रतिभूत लेनदार, उधार लेने वाले के कारबार का प्रबंध करने के लिए कोई प्रबंधक भी नियुक्त कर सकता है और अंततः खंड (घ) के अधीन, प्रतिभूत लेनदार ऐसे किसी व्यक्ति को, जिससे धन शोध्य है या शोध्य हो जाता है, उधार लेने वाले को संदाय करने की बजाय प्रतिभूत लेनदार को उतना संदाय करने के लिए कह सकता है, जो कि ऋण की तुष्टि के लिए पर्याप्त है ।

---

shall be resold and the defaulting purchaser shall forfeit all claim to the property or to any part of the sum for which it may be subsequently sold.

(6) On confirmation of sale by the secured creditor and if the terms of payment have been complied with, the authorized officer exercising the power of sale shall issue a certificate of sale of the immovable property in favour of the purchaser in the form given in Appendix V to these rules."

23. जहां तक धारा 17 का संबंध है, इसमें ऐसे किसी व्यक्ति के लिए, जो कि प्रतिभूत लेनदार या उसके प्राधिकृत अधिकारी द्वारा धारा 13(4) के अधीन उधार लेने वाले की प्रतिभूत आस्तियों के संबंध में किए गए उपायों से व्यथित है, एक उपचार का उपबंध किया गया है । इसमें यह कहा गया है कि कोई व्यक्ति (जिसमें उधार लेने वाला भी सम्मिलित है) धारा 13(4) के अधीन उपाय किए जाने की तारीख से पैंतालीस दिन के भीतर ऋण वसूली अधिकरण को आवेदन कर सकेगा । धारा 17 की उपधारा (2) तारीख 11 नवम्बर, 2004 के संशोधन द्वारा जोड़ी गई थी । इसमें यह उपबंध किया गया है कि धारा 17(1) के अधीन ऐसा आवेदन किए जाने पर, अधिकरण यह विचार करेगा कि क्या धारा 13 की उपधारा (4) के अधीन निर्दिष्ट और प्रतिभूत लेनदार द्वारा किए गए उपाय, "**इस अधिनियम और तद्धीन बनाए गए नियमों के उपबंधों**" के अनुरूप हैं । इसी प्रकार, धारा 17 की उपधारा (3), (4) और (7) में भी, जो कि ऋण वसूली अधिकरण की शक्ति के संबंध में है, "इस अधिनियम और तद्धीन बनाए गए नियमों के उपबंधों के अनुसार" अभिव्यक्ति का प्रयोग किया गया है ।

24. नियम 8, जिसमें 8 उपनियम हैं, प्रतिभूत स्थावर आस्तियों के विक्रय की रीति के संबंध में है और उसमें इस संबंध में विस्तृत प्रक्रिया का उपबंध किया गया है कि प्रतिभूत आस्तियों का विक्रय किस प्रकार किया जाना है और उसकी रीति क्या है । नियम 9 विक्रय के समय, विक्रय प्रमाणपत्र जारी करने और कब्जे के परिदान के संबंध में है ।

25. नियम 9(6) में प्राधिकृत अधिकारी को क्रेता के पक्ष में विक्रय प्रमाणपत्र जारी करने के लिए सशक्त किया गया है । इसके बाद, नियम 9(9) में क्रेता को संपत्तियों का परिदान करने के लिए प्राधिकृत अधिकारी को सशक्त किया गया है जबकि नियम 9(10) प्राधिकृत अधिकारी को विक्रय प्रमाणपत्र में इस बात का उल्लेख करने के लिए सशक्त किया गया है कि संपत्ति विल्लंगमों से मुक्त है ।

26. जहां तक इस मामले का संबंध है, नियम 9 का उपनियम (5) सुसंगत है । इसमें यह उपबंधित है कि यदि नीलाम क्रेता विनिर्दिष्ट समय के भीतर विक्रय प्रतिफल का संदाय करने में कोई व्यतिक्रम करता है तो नीलाम क्रेता द्वारा किया गया निक्षेप प्रतिभूत लेनदार को "समपहृत" हो जाएगा और नीलाम संपत्ति का पुनर्विक्रय किया जाएगा तथा व्यतिक्रमी क्रेता के संपत्ति या ऐसी धनराशि के, जिसके लिए उसे बाद में विक्रय

किया जा सकता है, भाग पर के सभी दावे "समपहृत" हो जाएंगे ।

27. ऊपर उल्लिखित धाराओं और नियमों तथा विशेषकर धारा 17(2) और नियम 9(5) के पठन से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होगा कि नीलाम क्रेता द्वारा किए गए निक्षेप को समपहृत करने में प्रतिभूत लेनदार की कार्रवाई धारा 13(4) के अधीन प्रतिभूत लेनदार द्वारा किए गए उपायों का एक भाग है ।

28. इसका कारण यह है कि धारा 17(2) में अधिकरण को धारा 13(4) के अधीन किए गए उपायों से, जिसके अंतर्गत प्रतिभूत लेनदार द्वारा नियम 8 और नियम 9 के अधीन उधार लेने वाले की प्रतिभूत आस्तियों का व्ययन करने के लिए किए गए उपाय भी सम्मिलित हैं, उद्भूत सभी विवाद्यकों की परीक्षा करने के लिए सशक्त किया गया है । धारा 17 की उपधारा (2), (3), (4) और (7) में आने वाली "**इस अधिनियम और तद्धीन बनाए गए नियमों के उपबंध**" अभिव्यक्ति से स्पष्ट रूप से यह संकेत मिलता है कि इसके अंतर्गत धारा 13(4) के अधीन की गई कार्रवाई सम्मिलित है तथा उसमें नियम 8 और नियम 9 के अधीन, जो प्रतिभूत आस्तियों का विक्रय पूरा होने के संबंध में है, की गई कार्रवाई भी सम्मिलित है । दूसरे शब्दों में, धारा 13(4) के अधीन किए गए उपाय तब तक पूर्ण नहीं होंगे जब तक नियम 8 और नियम 9 में प्रतिभूत आस्तियों के विक्रय के लिए अधिकथित संपूर्ण प्रक्रिया का प्रतिभूत लेनदार द्वारा पूर्ण रूप से अनुपालन नहीं किया जाता है । इसी कारण, धारा 17(2), (3) और (4) द्वारा अधिकरण को इस बात का पता लगाने की दृष्टि से कि प्रतिभूत आस्तियों का विक्रय नियमों के साथ पठित धारा 13(4) में अंतर्विष्ट अपेक्षाओं के अनुरूप किया गया था अथवा नहीं, प्रतिभूत लेनदार द्वारा उठाए गए सभी कदमों की परीक्षा करने के लिए सशक्त किया गया है ।

29. हमने यह भी पाया है कि नियम 9(5) में प्रतिभूत लेनदार को नीलाम क्रेता द्वारा किए गए निक्षेप को उस दशा में समपहृत करने की स्पष्ट शक्ति प्रदान की गई है यदि नीलाम क्रेता प्रतिभूत लेनदार को विक्रय धन की किस्त का संदाय करने में कोई व्यतिक्रम कारित करता है । हमारी राय में, प्रतिभूत लेनदार द्वारा की गई ऐसी कार्रवाई धारा 13(4) में विनिर्दिष्ट उपायों का एक भाग है और इसलिए इसे नियम 9(5) के साथ पठित धारा 13(4) के अधीन एक उपाय समझा जाता है । हमारी राय में, धारा 13(4) के अधीन किए गए उपाय खंड (क) से खंड (घ) में की गई किसी कार्रवाई से आरंभ होते हैं और नियम 9 में विनिर्दिष्ट उपायों से

समाप्त होते हैं ।

30. इसलिए, हमारी राय में, धारा 17(1) में "प्रतिभूत लेनदार या उसके प्राधिकृत अधिकारी द्वारा धारा 13 की उपधारा (4) में निर्दिष्ट कोई उपाय करने" अभिव्यक्ति के अंतर्गत प्रतिभूत लेनदार द्वारा नियमों के अधीन की गई ऐसी सभी कार्रवाइयां सम्मिलित होंगी, जिनका संबंध धारा 13(4) में विनिर्दिष्ट उपायों से है ।

31. नीलाम क्रेता (इस मामले में अपीलार्थी) ऐसा व्यक्ति है, जो कि प्रतिभूत लेनदार द्वारा उसके धन को समपहृत करने के लिए की गई कार्रवाई से व्यथित है । अतः, अपीलार्थी, धारा 17(1) के अधीन यथा-विनिर्दिष्ट "किसी व्यक्ति" अभिव्यक्ति के अंतर्गत आता है और इसलिए वह सरफेसी अधिनियम की धारा 17(1) के अधीन आवेदन फाइल करके ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष प्रतिभूत लेनदार (पी. एन. बी.) की कार्रवाई को चुनौती देने का हकदार है ।

32. अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने **उमंग शुगर्स प्राइवेट लिमिटेड** बनाम **महाराष्ट्र राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में बम्बई उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ के विनिश्चय का अवलंब लिया, जिससे, उसके अनुसार, उसकी दलील को समर्थन मिलता है । हमने इस विनिश्चय का परिशीलन किया है और हम उसमें अपनाए गए मत से सहमत होने में असमर्थ हैं । न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते समय कि धारा 17(1) नीलाम क्रेता को लागू नहीं होती है और इसलिए ऐसे मामलों में उसके द्वारा फाइल की गई रिट याचिका ग्रहण नहीं की जा सकती है, नियमों की अवेक्षा नहीं की थी, जो कि धारा 13(4) के अधीन किए गए उपायों के संबंध में थे और न ही उपायों पर उसके प्रभाव पर विचार किया था ।

33. इस न्यायालय ने **यूनाइटेड बैंक आफ इंडिया** बनाम **सरस्वती टंडन और अन्य**[2] वाले मामले में सरफेसी अधिनियम के उपबंधों की और सरफेसी अधिनियम के अधीन की गई कार्रवाइयों को चुनौती देने के लिए अनुच्छेद 226/227 के अधीन असाधारण शक्ति का अवलंब लेने से संबंधित प्रश्न की विस्तारपूर्वक परीक्षा की । न्यायालय ने सरफेसी अधिनियम के अधीन की गई कार्रवाइयों को चुनौती देने के लिए फाइल की गई रिट पर कार्यवाही करते समय सतर्कता बरतने का निदेश दिया और निम्नलिखित

---

[1] (2014) 4 महाराष्ट्र ला जर्नल 113.

[2] (2010) 8 एस. सी. सी. 110.

प्रासंगिक मताभिव्यक्तियां कीं, जो कि हमारी राय में वर्तमान मामले को भी लागू होती हैं :–

"42. एक और कारण भी है जिसके लिए आक्षेपित आदेश को अपास्त किया जाना चाहिए । यदि प्रत्यर्थी सं. 1 को धारा 13(4) के अधीन जारी की गई सूचना या धारा 14 के अधीन की गई कार्रवाई के विरुद्ध कोई मूर्त शिकायत थी तो वह धारा 17(1) के अधीन आवेदन फाइल करने संबंधी उपचार का उपभोग कर सकती थी । धारा 17(1) में प्रयुक्त "कोई व्यक्ति" अभिव्यक्ति का व्यापक अर्थ है । इसके अंतर्गत न केवल उधार लेने वाला बल्कि ऐसा गारंटीकर्ता या कोई अन्य व्यक्ति भी आता है, जो धारा 13(4) या धारा 14 के अधीन की गई कार्रवाई से प्रभावित हो सकता है । अधिकरण और अपील अधिकरण, दोनों धारा 17 और धारा 18 के अधीन अंतरिम आदेश पारित करने के लिए सशक्त हैं और उनसे एक नियत समय सीमा के भीतर मामलों का विनिश्चय करने की अपेक्षा की जाती है । इस प्रकार, यह प्रत्यक्ष है कि सरफेसी अधिनियम के अधीन किसी व्यथित व्यक्ति को उपलब्ध उपचार द्रुतगामी और प्रभावी, दोनों हैं ।

43. दुर्भाग्यवश, उच्च न्यायालय ने इस स्थापित विधि को अनदेखा कर दिया कि उच्च न्यायालय साधारण तौर पर संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन कोई याचिका तब ग्रहण नहीं करेगा यदि व्यथित व्यक्ति के पास कोई प्रभावी उपचार उपलब्ध है और यह नियम ऐसे मामलों में, जिनमें करों, उपकर, फीस, अन्य प्रकार की सार्वजनिक धनराशियों और बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं के देयों की वसूली अंतर्वलित है, अत्यधिक कठोरता से लागू होता है । हमारी राय में, उच्च न्यायालय को ऐसी याचिकाओं पर कार्यवाही करते समय, जिनमें सार्वजनिक देयों की वसूली के लिए की गई कार्रवाई को चुनौती देना अंतर्वलित है, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि ऐसे देयों की वसूली के लिए संसद् और राज्य विधान-मंडलों द्वारा अधिनियमित विधान अपने आप में एक संहिता हैं चूंकि उनमें न केवल देयों की वसूली के लिए व्यापक प्रक्रिया अंतर्विष्ट होती हैं बल्कि उनमें किसी व्यथित व्यक्ति की शिकायत के निवारण के लिए न्यायिककल्प निकायों का गठन करना भी परिकल्पित होता है । अतः, ऐसे सभी मामलों में, उच्च न्यायालय को इस बात पर जोर देना चाहिए कि किसी व्यक्ति को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उपचार का उपभोग करने से पूर्व सुसंगत कानून के अधीन उपलब्ध

उपचारों को निःशेष करना चाहिए ।

44. उपर्युक्त मत अभिव्यक्त करते समय हमें इस बात का भान है कि उच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन किसी व्यक्ति या प्राधिकारी को, जिसके अंतर्गत समुचित मामलों में कोई सरकार भी हैं, निदेश, आदेश या रिट, जिसके अंतर्गत भाग 3 द्वारा प्रदत्त किसी अधिकार के प्रवर्तन के लिए पांच परमाधिकार रिट भी हैं, जारी करने या किसी अन्य प्रयोजन के लिए प्रदत्त शक्तियां काफी व्यापक हैं और उस शक्ति का प्रयोग करने की कोई अभिव्यक्त परिसीमा नहीं है किन्तु इसके साथ-साथ हम इस न्यायालय द्वारा विकसित स्वगृहीत अवरोध के नियमों को भी अनदेखा नहीं कर सकते, जिसे प्रत्येक उच्च न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन शक्ति का प्रयोग करते समय ध्यान में रखने के लिए बाध्य है ।

45. यह सही है कि अनुकल्पी उपचार को निःशेष करने का नियम विवेकाधिकार संबंधी नियम है न कि बाध्यकारी नियम किन्तु ऐसे किसी कारण को समझना कठिन है कि उच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन फाइल की गई किसी याचिका को इस तथ्य को अनदेखा करते हुए क्यों ग्रहण करना चाहिए कि याची आवेदन, अपील, पुनरीक्षण आदि फाइल करके प्रभावी अनुकल्पी उपचार का उपभोग कर सकता है और विशिष्ट विधान में उसकी शिकायत के निवारण के लिए विस्तृत प्रक्रिया अंतर्विष्ट है ।"

34. पूर्वगामी विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए, हमारी यह सुविचारित राय है कि रिट न्यायालय तथा अपील न्यायालय द्वारा नियम 9(5) के अधीन अपीलार्थी के निक्षेप को समपहृत करने संबंधी पी. एन. बी. की कार्रवाई को चुनौती देने के लिए सरफेसी अधिनियम की धारा 17(1) के अधीन संबंधित अधिकरण के समक्ष आवेदन फाइल करने संबंधी अनुकल्पी कानूनी उपचार उपलब्ध होने के आधार पर अपीलार्थी की रिट याचिका को खारिज करना न्यायोचित था । हम उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय में हस्तक्षेप करने के लिए कोई आधार नहीं पाते हैं ।

35. तद्नुसार, अपीलार्थी को इस आदेश की तारीख से 45 दिन के भीतर सरफेसी अधिनियम की धारा 17(1) के अधीन संबंधित अधिकरण (ऋण वसूली अधिकरण) के समक्ष आवेदन फाइल करने की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है, जिसे ऐसा आवेदन ग्रहण करने की अधिकारिता प्राप्त है । यदि अपीलार्थी ऐसा कोई आवेदन फाइल करता है तो अधिकरण इस

न्यायालय और आक्षेपित निर्णय में उच्च न्यायालय द्वारा की गई किसी भी मताभिव्यक्ति से प्रभावित हुए बिना विधि के अनुसार गुणागुण के आधार पर उसका विनिश्चय करेगा ।

36. इन मताभिव्यक्तियों और अपीलार्थी को प्रदान की गई स्वतंत्रता के साथ अपील असफल होती है और तद्नुसार खारिज की जाती है ।

अपील खारिज की गई ।

ग्रो.

[2018] 1 उम. नि. प. 443

आय-कर उपायुक्त, सर्किल 11(1), बंगलौर

बनाम

मैसर्स एसीई मल्टी ऐक्सिज सिस्टम्स लि.

5 दिसम्बर, 2018

न्यायमूर्ति रंजन गोगोई, न्यायमूर्ति आदर्श कुमार गोयल और न्यायमूर्ति नवीन सिन्हा

आय-कर अधिनियम, 1961 (1961 का 43) – धारा 80झख(3)(ii) – कुल आय की संगणना में कटौतियां – लघु औद्योगिक उपक्रम – शासकीय प्रोत्साहन का उपभोग – पात्रता – लघु औद्योगिक उपक्रमों के प्रयोजनार्थ प्रोत्साहन का उपभोग ऐसे औद्योगिक उपक्रमों द्वारा नहीं किया जा सकता है जो सुसंगत अवधि के दौरान लघु औद्योगिक उपक्रम के रूप में चालू नहीं रहे हैं, भले ही उन्होंने प्रारंभिक वर्षों में पात्रता पूरी की हो, इसलिए, विशिष्ट निर्धारण वर्ष में लघु औद्योगिक उपक्रम के रूप में अपनी पात्रता खो देने पर वे छूट का फायदा पाने का हकदार नहीं रह जाएंगे ।

अपील के तथ्यों के अनुसार, प्रत्यर्थी-निर्धारिती सीएनसी खराद और इसी प्रकार की मशीनों के संघटक/पुर्जों के विनिर्माण और विक्रय का कार्य करता है । निर्धारण वर्ष 2005-06 के लिए उसकी आय 1,79,82,653/- रुपए निर्धारित की गई थी । तथापि, आय-कर आयुक्त ने आय-कर अधिनियम की धारा 263 के अधीन धारा 80झख(3) के अधीन कटौती मंजूर करने की सीमा तक निर्धारण में हस्तक्षेप किया और तारीख 16

जनवरी, 2009 के आदेश द्वारा उक्त विवाद्यक पर नए सिरे से विनिश्चय करने का निदेश दिया । उसके पश्चात् निर्धारण अधिकारी ने तारीख 14 दिसंबर, 2009 को धारा 80झख(3) के अधीन कटौती के मद्दे 75,81,910/- रुपए का दावा नामंजूर कर दिया । अपील में आयुक्त द्वारा और द्वितीय अपील में आय-कर अपील अधिकरण द्वारा यह आदेश कायम रखा गया । तथापि, उच्च न्यायालय ने उक्त आदेशों को उलट दिया और दावे को कायम रखा । राजस्व विभाग ने उच्च न्यायालय के निर्णय को चुनौती देते हुए उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा इस अपील का अन्य संबद्ध अपीलों सहित निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – कानून की स्कीम से किसी भी रीति में यह उपदर्शित नहीं होता है कि उपबंधित प्रोत्साहन दस क्रमवर्ती वर्षों के लिए पात्रता शर्तों के जारी रहने की बात को विचार में लाए बिना जारी रहेगा । प्रोत्साहन की प्रयोज्यता सीधे तौर पर पात्रता से संबद्ध हैं न कि इससे असंबद्ध और यदि कोई औद्योगिक उपक्रम लघु उपक्रम नहीं रहता है या यदि वह लाभ उपार्जित नहीं करता है तो वह प्रोत्साहन का दावा नहीं कर सकता है । निस्संदेह, केवल आरंभिक निर्धारण वर्ष में कतिपय अर्हताएं अपेक्षित हैं, उदाहरण के लिए, उपक्रम के आरंभिक गठन की बाबत अपेक्षाएं । खंड 2 में केवल उन उपक्रमों के लिए पात्रता सीमित की गई है जो विद्यमान कारबार को खंडित करके, तत्पूर्व प्रयुक्त मशीनरी या संयंत्र नए कारबार में अंतरित करके नहीं बने हैं । प्रोत्साहन का दावा करने के लिए कतिपय अन्य अर्हताएं बनी रहनी चाहिएं, जैसे कि किसी निर्धारण वर्ष में खंड 2 के उपखंड 4(i) के अनुसार विशिष्ट संख्या में कर्मकारों का नियोजन करना । ऐसे औद्योगिक उपक्रमों के लिए, जो लघु औद्योगिक उपक्रमों से भिन्न हैं, जो आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट वस्तुओं या चीजों का विनिर्माण या उत्पादन नहीं कर रहे हैं, यह अपेक्षा एक निरंतर प्रकृति की है । इस उपबंध की स्कीम की परीक्षा करने पर कोई संदेह नहीं रह जाता है कि लघु औद्योगिक उपक्रमों के प्रयोजनार्थ प्रोत्साहन का उपभोग ऐसे औद्योगिक उपक्रमों द्वारा नहीं किया जा सकता है जो सुसंगत अवधि के दौरान लघु औद्योगिक उपक्रम के रूप में चालू नहीं रहे हैं । यह कहना अनावश्यक है कि ब्लाक निर्धारण वर्ष के सिवाय प्रत्येक निर्धारण वर्ष एक भिन्न निर्धारण वर्ष होता है । आक्षेपित आदेश में की गई मताभिव्यक्तियां यह हैं कि विधान-मंडल का उद्देश्य औद्योगिक विस्तार के लिए प्रोत्साहित करना है जिससे यह विवक्षित है कि प्रोत्साहन वहां भी लागू होना चाहिए जहां लघु

औद्योगिक उपक्रम औद्योगिक विस्तार के कारण लघु औद्योगिक उपक्रम बने नहीं रहते हैं । यह न्यायालय इन मताभिव्यक्तियों के लिए इस तर्क का समर्थन करने में असमर्थ है । प्रोत्साहन एक विशिष्ट प्रवर्ग के उद्योग को एक विशिष्ट प्रयोजन के लिए दिया जाता है । लघु औद्योगिक उपक्रम के प्रयोजनार्थ प्रोत्साहन का उपभोग ऐसे निर्धारिती द्वारा नहीं किया जा सकता है जो कि ऐसा उपक्रम नहीं है । इसका किसी भी रीति में यह अर्थ नहीं है कि यदि अन्य उपक्रमों को यह फायदा मंजूर नहीं किया जाता है तो औद्योगिक विस्तार करने की अनुज्ञा देने का उद्देश्य विफल हो जाता है । इस तर्क के आधार पर तो प्रोत्साहन किसी शर्त को विचार में लाए बिना दिया जाना चाहिए क्योंकि प्रोत्साहन से निश्चित तौर पर कर के बोझ को कम करके आगे विस्तार करने में सहायता मिलती है । उर्ध्वाधर साम्यता की धारणा सुपरिचित है जिसके अधीन सभी निर्धारितियों पर एक समान कर लगाने की आवश्यकता नहीं है । प्रगतिशील कराधान कर-नीति का एक सुपरिचित तत्व है । उच्च आय या उच्च सामर्थ्य वाले निर्धारिती पर कर की उंची दरें रखना या उच्च कर का भार डालना किसी भी रीति में अयुक्तियुक्त नहीं माना जा सकता है । अतः जब इस सिद्धांत के साथ कोई विरोध नहीं है कि विधि के उद्देश्य को अग्रसर करने के लिए निर्वचन किया जाना चाहिए, चूंकि वर्तमान मामले में निर्धारिती ने लघु औद्योगिक उपक्रम के स्वरूप को प्रतिधारित नहीं किया है, इसलिए वह इस प्रवर्ग के प्रयोजनार्थ प्रोत्साहन के लिए पात्र नहीं है । ऐसे मामले में प्रोत्साहन की अनुज्ञा देना विधि के उद्देश्य के विरुद्ध होगा । (पैरा 12, 13, 14 और 22)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2017]	(2017) 9 एस. सी. सी. 364 = 391 आई. टी. आर. 1 : **सिटिजन को-आपरेटिव सोसाइटी लि.** बनाम **सहायक आय-कर आयुक्त, सर्किल-9(1), हैदराबाद** ;	17
[2014]	(2014) 3 एस. सी. सी. 556 : **हरियाणा राज्य** बनाम **भारती टेलटेक लि.** ;	18
[2011]	(2011) 2 एस. सी. सी. 74 : **सीमा-शुल्क आयुक्त** बनाम **एम. अम्बालाल एण्ड कंपनी** ;	19
[2005]	(2005) 1 एस. सी. सी. 368 **झारखंड राज्य** बनाम **अम्बे सीमेंट्स** ;	20

[1992] (1992) 3 एस. सी. सी.78 =
(1992) 196 आई. टी. आर. 188 (एस. सी.) :
बजाज टेम्पो लिमिटेड बनाम
आय-कर आयुक्त । 15,16,18,20

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 20854. (इसके साथ 2017 की सिविल अपील सं. 20856, 20857 और 20855 की भी सुनवाई की गई)

2013 की आय-कर अपील सं. 477 में कर्नाटक उच्च न्यायालय, बंगलौर के तारीख 28 जुलाई, 2014 के अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री यशांक अध्यारु, ज्येष्ठ अधिवक्ता, (सुश्री) साधना संधू, मेरु सागर सामंत्रे, सुभाष आचार्य, (सुश्री) विद्धुषी, (सुश्री) लिंगनेवियाह और (श्रीमती) अनिल कटियार

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री सलिल कपूर, (सुश्री) अनन्य कपूर, सनत कपूर, सुमीत लालचंदानी, (सुश्री) सौम्या सिंह, प्रवीण स्वरूप, के. वी. मोहन, आर. के. राघवन और के. वी. बालकृष्णन्

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति आदर्श कुमार गोयल ने दिया ।

न्या. गोयल – इजाजत दी जाती है । यह अपील 2013 की आय-कर अपील सं. 470 में कर्नाटक उच्च न्यायालय, बंगलौर के तारीख 28 जुलाई, 2014 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है । उच्च न्यायालय ने विचार के लिए विधि का निम्नलिखित प्रश्न विरचित किया था :–

> "निर्धारिती द्वारा धारा 80झख की उपधारा (2) में वर्णित शर्तों का समाधान करने पर जब एक बार उसे धारा 80झख के अधीन कटौती का फायदा दे दिया जाता है, तो क्या निर्धारिती को उक्त कटौती का इस आधार पर फायदा देने से इनकार किया जा सकता है कि उक्त 10 क्रमवर्ती वर्षों के दौरान उपक्रम एक लघु औद्योगिक उपक्रम नहीं रह गया था ?"

2. उच्च न्यायालय ने प्रश्न का उत्तर नकारात्मक और निर्धारिती के पक्ष में दिया । राजस्व विभाग ने उक्त दृष्टिकोण को प्रश्नगत किया है ।

3. प्रत्यर्थी-निर्धारिती सीएनसी खरादों और इसी प्रकार की मशीनों के संघटक/पुर्जों के विनिर्माण और विक्रय का कार्य करता है । निर्धारण वर्ष 2005-06 के लिए उसकी आय 1,79,82,653/-रुपए निर्धारित की गई थी । तथापि, आय-कर आयुक्त ने आय-कर अधिनियम, 1961 (जिसे इसमें आगे "अधिनियम" कहा गया है) की धारा 263 के अधीन धारा 80 झख(3) के अधीन कटौती मंजूर करने की सीमा तक निर्धारण में हस्तक्षेप किया और तारीख 16 जनवरी, 2009 के आदेश द्वारा उक्त विवाद्यक पर नए सिरे से विनिश्चय करने का निदेश दिया । उसके पश्चात् निर्धारण अधिकारी ने तारीख 14 दिसंबर, 2009 को धारा 80झख(3) के अधीन कटौती के मद्धे 75,81,910/- रुपए का दावा नामंजूर कर दिया । अपील में आयुक्त द्वारा और द्वितीय अपील में आय-कर अपील अधिकरण द्वारा यह आदेश कायम रखा गया । तथापि, उच्च न्यायालय ने उक्त आदेशों को उलट दिया और दावे को कायम रखा ।

4. सुसंगत धारा निम्नलिखित है :–

"**80झख. अवसंरचना विकास उपक्रमों से भिन्न कुछ औद्योगिक उपक्रमों से लाभों और अभिलाभों की बाबत कटौती –** (1) जहां निर्धारिती की सकल कुल आय में उपधारा (3) से उपधारा (11), (11क) और (11ख) में निर्दिष्ट किसी कारबार से (ऐसे कारबार को इसमें आगे पात्र कारबार कहा गया है) व्युत्पन्न कोई लाभ और अभिलाभ सम्मिलित हैं, वहां निर्धारिती की कुल आय की संगणना करने में, ऐसे लाभों और अभिलाभों में से इस धारा के उपबंधों के अनुसार, और उनके अधीन रहते हुए, इस धारा में उल्लिखित प्रतिशत के बराबर रकम की और उतने निर्धारण वर्षों के लिए, जो इस धारा में उल्लिखित किए जाएं, कटौती अनुज्ञात की जाएगी ।

(2) यह धारा किसी ऐसे औद्योगिक उपक्रम को लागू होती है जो निम्नलिखित सभी शर्तों को पूरा करता है, अर्थात् –

(i) वह पहले से विद्यमान किसी कारबार को खंडित या पुनर्गठित करके नहीं बना है :

परन्तु यह शर्त किसी ऐसे औद्योगिक उपक्रम की बाबत लागू नहीं होगी जो निर्धारिती द्वारा ऐसे किसी औद्योगिक

उपक्रम के कारबार के, जो धारा 33ख में निर्दिष्ट है, उस धारा में, उल्लिखित परिस्थितियों में और अवधि के भीतर पुनःस्थापन, पुनर्गठन या पुनः चालन के परिणामस्वरूप बना है ;

(ii) वह किसी प्रयोजन के लिए तत्पूर्व किसी मशीनरी या संयंत्र का नए कारबार को अंतरण करके नहीं बना है ;

(iii) वह भारत के किसी भाग में ऐसी वस्तु या चीज का विनिर्माण या उत्पादन करता है जो ग्यारहवीं अनुसूची की सूची में उल्लिखित वस्तु या चीज नहीं है, या एक या अधिक शीतागार संयंत्र या संयंत्रों का प्रचालन करता है :

परन्तु इस खंड की शर्त, उपधारा (4) में निर्दिष्ट किसी लघु औद्योगिक उपक्रम या औद्योगिक उपक्रम के संबंध में ऐसे लागू होगी मानो जो ग्यारहवीं अनुसूची की सूची में उल्लिखित वस्तु या चीज नहीं है, शब्दों का लोप कर दिया गया हो ।

स्पष्टीकरण 1 – खंड (ii) के प्रयोजनों के लिए, ऐसी मशीनरी या संयंत्र का, जो निर्धारिती से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा भारत के बाहर प्रयुक्त किया गया था, किसी प्रयोजन के लिए तत्पूर्व प्रयुक्त मशीनरी या संयंत्र नहीं समझा जाएगा यदि निम्नलिखित शर्तें पूरी हो जाती हैं, अर्थात् –

(क) ऐसी मशीनरी या संयंत्र का निर्धारिती द्वारा प्रतिष्ठापित किए जाने की तारीख से पहले किसी समय भारत में प्रयोग नहीं किया गया था ; तथा

(ख) ऐसी मशीनरी या संयंत्र का भारत के बाहर किसी देश से भारत में आयात किया गया है ; तथा

(ग) निर्धारिती द्वारा मशीनरी या संयंत्र प्रतिष्ठापित किए जाने की तारीख से पहले किसी अवधि के लिए किसी व्यक्ति की कुल आय की संगणना करने में उस मशीनरी या संयंत्र के संबंध में इस अधिनियम के उपबंधों के अंतर्गत अवक्षयण के कारण कोई कटौती अनुज्ञात नहीं की गई है या अनुज्ञेय नहीं है ।

स्पष्टीकरण 2 – जहां किसी औद्योगिक उपक्रम की दशा में किसी प्रयोजन के लिए तत्पूर्व प्रयुक्त कोई मशीनरी या संयंत्र

या उसका कोई भाग किसी नए कारबार को अंतरित किया जाता है और इस प्रकार अंतरित मशीनरी या संयंत्र या उसके भाग का कुल मूल्य उस कारबार में प्रयुक्त मशीनरी या संयंत्र के कुल मूल्य के बीस प्रतिशत से अधिक नहीं है, वहां इस उपधारा के खंड (ii) के प्रयोजनों के लिए यह समझा जाएगा कि उसमें उल्लिखित शर्त का अनुपालन हो गया है ;

(iv) ऐसी दशा में, जहां औद्योगिक उपक्रम किसी वस्तु या चीज का विनिर्माण या उत्पादन करता है, वह उपक्रम विद्युत की सहायता से चलाई जाने वाली विनिर्माण प्रक्रिया में दस या अधिक कर्मकारों को नियोजित करता है या विद्युत की सहायता के बिना चलाई जाने वाली विनिर्माण प्रक्रिया में बीस या अधिक कर्मकारों को नियोजित करता है ।

(3) किसी औद्योगिक उपक्रम की दशा में, कटौती की रकम प्रारंभिक निर्धारण वर्ष से क्रमवर्ती निर्धारण वर्षों से प्रारंभ होने वाली इस क्रमवर्ती निर्धारण वर्षों की अवधि के लिए (या जहां निर्धारिती कोई सहकारी सोसाइटी है, वहां बारह क्रमवर्ती निर्धारण वर्षों के लिए) ऐसे औद्योगिक उपक्रम से व्युत्पन्न लाभों और अभिलाभों के पच्चीस प्रतिशत (या जहां निर्धारिती कंपनी है वहां तीस प्रतिशत) निम्नलिखित शर्तों को पूरा किए जाने के अधीन रहते हुए, होगी, अर्थात् –

(i) वह 1 अप्रैल, 1991 से प्रारंभ होने वाली और 31 मार्च, 1995 को समाप्त होने वाली अवधि के दौरान या ऐसी अतिरिक्त अवधि के दौरान, जो केन्द्रीय सरकार किसी विशिष्ट उपक्रम के प्रति निर्देश से राजपत्र में अधिसूचना द्वारा उल्लिखित करे, किसी समय किसी वस्तु या चीज का विनिर्माण या उत्पादन का काम आरंभ करता है या ऐसे संयंत्र या संयंत्रों का प्रचालन करना आरंभ करता है ;

(ii) जहां वह ऐसा औद्योगिक उपक्रम है जो लघु उद्योग उपक्रम है, वहां वह 1 अप्रैल, 1995 को प्रारंभ होने वाली और 31 मार्च, 2002 को समाप्त होने वाली अवधि के दौरान किसी समय किसी वस्तु या चीज का विनिर्माण या उत्पादन करना प्रारंभ करता है या अपने शीतागार संयंत्र जो उपधारा (4) या उपधारा (5) में उल्लिखित नहीं है का प्रचालन करता है ।

(4) से (13) * * * *

(14) इस धारा के प्रयोजनों के लिए, –

(क) 'निर्मित क्षेत्र' से निवास इकाई की भू-सतह का भीतरी माप अभिप्रेत है जिसके अंतर्गत दीवारों की मोटाई के द्वारा बढ़ाए गए क्षेत्र के रूप में निकला भाग और बालकनी भी हैं किंतु जिसके अंतर्गत ऐसे सामान्य क्षेत्र नहीं है जो अन्य निवास इकाइयों से जुडे हैं ;

(कक) 'शीतागार सुविधा शृंखला' का अर्थ वैज्ञानिक रूप से नियंत्रित दशाओं में कृषि उपज के भंडारण या परिवहन के लिए सुविधाओं की शृंखला है, जिसके अंतर्गत ऐसी उपज के परिरक्षण के लिए प्रशीतन और अन्य आवश्यक सुविधाएं भी हैं ;

(कख) 'कन्वेंशन केन्द्र' से विहित क्षेत्र का ऐसा भवन अभिप्रेत है जिसमें ऐसे कन्वेंशन हाल हैं जिनका उपयोग सम्मेलन और सेमिनार आयोजित किए जाने के लिए किया जाता है, जो उस आकार और संख्या में हो और उसमें ऐसी सुविधाएं और प्रसुविधाएं हैं, जो विहित की जाए ;

(ख) 'पहाड़ी क्षेत्र' से समुद्र तल से ऊपर एक हजार मीटर या उससे अधिक ऊंचाई पर अवस्थित कोई क्षेत्र अभिप्रेत है ;

(ग) 'आरंभिक निर्धारण वर्ष' से –

(i) किसी औद्योगिक उपक्रम या शीतागार संयंत्र या पोत या होटल की दशा में, उस पूर्ववर्ष से सुसंगत निर्धारण वर्ष अभिप्रेत है जिसमें औद्योगिक उपक्रम वस्तुओं या चीजों का विनिर्माण या उत्पादन करना प्रारंभ करता है या शीतागार संयंत्र या संयंत्रों या शीतागार शृंखला सुविधा को प्रचालित करना प्रारंभ करता है या पोत पहली बार प्रयोग में लाया जाता है अथवा होटल का कारबार आरंभ होता है ;

(ii) किसी ऐसी कंपनी की दशा में, जो वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान और विकास कार्य कर रही है, उस पूर्ववर्ष से सुसंगत निर्धारण वर्ष अभिप्रेत है जिसमें कंपनी का उपधारा (8) के प्रयोजनों के लिए विहित

प्राधिकारी द्वारा अनुमोदन किया जाता है ;

(iii) ऐसे किसी उपक्रम की दशा में, जो उपधारा (9) निर्दिष्ट खनिज तेल के वाणिज्यिक उत्पादन या परिष्करण में लगा हुआ है उस पूर्ववर्ष से सुसंगत निर्धारण वर्ष अभिप्रेत है जिसमें उपक्रम खनिज तेल का वाणिज्यिक उत्पादन या परिष्करण आरंभ करता है ;

(iv) फलों या सब्जियों के प्रसंस्करण, परिरक्षण और पैक करने के कारबार में या खाद्यान्न की उठाई-धराई, भंडारण और परिवहन के समेकित कारबार में लगे किसी उपक्रम की दशा में, उस पूर्ववर्ष से सुसंगत निर्धारण वर्ष अभिप्रेत है जिसमें उपक्रम ऐसा कारबार प्रारंभ करता है ;

(v) मल्टीप्लेक्स थिएटर की दशा में, निर्धारण वर्ष से उस पूर्ववर्ष से सुसंगत निर्धारण वर्ष अभिप्रेत है जिसमें ऐसा सिनेमा हाल, जो उक्त मल्टीप्लेक्स थिएटर का भाग है, वाणिज्यिक आधार पर कार्य करना आंरभ करता है ;

(vi) कन्वेंशन केंद्र की दशा में, निर्धारण वर्ष से उस पूर्ववर्ष से सुसंगत निर्धारण वर्ष अभिप्रेत है जिसमें कन्वेंशन केंद्र वाणिज्यिक आधार पर कार्य करना आरंभ करता है ;

(vii) किसी ग्रामीण क्षेत्र में किसी अस्पताल के प्रचालन और अनुरक्षण में लगे हुए किसी उपक्रम की दशा में, निर्धारण वर्ष से उस पूर्ववर्ष से सुसंगत निर्धारण वर्ष अभिप्रेत है जिसमें उपक्रम चिकित्सीय सेवाएं उपलब्ध कराना आरंभ करता है ।

(घ) 'पूर्वोत्तर क्षेत्र' से वह क्षेत्र अभिप्रेत है जिसमें अरुणाचल प्रदेश, असम, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड, सिक्किम और त्रिपुरा राज्य समाविष्ट हैं ;

(घक) 'मल्टीप्लेक्स थिएटर' से विहित क्षेत्र का ऐसा कोई भवन अभिप्रेत है, जिसमें दो या अधिक सिनेमा थिएटर और वाणिज्यिक दुकानें हैं जो उस आकार और संख्या में हो और उसमें ऐसी सुविधाएं और प्रसुविधाएं हैं, जो विहित की जाए ;

(ङ) 'तीर्थस्थान' से वह स्थान अभिप्रेत है जहां किसी संपूर्ण

राज्य या राज्यों में कोई मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च या कोई सुविख्यात लोक उपासना का अन्य स्थान अवस्थित है ;

(च) 'ग्रामीण क्षेत्र' से ऐसा क्षेत्र अभिप्रेत है जो –

(i) ऐसे क्षेत्र से भिन्न है जो किसी नगरपालिका की (चाहे वह नगरपालिका, नगर निगम, अधिसूचित क्षेत्र सीमित, शहरी क्षेत्र सीमित या किसी अन्य नाम से ज्ञात हो या किसी छावनी बोर्ड की अधिकारिता के भीतर आता है और जिसकी जनसंख्या उस पूर्ववर्ती जनगणना के अनुसार, जिसके सुसंगत आंकड़े पूर्ववर्ष के प्रथम दिन से पूर्व प्रकाशित हो गए हैं, दस हजार से कम नहीं हैं ; या

(ii) ऐसे क्षेत्र से भिन्न है, जो उपखंड (i) में निर्दिष्ट किसी नगरपालिका, नगर बोर्ड की स्थानीय सीमाओं से इतनी दूरी के भीतर है, जो पन्द्रह किलोमीटर से अधिक नहीं है, केन्द्रीय सरकार ऐसे क्षेत्र के विकास के प्रक्रम को जिसके अंतर्गत ऐसे क्षेत्र के नगरीकरण का विस्तार और उसकी संभावनाएं भी हैं, और अन्य सुसंगत बातों को ध्यान में रखते हुए राजपत्र में अधिसूचना द्वारा इस संबंध में उल्लिखित करें ;

(छ) 'लघु औद्योगिक उपक्रम' से वह औद्योगिक उपक्रम अभिप्रेत है जो पूर्ववर्ष के अंतिम दिन को, उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1951 (1951 का 65) की धारा 11ख के अधीन लघु औद्योगिक उपक्रम समझा जाता है ।"

5. इससे पूर्व कि हम उपर्युक्त उपबंध के सही निर्वचन के मुद्दे पर विचार करें, इस विवाद्यक पर कानूनी प्राधिकारियों और उच्च न्यायालय की मताभिव्यक्तियों का उल्लेख करना आवश्यक होगा ।

6. कटौती को नामंजूर करने वाला तारीख 14 दिसंबर, 2009 का निर्धारण आदेश निम्न प्रकार से है :–

"यह दावा इस आधार पर स्वीकार्य नहीं है कि संयंत्र और मशीनरी का मूल्य 3 सीडी रिपोर्ट से संलग्न अवक्षयण अनुसूची के अनुसार एक करोड़ रुपए से अधिक है जो समाप्त वर्ष 2004-05 (निर्धारण वर्ष 2005-06) के लिए लघु उद्योग की परिभाषा की परिधि

के अधीन नहीं आता है ।

उपर्युक्त को देखते हुए, मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि निर्धारिती कंपनी धारा 80 झख(3)के अधीन 75,81,910/- रुपए के दावे के लिए पात्र नहीं है और इसलिए दावा नामंजूर किया जाता है ।"

7. आय-कर आयुक्त (अपील) ने तारीख 15 फरवरी, 2011 के आदेश में यह मत व्यक्त किया था :–

"मैं आय-कर आयुक्त से सहमत हूं जिन्होंने धारा 263 के अधीन आदेश पारित करते समय यह उल्लेख किया है कि औद्योगिक उपक्रम, इस मामले में जो प्रारंभ में लघु औद्योगिक इकाई थी, को प्रत्येक ब्लाक वर्ष में अपनी हकदारी के लिए सभी शर्तों को पूर्ण करे अन्यथा ऐसा दावा नामंजूर किया जाना चाहिए । उन्होंने ठीक ही यह उल्लेख किया है कि धारा 80झख(3) से केवल इसकी हकदारी और गुंजाइश का आधार गठित होता है । प्रथम शर्त यह है कि इसे दावे और हकदारी के वर्ष में एक लघु उद्योग इकाई होना चाहिए । धारा 80झख (14)(छ) में यह परिभाषित है कि लघु उद्योग क्या है और इसमें निश्चित तारीख विहित की गई है जिससे कि निर्धारण अधिकारी यह परीक्षा कर सके कि उस तारीख को वह इकाई लघु उद्योग है या नहीं । इस मामले में सुसंगत पूर्व वर्ष का अंतिम दिन तारीख 31 मार्च, 2005 है और यह तारीख अनन्य रूप से केवल इस धारा के प्रयोजन के लिए है । स्वीकृततः, तारीख 31 मार्च, 2005 को संयंत्र और मशीनरी में विनिधान 4,05,21,730/- रुपए था जो उस वर्ष की विहित सीमा अर्थात् एक करोड़ से अधिक था, इसलिए यह इकाई एक लघु उद्योग नहीं रह जाता है और इसलिए नामंजूरी को न्यायोचित ठहराया जाना चाहिए ।"

* * * * *

17. सारांश :

"धारा 80 एक प्रोत्साहनकारी उपबंध है । इस धारा में कतिपय औद्योगिक उपक्रमों से लाभों और अभिलाभों की बाबत कटौती अनुबंधित है । इस धारा में बहुत सारे उद्योगों और कारबार के प्रकारों को ऐसी कटौती का फायदा दिया गया है, यदि वे अधिनियम की धारा 80झख की संबंधित उपधारा में वर्णित शर्तें पूरी करते हैं । पोत,

होटल, मल्टीप्लेक्स थियेटर, आवास परियोजनाएं आदि कुछ ऐसे समुत्थान/उद्योग हैं । धारा 80झख की उपधारा (2) में शीतागार और शीतागार सुविधा शृंखला तथा औद्योगिक उपक्रमों, जिनमें लघु औद्योगिक उपक्रम भी हैं, के लिए ऐसी शर्तों का उपबंध किया गया है । औद्योगिक उपक्रम को आय-कर अधिनियम की धारा 80झख के अधीन फायदे के दावे के लिए धारा 80झख(2) में वर्णित सभी चार शर्तों को पूर्ण करना आवश्यक है । शर्त सं. 1 यह है कि औद्योगिक उपक्रम पहले से विद्यमान किसी कारबार को खंडित या पुनर्गठित करके नहीं बना है और इसका अपवाद यह है कि आय-कर अधिनियम की धारा 33ख में विनिर्दिष्ट इकाइयों की दशा में यह शर्त लागू नहीं होगी । दूसरी शर्त यह है कि ऐसा उपक्रम तत्पूर्व प्रयुक्त मशीनरी या संयंत्र का अंतरण करके नहीं बना होना चाहिए और इसका अपवाद यह है कि तत्पूर्व प्रयुक्त ऐसी मशीनरी या संयंत्र का मूल्य ऐसे औद्योगिक उपक्रम के संयंत्र और मशीनरी के कुल लागत मूल्य के बीस प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए । तीसरी शर्त यह है कि औद्योगिक उपक्रम द्वारा कोई ऐसी वस्तु या चीज का उत्पादन या विनिर्माण करना आवश्यक है जो ग्यारहवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट कोई वस्तु या चीज नहीं है । इस तीसरी शर्त का अपवाद यह है कि लघु औद्योगिक इकाई तब धारा 80झख का फायदा प्राप्त कर सकती है यदि विनिर्मित या उत्पादित चीजें या वस्तुएं ग्यारहवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट हों । चौथी शर्त यह है कि विद्युत की सहायता से चलने वाले औद्योगिक उपक्रम में दस से कम कर्मचारी नहीं होने चाहिएं और यदि यह विद्युत के बिना चलता है, तो कर्मचारियों की संख्या बीस से अधिक होनी चाहिए । इस प्रकार, यदि औद्योगिक उपक्रम आय-कर अधिनियम की धारा 80झख के अधीन फायदा प्राप्त करने का इच्छुक है तो उसे ऊपर वर्णित चारों शर्तों को अवश्य पूरा करना चाहिए । किसी लघु औद्योगिक इकाई के लिए एक अतिरिक्त शर्त भी है अर्थात् इसका आय-कर अधिनियम की धारा 80झख(14) में दिए गए स्पष्टीकरण (छ) के अनुसार एक लघु औद्योगिक इकाई होना आवश्यक है जिसमें उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1951 की धारा 11ख को निर्दिष्ट किया गया है और इसमें भी औद्योगिक उपक्रम को लघु औद्योगिक उपक्रम अभिहित करने के लिए संयंत्र और मशीनरी में विनिधान की सीमा विहित की गई है । इस प्रकार, इन पांच शर्तों में से पहली दो शर्तें स्थिर या अपरिवर्तनीय

कही जा सकती हैं । दूसरे शब्दों में, यदि विनिर्माण या उत्पादन के आरंभिक वर्ष में यह सिद्ध हो जाता है कि इसने इन दो शर्तों को पूर्ण किया है, तो निर्धारण अधिकारी इस आधार पर ब्लाक अवधि के पश्चात्वर्ती अर्हित वर्षों में धारा 80झख के फायदे से इनकार नहीं कर सकता है । शेष तीन शर्तें अस्थिर और परिवर्तनशील है । औद्योगिक उपक्रम को दावे के प्रत्येक पश्चात्वर्ती वर्ष में अवश्य यह दर्शित करना चाहिए कि इन तीनों शर्तों का अतिक्रमण नहीं किया गया है । निर्धारिती के ऐसे दावों को निर्धारण अधिकारी के विश्लेषण और संवीक्षा का सामना करना होता है । अतः, चूंकि प्रत्येक निर्धारण वर्ष अलग और स्वतंत्र होता है, इसलिए राजस्व प्राधिकारियों को प्रत्येक वर्ष के तथ्यों और आंकड़ों तथा विधि की सुसंगत बातों को यह पता लगाने के लिए परीक्षा करने की पूरी शक्ति है कि ये सभी तीनों शर्तें पूरी होती हैं या नहीं । नटराज स्टेशनरी [312, आई. टी. आर. (दिल्ली)] वाले उद्धृत मामले में का भी यही विनिश्चयाधार है । उस मामले में यह मत व्यक्त किया गया था कि पहली दो शर्तों का पहले ही समाधान किया गया है और यह धारण कि जाती है कि चौथी शर्त को उस वर्ष में पूरा किया गया है और इसलिए अनुतोष दिया जाता है । मैसर्स जनक डिहाइड्रेशन (प्रा.) लि. **बनाम** सहायक आय-कर आयुक्त [(2010) 134 आई. टी. जे. अहमदाबाद डी-ट्रिब्यू.] वाले मामले में भी इसी प्रकार का विनिश्चयाधार है । उस मामले के तथ्य ये थे कि निर्धारिती को वर्ष 1993-94 से 2002-03 तक धारा 80झख के अधीन कटौती मंजूर की गई थी किंतु निर्धारण वर्ष 2003-04 में दावे को इस आधार पर नामंजूर कर दिया गया कि प्रारंभिक वर्ष में औद्योगिक इकाई को विद्यमान इकाई को पुनर्गठित या खंडित करके बनाया गया था । आय-कर अपील अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि निर्धारण अधिकारी इस बात के लिए स्वतंत्र नहीं है कि वह पश्चात्वर्ती वर्ष में दावे से इनकार करने के लिए इकाई को पुनर्गठित या खंडित करके बनाने की बाबत विभाग की पूर्ववर्ती स्वीकृति पर संदेह करे क्योंकि इससे निरंतरता के सिद्धांत का अतिक्रमण होता है । किंतु अधिकरण ने यह भी अधिकथित किया कि –

> 'आय-कर अधिनियम के अधीन प्रत्येक वर्ष निर्धारण की एक अलग इकाई होती है और करादेय आय तथा कर दायित्व उस वर्ष में विद्यमान तथ्यों और उस वर्ष में लागू विधि को ध्यान में रखते हुए अवधारित किया जाना चाहिए ।'

ऊपर पैरा 15 में यथा वर्णित उपर्युक्त विधिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए संभवतः यह देखा जा सकता है कि अपीलार्थी ने पांचवीं आज्ञापक शर्त का अतिक्रमण किया है । इस बात में संदेह नहीं है कि आरंभिक निर्धारण वर्ष में अपीलार्थी एक लघु औद्योगिक इकाई थी किंतु निर्धारण वर्ष 2005-06 में संयंत्र और मशीनरी में विनिधान स्वीकृत रूप से एक करोड़ रुपए की विहित सीमा से अधिक था । इसलिए इसे एक लघु औद्योगिक इकाई अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है । इस प्रकार, अपीलार्थी द्वारा, स्वीकृत रूप से, पांचवीं शर्त का खुले तौर पर अतिक्रमण किया गया है इसलिए निर्धारण वर्ष 2005-06 में ईप्सित अनुतोष से इनकार किया जाना चाहिए ।

18. उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए, परिवर्धन/नामंजूरी को कायम रखा जाता है । अपील खारिज की जाती है ।"

8. आय-कर अपील अधिकरण ने अपने तारीख 24 मई, 2013 के आदेश में यह मत व्यक्त किया कि :–

"5.3.6 विवाद्यक के उन सभी तथ्यों और परिस्थितियों, जिनकी पूर्वगामी पैराओं में चर्चा की गई है, और साथ ही जैसा कि निर्धारण अधिकारी द्वारा ठीक ही उजागर किया गया है कि संयंत्र और मशीनरी का मूल्य विचाराधीन वर्ष के दौरान एक करोड़ रुपए से अधिक हो गया था जिसकी वजह से संयोगवश निर्धारिती स्वयं को एक लघु उद्योग कहने से वंचित हो गया था, को ध्यान में रखते हुए हमारा यह सुविचारित मत है कि निचले प्राधिकारियों ने अधिनियम की धारा 80झख(3) के अधीन निर्धारिती के कटौती के दावे से इनकार करके न्यायोचित किया है । तद्नुसार, यह आदेश किया जाता है ।"

9. उच्च न्यायालय ने अपने द्वारा विरचित किए गए प्रश्न पर विचार करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया :–

"5. संपूर्ण उपबंध में ऐसा कोई उपदर्शन नहीं है कि निर्धारिती द्वारा सभी दस वर्षों के दौरान सभी शर्तों को पूर्ण किया जाना चाहिए था । यदि उपक्रम आरंभ में इन सभी शर्तों का समाधान कर देता है और आरंभिक वर्ष से प्रारंभ होकर जब एक बार दस वर्षों का फायदा प्रदान कर दिया जाता है तो उपक्रम दस क्रमवर्ती वर्षों के लिए फायदे का हकदार है । यह दलील, कि दस वर्षों के दौरान यदि उद्योग की वृद्धि तीव्र है और वह मशीनरी अर्जित करता है तथा मशीनरी का कुल

मूल्य एक करोड़ रुपए से अधिक है तो उसे उक्त फायदा नहीं मिलेगा, किसी उपबंध के अनुसार नहीं है । यह बात सत्य है कि दोनों ओर के लिए ऐसा कोई अभिव्यक्त उपबंध नहीं है जिससे यह उपदर्शित होता हो कि तब क्या स्थिति होगी यदि लघु उद्योग उक्त दस वर्षों की अवधि के दौरान लघु उद्योग नहीं रहता है । इस अस्पष्टता के कारण इसके निर्वचन की आवश्यकता उद्‌भूत होती है । यदि हम इन प्रोत्साहनों का उपबंध करने के लिए विधान-मंडल के उद्देश्य को ध्यान में रखें और जब दस वर्ष की अवधि विहित की गई है, तो यह वह अवधि है जो, संभवतः, किसी उद्योग को स्वयं को स्थिरता प्रदान करने के लिए अपेक्षित है । इस अवधि के दौरान उद्योग न केवल उत्पादों का विनिर्माण करता है, अपितु यह नियोजन भी पैदा करता है और इससे देश की धन-दौलत में भी वृद्धि होती है । केवल इस कारण कि उद्योग जल्दी स्थिर हो गया है, लाभ कमाने लगा है, उक्त कारबार में भविष्य के लिए भी विनिधान किया है तथा वह लघु उद्योग की परिभाषा से बाहर हो गया है, तो इस कारण से उसे धारा 80झख के अधीन फायदे से इनकार नहीं किया जा सकता है । यदि उक्त उपबंध का ऐसा शाब्दिक निर्वचन किया जाए तो यह प्रोत्साहन प्रदान करने वाले उद्देश्य के ही प्रतिकूल होगा । इससे उद्योग नष्ट हो जाएगा । अतः, जिस उद्देश्य के साथ यह उपबंध अधिनियमित किए जाते हैं, उसको ध्यान में रखते हुए और उस औद्योगिक वृद्धि को ध्यान में रखते हुए जिसे प्राप्त किया जाना अपेक्षित है, यदि दो निर्वचन संभव हो तो न्यायालयों का झुकाव ऐसे निर्धारिती को कटौती का फायदा देने के पक्ष में होना चाहिए जिसने विधि के अधीन मिलने वाले अवसर का उपभोग किया है और उसने अपने कारबार में बढ़ोतरी की है । इसलिए हमारा यह मत है कि यदि कोई लघु उद्योग दस वर्षों के अनुक्रम में जल्दी स्थिरता प्रदान कर लेता है और कारबार में और अधिक विनिधान करता है और इसके परिणामस्वरूप वह लघु उद्योग की परिभाषा से बाहर हो रहा है तो यह बात आरंभिक निर्धारण वर्ष से दस क्रमवर्ती वर्षों में धारा 80झख के अधीन फायदे का दावा करने के लिए आड़े नहीं आएगी । इसलिए प्राधिकारियों का दृष्टिकोण विधान-मंडल की स्कीम और आशय के प्रतिकूल है । तद्द्वारा उन्होंने निर्धारिती को विधिसम्मत फायदे से इनकार किया है, इसलिए उसे यह प्रोत्साहन प्रदान किया जाए । उक्त दोनों आदेशों को कायम नहीं रखा जा सकता है । अतः विधि

के सारभूत प्रश्न का उत्तर निर्धारिती के पक्ष में और राजस्व विभाग के विरुद्ध दिया जाता है ।"

(हमारे द्वारा रेखांकन करके बल दिया गया है)

10. धारा 80झख अधिनियम के अध्याय 6 में है जिसमें कुल आय, जिसकी सुसंगत उपबंधों के अधीन संगणना की जाएगी, से कटौतियां मंजूर किए जाने का उपबंध है । स्कीम उक्त अध्याय के विभिन्न उपबंधों में वर्णित प्रयोजनों के लिए प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए है । धारा 80झख में अवसंरचना विकास उपक्रमों से भिन्न (जिनके लिए अलग से धारा 80झक के अधीन उपबंध है) विनिर्दिष्ट औद्योगिक उपक्रमों के लाभों और अभिलाभों से विनिर्दिष्ट प्रतिशत की कटौतियां करने के लिए उपबंध किया गया है । इस अपील के प्रयोजन के लिए जो सुसंगत खंड है वह खंड 2 है जिसमें औद्योगिक उपक्रमों की बाबत, इस खंड में विनिर्दिष्ट शर्तों को पूरा करने पर, कटौतियों को अनुज्ञेय बनाया गया है । यह स्कीम खंड 14(छ) में यथापरिभाषित लघु औद्योगिक उपक्रमों को लागू होती है जिसमें वस्तुतः उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1951 को निर्दिष्ट किया गया है । अनुज्ञेय कटौती की सीमा खंड 3 में वर्णित है जो आरंभिक निर्धारण से प्रारंभ होकर दस क्रमवर्ती निर्धारण वर्षों के लिए ऐसे औद्योगिक उपक्रमों के लाभों और अभिलाभों का 25 प्रतिशत (कंपनी की दशा में 30 प्रतिशत) है । आरंभिक निर्धारण वर्ष खंड 14(ग) में ऐसे वर्ष के रूप में परिभाषित है जिसमें विनिर्माण/उत्पादन प्रारंभ होता है ।

11. जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या 10 क्रमवर्ती निर्धारण वर्षों के लिए खंड 3 के अधीन कटौती उन शर्तों का पालन करने की बात को विचार में लाए बिना अनुज्ञेय बनी रहती है जिनके अध्यधीन सुसंगत निर्धारण वर्षों में उक्त कटौती अनुज्ञात है । कटौती के प्रयोजनों के लिए, धारा 80झख के अंतर्गत आने वाले औद्योगिक उपक्रमों के विभिन्न प्रवर्ग हैं । खंड 2 के द्वितीय परंतुक के अधीन ऐसे औद्योगिक उपक्रमों, जो लघु औद्योगिक उपक्रमों से भिन्न हैं अर्थात् जो आठवीं अनुसूची में नहीं हैं, पर लागू निर्हरता इन पर लागू नहीं होती है । पात्र लघु औद्योगिक उपक्रम केवल वे हैं जिन्होंने 1 अप्रैल, 1995 से आरंभ और 31 मार्च, 2002 को समाप्त होने वाली अवधि के दौरान चीजों या वस्तुओं का विनिर्माण या उत्पादन करना प्रारंभ किया हो [खंड 3(ii)] । अन्य प्रवर्गों के औद्योगिक उपक्रमों के लिए विभिन्न अवधियां, उदाहरण के लिए खंड (3) के उपखंड (i) के अधीन विहित हैं ।

12. कानून की स्कीम से किसी भी रीति में यह उपदर्शित नहीं होता है कि उपबंधित प्रोत्साहन दस क्रमवर्ती वर्षों के लिए पात्रता शर्तों के जारी रहने की बात को विचार में लाए बिना जारी रहेगा । प्रोत्साहन की प्रयोज्यता सीधे तौर पर पात्रता से संबद्ध हैं न कि इससे असंबद्ध और यदि कोई औद्योगिक उपक्रम लघु उपक्रम नहीं रहता है या यदि वह लाभ उपार्जित नहीं करता है तो वह प्रोत्साहन का दावा नहीं कर सकता है । निस्संदेह, केवल आरंभिक निर्धारण वर्ष में कतिपय अर्हताएं अपेक्षित हैं, उदाहरण के लिए, उपक्रम के आरंभिक गठन की बाबत अपेक्षाएं । खंड 2 में केवल उन उपक्रमों के लिए पात्रता सीमित की गई है जो विद्यमान कारबार को खंडित करके, तत्पूर्व प्रयुक्त मशीनरी या संयंत्र नए कारबार में अंतरित करके नहीं बने हैं । प्रोत्साहन का दावा करने के लिए कतिपय अन्य अर्हताएं बनी रहनी चाहिएं, जैसे कि किसी निर्धारण वर्ष में खंड 2 के उपखंड 4(i) के अनुसार विशिष्ट संख्या में कर्मकारों का नियोजन करना । ऐसे औद्योगिक उपक्रमों के लिए, जो लघु औद्योगिक उपक्रमों से भिन्न हैं, जो आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट वस्तुओं या चीजों का विनिर्माण या उत्पादन नहीं कर रहे हैं, यह अपेक्षा एक निरंतर प्रकृति की है ।

13. इस उपबंध की स्कीम की परीक्षा करने पर कोई संदेह नहीं रह जाता है कि लघु औद्योगिक उपक्रमों के प्रयोजनार्थ प्रोत्साहन का उपभोग ऐसे औद्योगिक उपक्रमों द्वारा नहीं किया जा सकता है जो सुसंगत अवधि के दौरान लघु औद्योगिक उपक्रम के रूप में चालू नहीं रहे हैं । यह कहना अनावश्यक है कि सिवाय ब्लॉक निर्धारण वर्ष के प्रत्येक निर्धारण वर्ष एक भिन्न निर्धारण वर्ष होता है ।

14. आक्षेपित आदेश में की गई मताभिव्यक्तियां यह हैं कि विधान-मंडल का उद्देश्य औद्योगिक विस्तार के लिए प्रोत्साहित करना है जिससे यह विवक्षित है कि प्रोत्साहन वहां भी लागू होना चाहिए जहां लघु औद्योगिक उपक्रम औद्योगिक विस्तार के कारण लघु औद्योगिक उपक्रम बने नहीं रहते हैं । हम इन मताभिव्यक्तियों के लिए इस तर्क का समर्थन करने में असमर्थ हैं । प्रोत्साहन एक विशिष्ट प्रवर्ग के उद्योग को एक विशिष्ट प्रयोजन के लिए दिया जाता है । लघु औद्योगिक उपक्रम के प्रयोजनार्थ प्रोत्साहन का उपभोग ऐसे निर्धारिती द्वारा नहीं किया जा सकता है जो कि ऐसा उपक्रम नहीं है । इसका किसी भी रीति में यह अर्थ नहीं है कि यदि अन्य उपक्रमों को यह फायदा मंजूर नहीं किया जाता है तो औद्योगिक विस्तार करने की अनुज्ञा देने का उद्देश्य विफल हो जाता है ।

इस तर्क के आधार पर तो प्रोत्साहन किसी शर्त को विचार में लाए बिना दिया जाना चाहिए क्योंकि प्रोत्साहन से निश्चित तौर पर कर के बोझ को कम करके आगे विस्तार करने में सहायता मिलती है । उर्ध्वाधर साम्यता की धारणा सुपरिचित है जिसके अधीन सभी निर्धारितियों पर एक समान कर लगाने की आवश्यकता नहीं है । प्रगतिशील कराधान कर-नीति का एक सुपरिचित तत्व है । उच्च आय या उच्च सामर्थ्य वाले निर्धारिती पर कर की ऊंची दरें रखना या उच्च कर का भार डालना किसी भी रीति में अयुक्तियुक्त नहीं माना जा सकता है ।

15. अब हम उन कुछ विनिश्चयों को निर्दिष्ट कर सकते हैं जिन्हें न्यायालय के समक्ष उद्धृत किया गया है । निर्धारिती की ओर से यह दलील दी गई है कि प्रोत्साहन से संबंधित उपबंध का अर्थान्वयन उस उपबंध के उद्देश्यों को अग्रसर करने के लिए उदारतापूर्वक किया जाना चाहिए । **बजाज टेम्पो लिमिटेड** बनाम **आय-कर आयुक्त**[1] वाले मामले का अवलंब लिया गया है । इस मामले में निर्धारिती ने एक ऐसे नए औद्योगिक उपक्रम के प्रयोजनार्थ छूट का दावा किया था जिसे आय-कर अधिनियम, 1922 की धारा 15(ग) के निबंधनों के अनुसार पूर्ववर्ती कारबार का अंतरण करके नहीं बनाया गया था । यह तथ्य का निष्कर्ष अभिलिखित करने के पश्चात् कि निर्धारिती असल में नया औद्योगिक उपक्रम था, यह मत व्यक्त किया गया कि वृद्धि और विकास का संवर्धन करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करने वाले कर कानून के किसी उपबंध का अर्थान्वयन उदारतापूर्वक किया जाना चाहिए । यह निर्णय प्रभेदनीय है । उदारतापूर्वक अर्थान्वयन करने से अभिप्राय छूट के लिए शर्तों की उपेक्षा करना नहीं है । उक्त निर्णय में विचार किया गया मुख्य विवाद्यक यह था कि यद्यपि उपक्रम असल में एक नया औद्योगिक उपक्रम था, जो कि छूट के लिए अर्हता है, तो भी उपक्रम का एक नाममात्र भाग विद्यमान उपक्रम में से लिया गया था तथा विद्यमान उपक्रम का भवन पट्टे पर लिया गया था । सुसंगत मताभिव्यक्तियां इस प्रकार हैं :–

> "9. अतः प्रारंभिक कवायद यह पता लगाने के लिए होनी चाहिए कि क्या उपक्रम नया है । जब एक बार इस कसौटी का समाधान हो जाता है कि तब खंड (i) को अधिनियम की धारा 15ग(1) की भावना को ध्यान में रखते हुए युक्तियुक्त रूप से और

---

[1] (1992) 3 एस. सी. सी. 78 = (1992) 196 आई. टी. आर. 188 (एस. सी.).

उदारतापूर्वक लागू करना चाहिए । ऐसा करते हुए विभिन्न स्थितियां उद्भूत हो सकती हैं; उदाहरण के लिए, निर्माण किसी पूर्ववर्ती कारबार से किसी लेन-देन के बिना हो सकता है, अर्थात् उपक्रम किसी तत्पूर्व कारबार को खंडित या पुनर्गठित किए बिना या किसी पूर्व कारबार की किसी भवन सामग्री अथवा संयंत्र के अंतरण के बिना बनाया गया हो सकता है, निस्संदेह, ऐसा उपक्रम किसी कठिनाई के बिना फायदा प्राप्त करने के लिए पात्र होगा । दूसरे रूप में, हो सकता है उपक्रम अपने स्वरूप में तो नया हो किंतु सारतः नया न हो । हो सकता है इसका केवल नाम नया हो, तो ऐसा उपक्रम, स्पष्टतः, फायदे का हकदार नहीं होगा । इन दोनों के बीच विभिन्न अन्य स्थितियां भी हो सकती हैं । ऐसे मामलों में कठिनाई उत्पन्न होती है । उदाहरण के लिए, एक नई कंपनी बनाई जा सकती है, जैसा कि इस मामले में है और यह तथ्य ऐसा है जिसको आय-कर अधिकारी द्वारा भी विवादग्रस्त नहीं किया जा सका है । किंतु इसमें 3,500/- रुपए मूल्य के औजार और उपकरण पूर्व फर्म से अंतरित किए गए थे । तकनीकी रूप से कहा जाए तो यह पूर्व कारबार में प्रयुक्त सामग्री का अंतरण था । यह कहा जा सकता है कि, जैसा कि विभाग की ओर से विद्वान् काउंसेल द्वारा जोरदार रूप से आग्रह किया गया है, जहां कानून की भाषा स्पष्ट है वहां निर्वचन की कोई गुंजाइश नहीं होती है । यदि विद्वान् काउंसेल की दलील स्वीकार की जाती है तब जब एक बार यह पाया जाता है कि उपक्रम में प्रयुक्त की गई सामग्री एक पूर्व कारबार की थी, वहां जांच समाप्त हो जाती है और निर्धारिती किसी फायदे का दावे करने से अपवर्जित हो जाता है । निस्संदेह, कानून के शब्द ही सर्वोत्तम मार्गदर्शक होते हैं । किंतु यदि उनके अर्थ अस्पष्ट हैं तो न्यायालयों से यह अपेक्षित है कि उस अस्पष्टता को दूर करें । उपधारा (2), उपधारा (1) में यह बात सम्मिलित करके इस उद्देश्य को अग्रसर करती है कि प्रत्येक उपक्रम, सिवाय इसके यदि यह खंड (i) के अंतर्गत आता हो जिसके लिए यह आवश्यक है कि यह भवन या मशीनरी का अंतरण करके नहीं बना हो । फायदे पर निर्बंधन या उससे इनकारी नई कंपनी को भवन या सामग्री के अंतरण से उद्भूत नहीं होते, बल्कि यह है कि वह कंपनी ऐसे अंतरण से न बनी हो । निर्वचन की यही मुख्य बात है । विरचना ऐसे अंतरण द्वारा नहीं होनी चाहिए । विरचना की बात पर बल दिया गया है, प्रयोग पर नहीं । इसलिए यह भवन या सामग्री

का अंतरण नहीं है अपितु यह ऐसा अंतरण है जिसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि यह अंतरण उपक्रम की विरचना के परिणामस्वरूप हुआ था । टेक्सटाइल मशीनरी कारपोरेशन लि. **बनाम** आय-कर आयुक्त [(1977) 2 एस. सी. सी. 368] वाले मामले में इस न्यायालय ने धारा 15ग का निर्वचन करते हुए यह मत व्यक्त किया –

> 'सही कटौती यह नहीं है कि क्या नया औद्योगिक उपक्रम निर्धारिती के विद्यमान कारबार के विस्तार का द्योतक है अपितु यह है कि क्या यह विद्यमान कारबार से अलग और सुभिन्न पूरी तरह एक नया और पहचान करने योग्य उपक्रम है । एक मामले का कोई विशिष्ट विनिश्चय, यह अवधारणा करने के लिए कि कोई प्रस्तुत मामला धारा 15ग के अधीन आता है या नहीं, एक अपरिवर्तनशील कसौटी अधिकथित नहीं कर सकता है । इसलिए कि नए उपक्रम के बारे में यह नहीं कहा जा सके कि यह पहले से विद्यमान कारबार में से नहीं बना है, एक ऐसी अलग भौतिक रूप से प्रकट होने वाली औद्योगिक इकाई का होना आवश्यक है जो एक व्यवहार्य इकाई के रूप में स्वयमेव अस्तित्व में हो । कोई उपक्रम तब विद्यमान कारबार में से बनता है जब पुरानी इकाई के साथ भौतिक पहचान परिरक्षित रखी जाती है ।'

यद्यपि इस विनिश्चय का संबंध विद्यमान कारबार के पुनर्गठन से संबंधित खंड से था किंतु 'नहीं बना है' अभिव्यक्ति का अर्थान्वयन करते हुए यह अर्थ लगाया गया था कि उपक्रम पुराने उपक्रम की निरंतरता नहीं होना चाहिए अपितु एक नई इकाई का आविर्भाव होना चाहिए । अतः, उपक्रम भले ही भवन, संयंत्र या मशीनरी का अंतरण करके स्थापित किया गया हो, किंतु यह ऐसे अंतरण के परिणामस्वरूप न बना हो, तो भी निर्धारिती को फायदे से इनकार नहीं किया जा सकता है ।"

16. **बजाज टेम्पो** (उपर्युक्त) वाले मामले में विचार किया गया विधि का सिद्धांत निश्चित तौर पर वहां निर्वचन का एक विधिमान्य सिद्धांत है जहां अस्पष्टता और विसंगति हो या जहां पात्रता की शर्तों का सारभूत रूप से पालन किया गया हो । प्रस्तुत मामले में, कानून की यह स्कीम स्पष्ट है कि प्रोत्साहन लघु औद्योगिक उपक्रम पर लागू होता है । यदि निर्धारिती

उस श्रेणी का औद्योगिक उपक्रम बना नहीं रहता है जिसके लिए प्रोत्साहन का उपबंध किया गया है और भले ही वह आरंभिक वर्ष में पात्र था, तो उक्त प्रोत्साहन मंजूर न करने से किसी भी रीति में विधान-मंडल का आशय विफल नहीं होता है । प्रत्येक निर्धारण वर्ष एक अलग इकाई है ।

17. **सिटिजन को-आपरेटिव सोसाइटी लि.** बनाम **सहायक आय-कर आयुक्त, सर्किल-9(1), हैदराबाद**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने प्राथमिक कृषि प्रत्यय सोसाइटी या किसी प्राथमिक सहकारी कृषि और ग्रामीण विकास बैंक के उद्देश्य के लिए 80त के अधीन प्रोत्साहन पर विचार किया था । यह अभिनिर्धारित किया गया कि निर्धारिती उक्त प्रोत्साहन का हकदार नहीं है क्योंकि निर्धारिती के कारबार को वित्त कारबार अभिनिर्धारित किया गया था जिसके लिए प्रोत्साहन ग्राह्य नहीं था, यद्यपि **बजाज टेम्पो** (उपर्युक्त) वाले मामले के निबंधनों के अनुसार उदार निर्वचन का सिद्धांत लागू किया गया था ।

18. **हरियाणा राज्य** बनाम **भारती टेलटेक लि.**[2] वाले मामले में कर से छूट का फायदा प्राप्त करने के लिए निर्धारिती की पात्रता एक विवाद्यक था । यह मत व्यक्त किया गया कि जबकि छूट से संबंधित अधिसूचना का निर्वचन उदारतापूर्वक किया जाना चाहिए, फिर भी फायदाग्राही का छूट की परिधि के अंतर्गत आना आवश्यक है और उसकी शर्तों को भी पूरा करता हो । यदि ऐसी शर्तें पूरी नहीं की जाती हैं, तो अधिसूचना के लागू होने का मुद्दा उत्पन्न नहीं होता । **बजाज टेम्पो** (उपर्युक्त) वाले मामले के निर्णय और अन्य निर्णयों में के निर्वचन के सिद्धांत पर निम्नलिखित रूप में विचार किया गया था :–

> "22. हम अपने कर्तव्य को पूरा करने में असफल रह जाएंगे यदि हम श्री जैन की इस दलील पर, भले ही यह असहनीय है, कि छूट प्रदान करने संबंधी किसी उपबंध पर, चाहे यह किसी नियम या अधिसूचना के अधीन हो, उदारतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए । इस संबंध में हम हंसराज गोर्धनदास **बनाम** सीसीई एंड कस्टमस [(ए. आई. आर. 1970 एस. सी. 755, पृ. 759, पैरा 5)] वाले मामले के विनिश्चय को निर्दिष्ट करना उपयोगी होगा, जिसमें निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया है –

[1] (2017) 9 एस. सी. सी. 364 = 391 आई. टी. आर. 1.

[2] (2014) 3 एस. सी. सी. 556.

'...... यह भली भांति स्थिर है कि किसी कर-संबंधी कानून में शास्त्रीय अर्थ के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती है अपितु शब्दों के स्पष्ट अर्थ पर ध्यान दिया जाना चाहिए । संपूर्ण मामला पूर्ण रूप से अधिसूचना की भाषा से शासित है । यदि कर-दाता छूट के स्पष्ट निबंधनों के अंतर्गत आता है तो छूट देने वाले प्राधिकारी के किसी अनुमित आशय का आश्रय लेकर उसे इसके फायदे से इनकार नहीं किया जा सकता है । यदि ऐसा आशय अधिसूचना के शब्दों के अर्थान्वयन से या उनकी आवश्यक विवक्षा द्वारा समझा जा सकता है, तो वहां मामला भिन्न होता है ।'

23. विक्रय-कर आयुक्त **बनाम** इंडस्ट्रियल कोल इंटरप्राइजेज [(1999) 2 एस. सी. सी. 605] वाले मामले में आय-कर आयुक्त **बनाम** स्ट्रा बोर्ड मैन्यूफैक्चरिंग कंपनी लिमिटेड [(1989) 2 (सप्ली.) एस. सी. सी. 529] और बजाज टेम्पो लिमिटेड **बनाम** आय-कर आयुक्त (उपर्युक्त) वाले मामलों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् इस न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि जैसा कि सुपरिचित है, जब एक बार यह पाया जाता है कि उद्यमकर्ता सभी पात्रता मानदंड पूरा करता है तो छूट की अधिसूचना का उदारतापूर्वक अर्थान्वयन किया जाना चाहिए । छूट की अधिसूचना का परिशीलन करने में ऐसी कोई शर्त होने का अर्थ नहीं लगाना चाहिए जब इसमें ऐसी कोई शर्त न हो । यदि कोई उद्यमकर्ता इसके फायदे का हकदार है तो इसके लिए इनकार नहीं किया जाना चाहिए ।

24. इस संदर्भ में तमिलनाडु इलैक्ट्रिसिटी बोर्ड **बनाम** स्टेट्स स्पिनिंग मिल्स लिमिटेड [(2008) 7 एस. सी. सी. 353] वाले मामले के प्रति निर्देश करना उपयोगी होगा । इस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है –

'32. यह बात सत्य हो सकती है कि छूट की अधिसूचना का कठोर अर्थान्वयन किया जाना चाहिए, जैसा कि इस न्यायालय द्वारा नोवापान इंडिया लिमिटेड **बनाम** केंद्रीय उत्पादन और सीमा-शुल्क कलक्टर [(1994) 3 (सप्ली.) एस. सी. सी. 606] वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया है, किंतु यह भी सत्य है कि जब एक बार यह पाया जाता है कि उद्योग छूट की अधिसूचना के फायदे का हकदार है, तो इसका व्यापक

अर्थान्वयन करना होगा टिस्को लिमिटेड **बनाम** झारखंड राज्य [(2005) 4 एस. सी. सी. 272] और आंध्र प्रदेश स्टील रि-रोलिंग मिल **बनाम** केरल राज्य (2007) 2 एस. सी. सी. 725 वाले मामले देखें] । छूट प्रदान करने वाली अधिसूचना को लोक हित में वापस लिया जा सकता है । तथापि, लोक हित क्या है, यह प्रत्येक मामले के तथ्यों पर निर्भर करेगा ।

25. उपर्युक्त नज़ीरों से पूरी तरह स्पष्ट होता है कि कोई ऐसा कानूनी नियम या छूट की अधिसूचना जिससे कतिपय शर्तों के आधार पर निर्धारिती को फायदा प्रदत्त होता है, उसका उदारतापूर्वक अर्थान्वयन किया जाना चाहिए किंतु फायदाग्राही उस नियम या अधिसूचना की परिधि के अंतर्गत आना चाहिए और इसके अतिरिक्त यदि उनमें शर्तों और उनके अतिक्रमण के उपबंध हैं, तब उदार अर्थान्वयन की धारणा उद्‌भूत नहीं होगी । छूट एक अपवाद है इसलिए इसकी प्रकृति और प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए इसका सम्मान किया जाना चाहिए । ऐसे मामले हो सकते हैं जहां उदार निर्वचन या सामंजस्य की बात अनुज्ञेय होगी किंतु प्रस्तुत मामले में नियम स्थिति स्पष्ट है इसलिए यह बात उद्‌भूत नहीं होती ।"

19. **सीमा-शुल्क आयुक्त** बनाम **एम. अम्बालाल एण्ड कंपनी**[1] वाले मामले में इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया गया था, जो निम्नलिखित रूप में है :–

"16. यह स्थिर विधि है कि अधिसूचना को समग्र रूप में पढ़ा जाना चाहिए । यदि अधिसूचना में अधिकथित कोई शर्त पूरी नहीं की जाती है तो पक्षकार उस अधिसूचना के फायदे का हकदार नहीं है । छूटों से संबंधित नियम यह है कि साधारण तौर पर छूटों का निर्वचन कठोरतापूर्वक करना चाहिए किंतु फायदाप्रद छूटों का प्रयोजन प्रोत्साहनकारी या कतिपय क्रिया-कलापों के संवर्धन के कारण उनका निर्वचन उदारतापूर्वक किया जाना चाहिए । यह संयुक्त नियम किसी विशिष्ट निर्णय में बहुत सारे शब्दों में उल्लिखित नहीं है । वास्तव में, अधिकांश निर्णयों में इस बात पर बल दिया गया है कि छूटों का निर्वचन कठोरतापूर्वक किया जाना चाहिए, जबकि इन निर्णयों में से कुछ में इस बात पर जोर दिया गया है कि राजवित्तीय कानूनों में की

---

[1] (2011) 2 एस. सी. सी. 74.

छूटों का निर्वचन यह स्पष्ट धारणा व्यक्त करते हुए कि वे परस्पर विरोधाभासी हैं, उदारतापूर्वक किया जाना चाहिए । सूक्ष्मता से संवीक्षा करने पर यह प्रकट होगा कि इन निर्णयों में कतई कोई वास्तविक विरोधाभास नहीं है । सभी मतों का यह सामंजस्य पूरी तरह स्पष्ट है कि साधारण नियम कठोर निर्वचन का है जबकि फायदाप्रद और प्रोत्साहन-संबंधी छूट के मामले में विशेष नियम उदार निर्वचन का है । दोनों भली-भांति साथ-साथ चलते हैं क्योंकि उनका संबंध दो भिन्न प्रकार की परिस्थितियों से है ।"

20. **झारखंड राज्य** बनाम **अम्बे सीमेंट्स**[1] वाले मामले में यह प्रश्न था कि क्या नव स्थापित औद्योगिक इकाइयों के लिए छूट इस मामले में के निर्धारिती पर लागू है या नहीं । उच्च न्यायालय ने फायदा मंजूर किया हालांकि निर्धारिती इसके लिए अर्हता नहीं रखता था, इसलिए इस न्यायालय ने उच्च न्यायालय के मत को उलट दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि कर से छूट मंजूर करने की शर्तें आज्ञापक हैं और उनके अभाव में छूट मंजूर नहीं की जा सकती । **बजाज टेम्पो** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय को प्रभेदित करते हुए यह मत व्यक्त किया गया :–

> "23. श्री भरुका ने यह भी दलील दी है कि कराधान कानूनों में कर की रियायती दर के उपबंध का उदारतापूर्वक अर्थान्वयन किया जाना चाहिए और उपर्युक्त दलील की बाबत उसने विक्रय-कर आयुक्त **बनाम** इंडस्ट्रीयल कोल इंटरप्राइजेज [(1992) 3 एस. सी. सी. 78] और बजाज टेम्पो लिमिटेड **बनाम** आयकर आयुक्त (उपर्युक्त) वाले मामलों में इस न्यायालय के निर्णय को उद्धृत किया । हम उपर्युक्त दलील को स्वीकार नहीं कर सकते हैं । हमारे मत में, छूट खंड के उपबंधों का कठोरतापूर्वक अर्थान्वयन किया जाना चाहिए और यदि वह शर्त जिसके अधीन छूट मंजूर की जाती है, किसी पश्चात्वर्ती घटना के कारण परिवर्तित हो जाती है तो छूट प्रवृत्त नहीं होगी ।
>
> 24. हमारे मत में, किसी कराधान कानून में किसी अपवाद या छूट देने वाले उपबंध का अर्थान्वयन कठोरतापूर्वक करना चाहिए और न्यायालय औद्योगिक नीति और छूट की अधिसूचनाओं में विहित शर्तों की उपेक्षा करने के लिए स्वतंत्र नहीं है ।

[1] (2005) 1 एस. सी. सी. 368.

25. हमारे मत में, अपेक्षाओं का पालन करने में असफलता प्रत्यर्थी द्वारा फाइल की गई रिट याचिका को खारिज किए जाने योग्य बनाती है । आज्ञापक नियम का कठोरतापूर्वक पालन किया जाना आवश्यक है जबकि किसी निदेशात्मक नियम की दशा में सारभूत अनुपालन पर्याप्त होगा ।

26. जब कभी कानून में यह विहित हो कि कोई विशिष्ट कार्य किसी विशिष्ट रीति में किया जाना है और यह भी अधिकथित हो कि उक्त अपेक्षा का पालन न करने पर गंभीर परिणाम होंगे तो ऐसी अपेक्षा आज्ञापक होगी । निर्वचन का यह मुख्य नियम है कि जहां किसी कानून में यह उपबंधित है कि कोई विशिष्ट कार्य किया जाना चाहिए, तो वह कार्य उसी विहित रीति में किया जाना चाहिए, किसी अन्य रीति में नहीं । निर्वचन का यह स्थिर नियम है कि जहां किसी कानून की प्रकृति शास्तिक है तो उसका कठोरतापूर्वक अर्थान्वयन और अनुसरण किया जाना आवश्यक है और चूंकि प्रस्तुत मामले में पूर्व अनुज्ञा अभिप्राप्त करना आज्ञापक है इसलिए इसके अननुपालन के परिणामस्वरूप प्राप्तिकर्ता, इस मामले में प्रत्यर्थी के पक्ष में की गई रियायत रद्द हो जाएगी ।"

21. उपर्युक्त निर्णयों को देखते हुए, हमें उस स्थिति में कोई अंतर दिखाई नहीं देता जहां निर्धारिती प्रारंभ में पात्र नहीं है, या जहां निर्धारिती यद्यपि प्रारंभ में तो पात्र था किंतु पश्चात्वर्ती निर्धारण वर्षों में पात्रता की अर्हता खो देता है । ऐसी दोनों स्थितियों में निर्वचन का सिद्धांत एक समान बना रहता है ।

22. अतः जब इस सिद्धांत के साथ कोई विरोध नहीं है कि विधि के उद्देश्य को अग्रसर करने के लिए निर्वचन किया जाना चाहिए, चूंकि वर्तमान मामले में निर्धारिती ने लघु औद्योगिक उपक्रम के स्वरूप को प्रतिधारित नहीं किया है, इसलिए वह इस प्रवर्ग के प्रयोजनार्थ प्रोत्साहन के लिए पात्र नहीं है । ऐसे मामले में प्रोत्साहन की अनुज्ञा देना विधि के उद्देश्य के विरुद्ध होगा ।

23. उपर्युक्त कारणों से हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि यदि निर्धारिती किसी विशिष्ट निर्धारण वर्ष में लघु औद्योगिक उपक्रम के रूप में अपनी पात्रता खो देता है तो वह छूट के फायदे का हकदार नहीं है भले ही प्रारंभिक वर्ष में पात्रता पूरी की गई हो ।

तद्नुसार, इस अपील का उपर्युक्त निबंधनों के अनुसार निपटारा किया जाता है ।

2017 की सिविल अपील संख्या 20856
[2016 की विशेष इजाजत याचिका (सिविल) सं. 8331 से उद्भूत]

2017 की सिविल अपील संख्या 20857
[2016 की विशेष इजाजत याचिका (सिविल) सं. 3323 से उद्भूत]

2017 की सिविल अपील संख्या 20855
[2016 की विशेष इजाजत याचिका (सिविल) सं. 148 से उद्भूत]

24. इजाज़त दी जाती है । मुख्य मामले में के निर्णय को देखते हुए इन अपीलों का उन्हीं निबंधनों के अनुसार निपटारा किया जाता है ।

25. निर्धारण अधिकारी उपर्युक्त सिद्धांत को लागू करके अलग-अलग मामलों के तथ्यों के लिए अनुपालन आदेश पारित कर सकेगा ।

अपीलों का निपटारा किया गया ।

जस.

संसद् के अधिनियम

विशेष विवाह अधिनियम, 1954

(1954 का अधिनियम संख्यांक 43)[1]

[9 अक्तूबर, 1954]

कुछ दशाओं में विशेष प्रकार के विवाह का, इस प्रकार के तथा कुछ अन्य विवाहों के रजिस्ट्रीकरण का और विवाह-विच्छेद का उपबन्ध करने के लिए अधिनियम

भारत गणराज्य के पांचवें वर्ष में संसद् द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित हो :–

अध्याय 1
प्रारम्भिक

1. **संक्षिप्त नाम, विस्तार और प्रारम्भ** – (1) यह अधिनियम विशेष विवाह अधिनियम, 1954 कहा जा सकेगा ।

(2) इसका विस्तार जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय संपूर्ण भारत पर है, और यह उन राज्यक्षेत्रों में, जिन पर इस अधिनियम का विस्तार है, अधिवसित भारत के उन नागरिकों को भी लागू है जो [2][जम्मू-कश्मीर राज्य में] है ।

(3) यह उस तारीख[3] को प्रवृत्त होगा जिसे केन्द्रीय सरकार, शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, नियत करे ।

2. **परिभाषाएं** – इस अधिनियम में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो, –

[4]* * * * * *

---

[1] इस अधिनियम का विस्तार, 1963 के विनियम सं. 6 के खण्ड 2 और अनुसूची 1 द्वारा (1-7-1965 से) दादरा और नागर हवेली पर तथा 1963 के विनियम सं. 7 के खण्ड 3 और अनुसूची 1 द्वारा पांडिचेरी पर विस्तारित किया गया ।

[2] 1969 के अधिनियम सं. 33 की धारा 29 द्वारा "उक्त राज्यक्षेत्रों के बाहर" शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1 जनवरी, 1955, भारत का राजपत्र, असाधारण, 1954, भाग II, खण्ड 3, पृ. 2463 की अधिसूचना सं. का. नि. आ. 3606, तारीख 17 दिसम्बर, 1954 देखिए ।

[4] 1969 के अधिनियम सं. 33 की धारा 29 द्वारा खंड (क) का लोप किया गया ।

(ख) "प्रतिषिद्ध कोटि की नातेदारी" – किसी पुरुष और प्रथम अनुसूची के भाग 1 में वर्णित व्यक्तियों में से किसी की तथा किसी स्त्री और उक्त अनुसूची के भाग 2 में वर्णित व्यक्तियों में से किसी की नातेदारी प्रतिषिद्ध कोटि की नातेदारी है ।

स्पष्टीकरण 1 – नातेदारी के अन्तर्गत –

(क) अर्ध या एकोदर रक्त की नातेदारी और पूर्ण रक्त की नातेदारी दोनों हैं ;

(ख) अधर्मज रक्त की नातेदारी और धर्मज रक्त की नातेदारी दोनों हैं ;

(ग) दत्तक नातेदारी और रक्त की नातेदारी दोनों हैं,

और इस अधिनियम में नातेदारी द्योतक सब पदों का तद्नुसार अर्थ किया जाएगा ।

स्पष्टीकरण 2 – "पूर्ण रक्त और अर्ध रक्त" – कोई दो व्यक्ति एक दूसरे से पूर्ण रक्त से सम्बन्धित तब कहे जाते हैं जब वे एक ही पूर्वज से एक ही पत्नी द्वारा अवजनित हो और अर्ध रक्त से सम्बन्धित तब कहे जाते हैं जब वे एक ही पूर्वज से किन्तु उसकी भिन्न पत्नियों द्वारा अवजनित हों ।

स्पष्टीकरण 3 – "एकोदर रक्त"– दो व्यक्ति एक दूसरे से एकोदर रक्त से सम्बन्धित तब कहे जाते हैं जब वे एक ही पूर्वजा से किन्तु भिन्न पतियों द्वारा अवजनित हों ।

स्पष्टीकरण 4 – स्पष्टीकरण 2 और 3 में "पूर्वज" के अन्तर्गत पिता और "पूर्वजा" के अन्तर्गत माता भी है ;

[1]* * * * *

(घ) विवाह अधिकारी के सम्बन्ध में "जिला" से वह क्षेत्र अभिप्रेत है जिसके लिए वह धारा 3 की उपधारा (1) या उपधारा (2) के अधीन उस रूप में नियुक्त किया जाए ;

[2][(ङ) "जिला न्यायालय" से ऐसे किसी क्षेत्र में, जिसके लिए नगर सिविल न्यायालय है, वह न्यायालय और किसी अन्य क्षेत्र में

---

1 1969 के अधिनियम सं. 33 की धारा 29 द्वारा खण्ड (ग) का लोप किया गया ।

2 1976 के अधिनियम सं. 68 की धरा 20 द्वारा (27-5-1976 से) खण्ड (ङ) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

आरम्भिक अधिकारिता का प्रधान सिविल न्यायालय, अभिप्रेत है और इसके अन्तर्गत ऐसा कोई अन्य सिविल न्यायालय, भी है जिसे राज्य सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा इस अधिनियम में दिए गए विषयों के बारे में अधिकारिता रखने वाला विनिर्दिष्ट करे ;]

(च) "विहित" से इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा विहित अभिप्रेत है ;

[1][(छ) किसी संघ राज्यक्षेत्र के सम्बन्ध में "राज्य सरकार" से उसका प्रशासक अभिप्रेत है ।]

3. विवाह अधिकारी – (1) इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए राज्य सरकार, शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, सम्पूर्ण राज्य या उसके किसी भाग के लिए एक या अधिक विवाह अधिकारी नियुक्त कर सकेगी ।

[2][(2) इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए उन राज्यक्षेत्रों में, जिन पर इस अधिनियम का विस्तार है, अधिवसित भारत के ऐसे नागरिकों को, जो जम्मू-कश्मीर राज्य में हों, लागू होने के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार, शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, केन्द्रीय सरकार के ऐसे अधिकारियों को, जिन्हें वह ठीक समझे, उस राज्य या उसके किसी भाग के लिए विवाह अधिकारियों के रूप में विनिर्दिष्ट कर सकेगी ।]

अध्याय 2
विशेष विवाहों का अनुष्ठापन

4. विशेष विवाहों के अनुष्ठापन संबंधी शर्तें – विवाहों के अनुष्ठापन सम्बन्धी किसी अन्य तत्समय प्रवृत्त विधि में किसी बात के होते हुए भी, किन्हीं दो व्यक्तियों का इस अधिनियम के अधीन विवाह अनुष्ठापित किया जा सकेगा यदि उस विवाह के समय निम्नलिखित शर्तें पूरी हो जाती हैं, अर्थात् :–

(क) किसी पक्षकार का पति या पत्नी जीवित नहीं है ;

[3][(ख) दोनों पक्षकारों में से, –

(i) कोई पक्षकार चित्त-विकृति के परिणामस्वरूप विधिमान्य सम्मति देने में असमर्थ नहीं है ; या

---

[1] विधि अनुकूलन (संख्यांक 3) आदेश, 1956 द्वारा खण्ड (छ) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1969 के अधिनियम सं. 33 की धारा 29 द्वारा उपधारा (2) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 21 द्वारा खण्ड (ख) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

(ii) कोई पक्षकार विधिमान्य सम्मति देने में समर्थ होने पर भी इस प्रकार के या इस हद तक मानसिक विकार से पीड़ित नहीं रहा है कि वह विवाह और सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य है ; या

(iii) किसी पक्षकार की उन्मत्तता [1]*** का बार-बार दौरा नहीं पड़ता रहता है ;]

(ग) पुरुष ने इक्कीस वर्ष की आयु और स्त्री ने अठारह वर्ष की आयु प्राप्त कर ली है ;

[2][(घ) पक्षकारों में प्रतिषिद्ध कोटि की नातेदारी नहीं है :

परंतु जहां कम से कम एक पक्षकार को शासित करने वाली रूढ़ि उनमें विवाह अनुज्ञात करे वहां ऐसा विवाह, उनमें प्रतिषिद्ध कोटि की नातेदारी होते हुए भी अनुष्ठापित किया जा सकेगा ; तथा]

[3][(ङ) जहां विवाह जम्मू-कश्मीर राज्य में अनुष्ठापित किया गया है वहां दोनों पक्षकार उन राज्यक्षेत्रों में, जिन पर इस अधिनियम का विस्तार है, अधिवासित भारत के नागरिक हैं ।]

[4][**स्पष्टीकरण** – इस धारा में किसी जनजाति, समुदाय, समूह या कुटुम्ब के किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में "रूढ़ि" से कोई ऐसा नियम अभिप्रेत है जिसे राज्य सरकार उस जनजाति, समुदाय, समूह या कुटुम्ब के सदस्यों को लागू नियम के रूप में, शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, इस निमित्त विनिर्दिष्ट करे :

परन्तु किसी जनजाति, समुदाय, समूह या कुटुम्ब के सदस्यों के सम्बन्ध में ऐसी कोई अधिसूचना तब तक जारी नहीं की जाएगी जब तक राज्य सरकार का यह समाधान न हो जाए कि –

(i) उस नियम का अनुपालन उन सदस्यों में बहुत समय तक लगातार और एकरूपता के साथ होता रहा है ;

(ii) वह नियम निश्चित है और अयुक्तियुक्त या लोकनीति-विरुद्ध नहीं है ; तथा

---

[1] 1999 के अधिनियम सं. 39 की धारा 3 द्वारा (29-12-1999 से) "या मिरगी" शब्दों का लोप किया गया ।

[2] 1963 के अधिनियम सं. 32 की धारा 2 द्वारा खण्ड (घ) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1969 के अधिनियम सं. 33 की धारा 29 द्वारा खण्ड (ङ) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[4] 1963 के अधिनियम सं. 32 की धारा 2 द्वारा स्पष्टीकरण के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

(iii) वह नियम केवल कुटुम्ब को लागू होने की दशा में, उस कुटुम्ब द्वारा उसका अनुपालन बन्द नहीं किया गया है ।]

5. आशयित विवाह की सूचना – जब किसी विवाह का इस अधिनियम के अधीन अनुष्ठापन आशयित हो तब विवाह के पक्षकार द्वितीय अनुसूची में विनिर्दिष्ट प्ररूप में उसकी लिखित सूचना उस जिला के विवाह अधिकारी को देंगे जिसमें विवाह के पक्षकारों में से कम से कम एक ने उस सूचना के दिए जाने की तारीख से ठीक पहले तीस दिन से अन्यून की कालावधि तक निवास किया हो ।

6. विवाह-सूचना पुस्तक और प्रकाशन – (1) विवाह अधिकारी धारा 5 के अधीन दी गई सब सूचनाओं को अपने कार्यालय के अभिलेखों के साथ रखेगा और ऐसी प्रत्येक सूचना की एक सही प्रतिलिपि भी उस प्रयोजन के लिए विहित पुस्तक में, जो विवाह-सूचना पुस्तक कही जाएगी, तत्काल प्रविष्ट करेगा तथा ऐसी पुस्तक उसके निरीक्षण के इच्छुक व्यक्ति द्वारा बिना फीस के, निरीक्षण के लिए सभी उचित समयों पर उपलब्ध रहेगी ।

(2) विवाह अधिकारी प्रत्येक ऐसी सूचना का प्रकाशन उसकी एक प्रतिलिपि अपने कार्यालय के किसी सहज-दृश्य स्थान पर लगवाकर कराएगा ।

(3) जहां आशयित विवाह के पक्षकारों में से कोई उस विवाह अधिकारी के, जिसे धारा 5 के अधीन सूचना दी गई हो, जिले की स्थानीय सीमाओं के भीतर स्थायी रूप से निवास न करता हो वहां विवाह अधिकारी उस सूचना की प्रतिलिपि उस जिले के विवाह अधिकारी को भी भिजवाएगा जिसकी सीमाओं के भीतर ऐसा पक्षकार स्थायी रूप से निवास करता हो और तब वह विवाह अधिकारी उसकी प्रतिलिपि अपने कार्यालय के किसी सहज-दृश्य स्थान पर लगवाएगा ।

7. विवाह के प्रति आक्षेप – (1) धारा 6 की उपधारा (2) के अधीन सूचना के प्रकाशन की तारीख से तीस दिन की समाप्ति के पूर्व कोई व्यक्ति उस विवाह के प्रति इस आधार पर आक्षेप कर सकेगा कि वह धारा 4 में विनिर्दिष्ट किसी एक या अधिक शर्तों का उल्लंघन करेगा ।

(2) उस तारीख से, जब आशयित विवाह की सूचना धारा 6 की उपधारा (2) के अधीन प्रकाशित की गई हो, तीस दिन की समाप्ति के पश्चात् यह विवाह, जब तक उसके प्रति पहले ही उपधारा (1) के अधीन आक्षेप नहीं कर दिया गया हो, अनुष्ठापित किया जा सकेगा ।

(3) आक्षेप की प्रकृति विवाह अधिकारी द्वारा विवाह-सूचना पुस्तक में लेखबद्ध की जाएगी, यदि आवश्यक हो तो आक्षेप करने वाले व्यक्ति को पढ़कर सुनाई और समझायी जाएगी और उस पर उस व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से हस्ताक्षर किए जाएंगे ।

8. आक्षेप के प्राप्त होने पर प्रक्रिया – (1) यदि आशयित विवाह के प्रति धारा 7 के अधीन आक्षेप किया जाता है तो विवाह अधिकारी वह विवाह तब तक अनुष्ठापित न करेगा जब तक वह उस आक्षेप के विषय में जांच न कर ले और उसका समाधान न हो जाए कि वह आक्षेप ऐसा नहीं है कि विवाह अनुष्ठापित न किया जाए या जब तक उस व्यक्ति द्वारा, जिसने आक्षेप किया हो, वह आक्षेप वापस न ले लिया जाए, किन्तु विवाह अधिकारी आक्षेप के विषय से जांच करने और उसका विनिश्चय करने में आक्षेप की तारीख से तीस दिन से अधिक नहीं लगाएगा ।

(2) यदि विवाह अधिकारी आक्षेप को ठीक ठहराता है और उस विवाह को अनुष्ठापित करने से इनकार करता है तो आशयित विवाह का कोई पक्षकार ऐसे इनकार की तारीख से तीस दिन की कालावधि के भीतर उस जिला न्यायालय में अपील कर सकेगा जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर उस विवाह अधिकारी का कार्यालय हो और उस अपील में जिला न्यायालय का विनिश्चय अन्तिम होगा तथा विवाह अधिकारी उस न्यायालय के विनिश्चय के अनुरूप कार्य करेगा ।

9. जांच के बारे में विवाह अधिकारियों की शक्तियां – (1) धारा 8 के अधीन किसी जांच के प्रयोजन के लिए विवाह अधिकारी को निम्नलिखित विषयों, अर्थात् :–

(क) साक्षियों को समन करने और उनको हाजिर कराने तथा शपथ पर उनकी परीक्षा करने ;

(ख) प्रकटीकरण और निरीक्षण ;

(ग) दस्तावेजें पेश करने के लिए विवश करने ;

(घ) शपथ-पत्रों पर साक्ष्य लेने ; तथा

(ङ) साक्षियों की परीक्षा के लिए कमीशन निकालने,

की बाबत, वही शक्तियां होंगी जो वाद का विचारण करते समय सिविल न्यायालय में सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) के अधीन निहित होती हैं और विवाह अधिकारी के समक्ष कोई कार्यवाही भारतीय

दण्ड संहिता (1860 का 45) की धारा 193 के अर्थ में न्यायिक कार्यवाही समझी जाएगी ।

स्पष्टीकरण – विवाह अधिकारी की अधिकारिता की स्थानीय सीमाएं ही किसी व्यक्ति को साक्ष्य देने के लिए हाजिर कराने के प्रयोजन के लिए उस अधिकारी के जिले की स्थानीय सीमाएं होंगी ।

(2) यदि विवाह अधिकारी को यह प्रतीत होता है कि आशयित विवाह के प्रति किया गया आक्षेप उचित नहीं है और सद्भावपूर्वक नहीं किया गया है तो वह आक्षेप करने वाले व्यक्ति पर प्रतिकर के रूप में खर्चा अधिरोपित कर सकेगा, जो एक हजार रुपए से अधिक न होगा, और संपूर्ण राशि या उसका कोई भाग आशयित विवाह के पक्षकारों को दिलवा सकेगा तथा खर्चे के बारे में इस प्रकार दिया गया कोई आदेश उसी रीति से निष्पादित किया जा सकेगा जिससे उस जिला न्यायालय द्वारा पारित डिक्री की जाती हो जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर विवाह अधिकारी का कार्यालय हो ।

10. बाहर के विवाह अधिकारी को आक्षेप प्राप्त होने पर प्रक्रिया – जहां [1][जम्मू-कश्मीर राज्य में आशयित विवाह के बारे में] कोई आक्षेप उस राज्य में विवाह अधिकारी से धारा 7 के अधीन किया जाए और विवाह अधिकारी के मन में उस विषय में ऐसी जांच करने के पश्चात्, जैसी वह ठीक समझे, उस बाबत शंका बनी रहे वहां वह विवाह अनुष्ठापित नहीं करेगा, किन्तु उस विषय में ऐसे कथन के साथ जैसा वह ठीक समझे अभिलेख केन्द्रीय सरकार को भेजेगा और केन्द्रीय सरकार उस विषय में ऐसी जांच करने के पश्चात् और ऐसी सलाह अभिप्राप्त करने के पश्चात् जैसी वह ठीक समझे उस पर अपना विनिश्चय लिखित रूप में विवाह अधिकारी को देगी, जो केन्द्रीय सरकार के विनिश्चय के अनुरूप कार्य करेगा ।

11. पक्षकारों और साक्षियों द्वारा घोषणा – विवाह का अनुष्ठापन होने के पूर्व पक्षकार और तीन साक्षी इस अधिनियम की तृतीय अनुसूची में विनिर्दिष्ट प्ररूप में घोषणा पर हस्ताक्षर विवाह अधिकारी की उपस्थिति में करेंगे तथा उस घोषणा पर विवाह अधिकारी प्रतिहस्ताक्षर करेगा ।

12. अनुष्ठापन का स्थान और रूप – (1) विवाह, विवाह अधिकारी के कार्यालय में या वहां से उचित दूरी के भीतर ऐसे अन्य स्थान पर जैसा

---

[1] 1969 के अधिनियम सं. 33 की धारा 29 द्वारा कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

दोनों पक्षकार चाहें, और ऐसी शर्तों पर तथा ऐसी अतिरिक्त फीस देने पर, जिन्हें विहित किया जाए, अनुष्ठापित किया जा सकेगा ।

(2) विवाह किसी भी रूप में, जिसे पक्षकार अपनाना पसन्द करें, अनुष्ठापित किया जा सकेगा :

परन्तु जब तक प्रत्येक पक्षकार दूसरे पक्षकार से विवाह अधिकारी और तीन साक्षियों की उपस्थिति में तथा ऐसी भाषा में जिसे पक्षकार समझ सकें यह न कहे कि "मैं (क) तुम (ख) को अपनी विधिपूर्ण पत्नी स्वीकार करता हूं (या अपना विधिपूर्ण पति स्वीकार करती हूं)" तब तक वह पूर्ण और पक्षकारों पर आबद्धकर न होगा ।

13. विवाह का प्रमाणपत्र – (1) जब विवाह अनुष्ठापित हो जाए तब विवाह अधिकारी चतुर्थ अनुसूची में विनिर्दिष्ट प्ररूप में उसका प्रमाणपत्र उस प्रयोजन के लिए अपने द्वारा रखी गई पुस्तक में प्रविष्ट करेगा, जो विवाह-प्रमाणपत्र पुस्तक कही जाएगी, और ऐसे प्रमाणपत्र पर विवाह के पक्षकार और तीनों साक्षी हस्ताक्षर करेंगे ।

(2) विवाह-प्रमाणपत्र पुस्तक में विवाह अधिकारी द्वारा प्रमाणपत्र प्रविष्ट किए जाने पर वह प्रमाणपत्र इस तथ्य का निश्चायक साक्ष्य समझा जाएगा कि इस अधिनियम के अधीन विवाह अनुष्ठापित हो गया है तथा साक्षियों के हस्ताक्षरों के सम्बन्ध में सब प्ररूपिताओं का अनुपालन हो गया है ।

14. तीन मास के भीतर विवाह का अनुष्ठापन न होने पर नई सूचना का दिया जाना – जब किसी विवाह का अनुष्ठापन उस तारीख से, जब उसकी सूचना विवाह अधिकारी को धारा 5 द्वारा अपेक्षित रूप में दी गई हो, तीन कलेंडर मास के भीतर अथवा जहां धारा 8 की उपधारा (2) के अधीन अपील फाइल की गई हो वहां उस अपील पर जिला न्यायालय के विनिश्चय की तारीख से तीन मास के भीतर, अथवा जहां धारा 10 के अधीन किसी मामले का अभिलेख केन्द्रीय सरकार को भेजा गया हो वहां केन्द्रीय सरकार के विनिश्चय की तारीख से तीन मास के भीतर, नहीं होता, तब वह सूचना और उससे पैदा होने वाली सब अन्य कार्यवाहियां व्यपगत हुई समझी जाएंगी और जब तक इस अधिनियम में दी गई रीति से नई सूचना नहीं दी जाती, कोई विवाह अधिकारी उस विवाह का अनुष्ठापन नहीं करेगा ।

अध्याय 3
अन्य रूपों में अनुष्ठापित विवाहों का रजिस्ट्रीकरण

15. अन्य रूपों में अनुष्ठापित विवाहों का रजिस्ट्रीकरण – [1]विशेष विवाह अधिनियम, 1872 (1872 का 3) के अधीन या इस अधिनियम के अधीन अनुष्ठापित विवाह से भिन्न विवाह, चाहे वह इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व अनुष्ठापित किया गया हो या उसके पश्चात् उन राज्यक्षेत्रों में, जिन पर इस अधिनियम का विस्तार है विवाह अधिकारी द्वारा इस अध्याय के अधीन रजिस्ट्रीकृत किया जा सकेगा यदि निम्नलिखित शर्तें पूरी हो जाएं, अर्थात् :–

(क) पक्षकारों का परस्पर विवाह हो चुका है और वे तब से बराबर पति-पत्नी के रूप में साथ रह रहे हैं ;

(ख) किसी पक्षकार का एक से अधिक पति या पत्नी रजिस्ट्रीकरण के समय जीवित नहीं है ;

(ग) कोई पक्षकार रजिस्ट्रीकरण के समय जड़ या पागल नहीं है ;

(घ) पक्षकार रजिस्ट्रीकरण के समय 21 वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके हैं ;

(ङ) पक्षकारों में प्रतिषिद्ध कोटि की नातेदारी नहीं है :

परंतु इस अधिनियम के प्रारम्भ के पूर्व अनुष्ठापित विवाह की दशा में यह शर्त पक्षकारों में से प्रत्येक को शासित करने वाली किसी ऐसी विधि के या विधि का बल रखने वाली रूढ़ि या प्रथा के अध्यधीन होगी जिससे उन दोनों में विवाह अनुज्ञात हो ; तथा

(च) पत्रकार उस विवाह अधिकारी के जिले के भीतर उस तारीख के ठीक पहले, जब विवाह के रजिस्ट्रीकरण के लिए आवेदन विवाह अधिकारी से किया गया हो, कम से कम तीस दिन की कालावधि तक निवास करते रहे हैं ।

16. रजिस्ट्रीकरण के लिए प्रक्रिया – इस अध्याय के अधीन विवाह के रजिस्ट्रीकरण के लिए विवाह के दोनों पक्षकारों द्वारा हस्ताक्षरित आवेदन की प्राप्ति पर विवाह अधिकारी उसकी लोक सूचना ऐसी रीति से देगा जैसी विहित की जाए और आक्षेपों के लिए तीस दिन की कालावधि

---

[1] इस अधिनियम की धारा 51 द्वारा निरसित ।

अनुज्ञात करने के पश्चात् तथा उस कालावधि के भीतर प्राप्त किसी आक्षेप को सुनने के पश्चात्, यदि उसका समाधान हो जाए कि धारा 15 में वर्णित सब शर्तें पूरी हो जाती हैं, तो वह विवाह-प्रमाणपत्र पुस्तक में विवाह का प्रमाणपत्र, उस प्ररूप में जो पंचम अनुसूची में विनिर्दिष्ट है प्रविष्ट करेगा और ऐसे प्रमाणपत्र पर विवाह के पक्षकार और तीनों साक्षी हस्ताक्षर करेंगे ।

17. धारा 16 के अधीन आदेशों से अपीलें – विवाह को इस अध्याय के अधीन रजिस्ट्रीकृत करने से इनकार करने के विवाह अधिकारी के किसी आदेश से व्यथित कोई व्यक्ति, उस आदेश की तारीख से तीस दिन के भीतर, उस आदेश के विरुद्ध अपील उस जिला न्यायालय में कर सकेगा जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर उस विवाह अधिकारी का कार्यालय हो और उस अपील पर उस जिला न्यायालय का विनिश्चय अन्तिम होगा तथा वह विवाह अधिकारी, जिससे आवेदन किया गया था, ऐसे विनिश्चय के अनुरूप कार्य करेगा ।

18. इस अध्याय के अधीन विवाह के रजिस्ट्रीकरण का प्रभाव – धारा 24 की उपधारा (2) के उपबन्धों के अध्यधीन रहते हुए, जहां विवाह का प्रमाणपत्र, विवाह-प्रमाणपत्र पुस्तक में इस अध्याय के अधीन अन्तिम रूप से प्रविष्ट कर लिया गया हो वहां उस विवाह के बारे में ऐसी प्रविष्टि की तारीख से यह समझा जाएगा कि वह इस अधिनियम के अधीन अनुष्ठापित विवाह है और विवाह की तारीख के पश्चात् पैदा हुई सब संतान के बारे में (जिनके नाम भी विवाह-प्रमाणपत्र पुस्तक में दर्ज किए जाएंगे) सब विषयों में यह समझा जाएगा कि वे अपने माता-पिता की धर्मज संतान हैं और सदैव रही हैं :

परंतु इस धारा की किसी बात का यह अर्थ नहीं लिया जाएगा कि वह किसी ऐसी संतान को अपने माता-पिता से भिन्न किसी व्यक्ति की सम्पत्ति में या उस पर कोई अधिकार किसी ऐसी दशा में प्रदान करती है जब ऐसी संतान ऐसा कोई अधिकार रखने या अर्जित करने के लिए इस अधिनियम के पारित न होने की दशा में इस कारण अयोग्य होती कि वह अपने माता-पिता की धर्मज संतान नहीं है ।

अध्याय 4
इस अधिनियम के अधीन विवाह के परिणाम

19. अविभक्त कुटुम्ब के सदस्य पर विवाह का प्रभाव – अविभक्त कुटुम्ब के ऐसे सदस्य के, जो हिन्दू, बौद्ध, सिख या जैन धर्म को मानता

हो, इस अधिनियम के अधीन अनुष्ठापित विवाह के बारे में यह समझा जाएगा कि वह उसे उस कुटुम्ब से पृथक् कर देता है ।

20. अधिकारों और निर्योग्यताओं का अधिनियम द्वारा प्रभावित न होना – धारा 19 के उपबन्धों के अध्यधीन रहते हुए, कोई व्यक्ति, जिसका विवाह इस अधिनियम के अधीन अनुष्ठापित हो, किसी संपत्ति पर उत्तराधिकार के बारे में वही अधिकार रखेगा और उन्हीं निर्योग्यताओं के अध्यधीन होगा जो वह व्यक्ति रखता या जिनके अध्यधीन वह व्यक्ति होता जिसे जाति निर्योग्यता निवारण अधिनियम, 1850 (1850 का 21) लागू होता ।

21. अधिनियम के अधीन विवाहित पक्षकारों की संपत्ति का उत्तराधिकार – भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 (1925 का 39) में कुछ समुदायों के सदस्यों को उसके लागू होने के सम्बन्ध में किन्हीं निर्बन्धनों के होते हुए भी, किसी ऐसे व्यक्ति की सम्पत्ति का, जिसका विवाह इस अधिनियम के अधीन अनुष्ठापित हुआ हो, और ऐसे विवाह की संतान की सम्पत्ति का उत्तराधिकार, उक्त अधिनियम के उपबन्धों द्वारा विनियमित होगा और वह अधिनियम इस धारा के प्रयोजनों के लिए इस प्रकार प्रभावी होगा मानो भाग 5 के अध्याय 3 (पारसी निर्वसीयतों के लिए विशेष नियम) का उससे लोप कर दिया गया हो ।

[1][**21क. कतिपय मामलों में विशेष उपबन्ध** – जहां किसी ऐसे व्यक्ति का, जो हिन्दू, बौद्ध, सिख या जैन धर्मावलम्बी है, विवाह इस अधिनियम के अधीन किसी ऐसे व्यक्ति के साथ अनुष्ठापित होता है, जो हिन्दू, बौद्ध, सिख या जैन धर्मावलम्बी है, वहां धारा 19 और धारा 21 लागू नहीं होगी और धारा 20 का वह भाग भी लागू नहीं होगा जिससे अयोग्यता सृजित होती है ।]

अध्याय 5
दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन और न्यायिक पृथक्करण

22. दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन – जब पति या पत्नी ने अपने को दूसरे के साहचर्य से उचित कारण के बिना अलग कर लिया हो तब व्यथित पक्षकार दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए जिला न्यायालय में आवेदन, अर्जी द्वारा कर सकेगा और न्यायालय उस अर्जी में किए गए कथनों की सत्यता के बारे में तथा इस बारे में कि आवेदन को मंजूर न

---

[1] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 22 द्वारा (27-5-1976 से) अन्तःस्थापित ।

करने का कोई वैध आधार नहीं है, अपना समाधान हो जाने पर तद्नुसार दाम्पत्य अधिकारों की प्रत्यास्थापन डिक्री कर सकेगा ।

[1][**स्पष्टीकरण** – जहां यह प्रश्न उठता है कि क्या साहचर्य से अलग होने के लिए उचित कारण है वहां उचित कारण साबित करने का भार उस व्यक्ति पर होगा जो साहचर्य से अलग हुआ है ।]

23. न्यायिक पृथक्करण – (1) न्यायिक पृथक्करण के लिए अर्जी पति या पत्नी द्वारा, –

(क) [2][धारा 27 की उपधारा (1) [3][और उपधारा (1क)] में] विनिर्दिष्ट आधारों में से किसी आधार पर, जिस पर विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी पेश की जा सकती हो ; अथवा

(ख) दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की डिक्री का अनुपालन करने में असफलता के आधार पर,

जिला न्यायालय में पेश की जा सकेगी और न्यायालय उस अर्जी में किए गए कथनों की सत्यता के बारे में तथा इस बारे में कि आवेदन को मंजूर न करने का कोई वैध आधार नहीं है, अपना समाधान हो जाने पर तद्नुसार न्यायिक पृथक्करण डिक्री कर सकेगा ।

(2) जहां न्यायालय न्यायिक पृथक्करण की डिक्री दे वहां अर्जीदार प्रत्यर्थी के साथ सहवास करने के लिए बाध्य नहीं होगा किन्तु किसी पक्षकार के अर्जी द्वारा आवेदन करने पर तथा उस अर्जी में किए गए कथनों की सत्यता के बारे में अपना समाधान हो जाने पर वह डिक्री को, जब वह ऐसा करना न्यायसंगत और उचित समझे, विखंडित कर सकेगा ।

अध्याय 6

विवाह की अकृतता और विवाह-विच्छेद

24. शून्य विवाह – (1) इस अधिनियम के अधीन अनुष्ठापित विवाह अकृत और शून्य होगा [4][और विवाह के किसी पक्षकार द्वारा दूसरे पक्षकार के विरुद्ध पेश की गई अर्जी पर] अकृतता की डिक्री द्वारा [4][ऐसा घोषित किया जा सकेगा,] यदि –

---

[1] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 23 द्वारा जोड़ा गया ।

[2] 1970 के अधिनियम सं. 29 की धारा 2 द्वारा कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 24 द्वारा अन्तःस्थापित ।

[4] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 25 द्वारा कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

(i) धारा 4 के खण्ड (क), (ख), (ग) और (घ) में विनिर्दिष्ट शर्तों में से कोई पूरी न की गई हो, अथवा

(ii) प्रत्यर्थी विवाह के समय और वाद संस्थित किए जाने के समय नपुंसक रहा हो ।

(2) इस धारा की कोई बात किसी ऐसे विवाह को लागू न होगी जिसके बारे में धारा 18 के अर्थ में यह समझा जाए कि वह इस अधिनियम के अधीन अनुष्ठापित किया गया, किन्तु ऐसे किसी विवाह का अध्याय 3 के अधीन रजिस्ट्रीकरण, यदि वह धारा 15 के खण्ड (क) से खण्ड (ङ) तक में विनिर्दिष्ट शर्तों में से किसी के उल्लंघन में किया गया हो तो, प्रभावहीन घोषित किया जा सकेगा :

परंतु ऐसी घोषणा उस दशा में नहीं की जाएगी जब धारा 17 के अधीन अपील की गई हो और जिला न्यायालय का विनिश्चय अन्तिम हो गया हो ।

25. शून्यकरणीय विवाह – इस अधिनियम के अधीन अनुष्ठापित विवाह शून्यकरणीय होगा और अकृतता की डिक्री द्वारा बातिल किया जा सकेगा यदि –

(i) प्रत्यर्थी के विवाहोत्तर संभोग से जानबूझकर इनकार के कारण विवाहोत्तर संभोग नहीं हो पाया हो ; अथवा

(ii) प्रत्यर्थी विवाह के समय अर्जीदार से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा गर्भवती थी ; अथवा

(iii) विवाह के लिए किसी पक्षकार की सम्मति भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 (1872 का 9) में यथा परिभाषित प्रपीड़न या कपट द्वारा अभिप्राप्त की गई हो :

परंतु खण्ड (ii) में विनिर्दिष्ट दशा में न्यायालय तब तक डिक्री नहीं देगा जब तक उसका यह समाधान न हो जाए कि –

(क) अर्जीदार अभिकथित तथ्यों से विवाह के समय अनभिज्ञ था ;

(ख) कार्यवाही विवाह की तारीख से एक वर्ष के भीतर संस्थित कर दी गई थी ; तथा

(ग) अर्जीदार की सम्मति से वैवाहिक संभोग डिक्री के

लिए आधारों के अस्तित्व का पता अर्जीदार को चल जाने के समय से नहीं हुआ है :

परंतु यह और कि खण्ड (iii) में विनिर्दिष्ट दशा में न्यायालय डिक्री न देगा यदि –

(क) कार्यवाही, यथास्थिति, प्रपीड़न के बन्द हो जाने या कपट का पता चलने के पश्चात् एक वर्ष के भीतर संस्थित न कर दी गई हो ; अथवा

(ख) अर्जीदार, यथास्थिति, प्रपीड़न बन्द हो जाने या कपट का पता चलने के पश्चात् अपनी स्वतन्त्र सम्मति से विवाह के दूसरे पक्षकार के साथ पति या पत्नी के रूप में रहा या रही हो ।

[1][**26. शून्य और शून्यकरणीय विवाह की संतान की धर्मजता** – (1) इस बात के होते हुए भी कि विवाह धारा 24 के अधीन अकृत और शून्य है, ऐसे विवाह की कोई संतान धर्मज होगी, जो विवाह के विधिमान्य होने की दशा में धर्मज होती, चाहे ऐसी सन्तान का जन्म विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 (1976 का 68) के प्रारम्भ से पूर्व या पश्चात् हुआ हो और चाहे उस विवाह के सम्बन्ध में अकृतता की डिक्री इस अधिनियम के अधीन मंजूर की गई हो या नहीं और चाहे वह विवाह इस अधिनियम के अधीन अर्जी से भिन्न आधार पर शून्य अभिनिर्धारित किया गया हो या नहीं ।

(2) जहां धारा 25 के अधीन शून्यकरणीय विवाह के संबंध में अकृतता की डिक्री मंजूर की जाती है वहां डिक्री की जाने के पूर्व जनित या गर्भाहित ऐसी कोई संतान, जो यदि विवाह डिक्री की तारीख को अकृत किए जाने के बजाय विघटित कर दिया गया होता तो विवाह के पक्षकारों की धर्मज संतान होती, अकृतता की डिक्री होते हुए भी उनकी धर्मज संतान समझी जाएगी ।

(3) उपधारा (1) या उपधारा (2) की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह ऐसे विवाह की किसी संतान को, जो अकृत और शून्य है या जिसे धारा 25 के अधीन अकृतता की डिक्री द्वारा अकृत किया गया है, उसके माता-पिता से भिन्न किसी व्यक्ति की संपत्ति में या संपत्ति के लिए कोई अधिकार किसी ऐसी दशा में प्रदान करती है जिसमें कि यदि

---

[1] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 26 द्वारा (27-5-1976 से) धारा 26 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

यह अधिनियम पारित न किया गया होता तो वह संतान अपने माता-पिता की धर्मज संतान न होने के कारण ऐसा कोई अधिकार रखने या अर्जित करने में असमर्थ होती ।]

27. विवाह-विच्छेद – [1][(1)] इस अधिनियम के उपबंधों और तद्धीन बनाए गए नियमों के अध्यधीन रहते हुए विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी जिला न्यायालय में पति या पत्नी द्वारा इस आधार पर पेश की जा सकेगी कि –

[2][(क) प्रत्यर्थी ने विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् अपने पति या अपनी पत्नी से भिन्न किसी व्यक्ति के साथ स्वेच्छया मैथुन किया है ; अथवा

(ख) प्रत्यर्थी ने अर्जी के पेश किए जाने के ठीक पहले कम से कम दो वर्ष की निरन्तर कालावधि भर अर्जीदार को अभित्यक्त रखा है ; अथवा]

(ग) प्रत्यर्थी भारतीय दण्ड संहिता (1860 का 45) में यथा परिभाषित अपराध के लिए सात वर्ष या उससे अधिक के कारावास का दण्ड भोग रहा है ;

[3]* * * * * * * *

(घ) प्रत्यर्थी ने विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् अर्जीदार से क्रूरता का व्यवहार किया है ; अथवा

[4][(ङ) प्रत्यर्थी असाध्य रूप से विकृत-चित्त रहा है अथवा निरन्तर या आंतरायिक रूप से इस प्रकार के और इस हद तक मानसिक विकार से पीड़ित रहा है कि अर्ज़ीदार से युक्तियुक्त रूप से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह प्रत्यर्थी के साथ रहे ।

स्पष्टीकरण – इस खण्ड (क) में, –

"मानसिक विकार" पद से मानसिक बीमारी, मस्तिष्क का संरोध या अपूर्ण विकास, मनोविकृति या मस्तिष्क का कोई अन्य

---

[1] 1970 के अधिनियम सं. 29 की धारा 3 द्वारा धारा 27 को उसकी उपधारा (1) के रूप में पुन:संख्यांकित किया गया ।

[2] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 27 द्वारा खण्ड (क) और खण्ड (ख) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 27 द्वारा परंतुक का लोप किया गया ।

[4] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 27 द्वारा (27-5-1976 से) खण्ड (ङ) और खण्ड (च) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

विकार या निःशक्तता अभिप्रेत है और इसके अन्तर्गत विखंडित मनस्कता है ;

(ख) "मनोविकृति" पद से मस्तिष्क का दीर्घ स्थायी विकार या निःशक्तता (चाहे इसमें बुद्धि की असामान्यता हो या नहीं) अभिप्रेत है जिसके परिणामस्वरूप प्रत्यर्थी का आचरण असामान्य रूप से आक्रामक या गंभीर रूप से अनुत्तरदायी हो जाता है और चाहे उसके लिए चिकित्सीय उपचार अपेक्षित हो या नहीं अथवा ऐसा उपचार किया जा सकता हो या नहीं ; अथवा

(च) प्रत्यर्थी संचारी रूप के रतिज रोग से पीड़ित रहा है ; अथवा]

(छ) [1]**** प्रत्यर्थी कुष्ठ से पीड़ित रहा है जो रोग उसे अर्जीदार से नहीं लगा था ; अथवा

(ज) प्रत्यर्थी के बारे में सात वर्ष या उससे अधिक की कालावधि में उन व्यक्तियों द्वारा, जिन्होंने प्रत्यर्थी के बारे में, यदि वह जीवित होता तो, स्वभाविकतया सुना होता, यह नहीं सुना गया है कि वह जीवित है ।][2]* * *

[3]* * * * * * * *

[4][**स्पष्टीकरण** – इस उपधारा में "अभित्यजन" पद से विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा अर्जीदार का ऐसा अभित्यजन अभिप्रेत है जो, उचित हेतुक के बिना और ऐसे पक्षकार की सम्मति के बिना या इच्छा के विरुद्ध हो और इसके अन्तर्गत विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा अर्जीदार की जानबूझकर उपेक्षा करना भी है और इस पद के व्याकरणिक रूपभेदों तथा सजातीय पदों के अर्थ तद्नुसार लगाए जाएंगे ;]

[5]* * * * * * * *

---

[1] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 27 द्वारा (27-5-1976 से) कुछ शब्दों का लोप किया गया ।

[2] 1970 के अधिनियम सं. 29 की धारा 3 द्वारा "या" शब्द का लोप किया गया ।

[3] 1970 के अधिनियम सं. 29 की धारा 3 द्वारा खण्ड (झ) और खण्ड (ञ) का लोप किया गया ।

[4] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 27 द्वारा (27-5-1976 से) अंतःस्थापित ।

[5] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 27 द्वारा (27-5-1976 से) कतिपय शब्दों का लोप किया गया ।

[1][(1क) पत्नी भी विवाह-विच्छेद के लिए निम्नलिखित आधार पर जिला न्यायालय में अर्जी पेश कर सकेगी –

(i) कि उसका पति विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् बलात्कार, गुदा-मैथुन या पशुगमन का दोषी हुआ है ;

(ii) कि हिन्दू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 (1956 का 78) की धारा 18 के अधीन वाद में या दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) की धारा 125 के अधीन [या दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 (1898 का 5) की तत्समान धारा 488 के अधीन] कार्यवाही में, पत्नी को भरण-पोषण दिलवाने के लिए, पति के विरुद्ध, यथास्थिति, डिक्री या आदेश इस बात के होते हुए भी पारित किया गया है कि वह अलग रहती थी और ऐसी डिक्री या आदेश के पारित किए जाने के समय से एक वर्ष या ऊपर की कालावधि भर उन पक्षकारों के बीच सहवास का पुनरारंभ नहीं हुआ है ।]

[2][(2) इस अधिनियम के उपबंधों और तद्धीन बनाए गए नियमों के अध्यधीन रहते हुए, विवाह का, जो चाहे विशेष विवाह (संशोधन) अधिनियम, 1970 (1970 का 29) के प्रारम्भ के पूर्व अनुष्ठापित किया गया हो या, उसके पश्चात् कोई पक्षकार विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी जिला न्यायालय में इस आधार पर पेश कर सकेगा कि –

(i) ऐसी कार्यवाही में, जिसके वे पक्षकार थे, न्यायिक पृथक्करण की डिक्री पारित किए जाने के पश्चात् एक वर्ष या उससे अधिक की कालावधि तक विवाह के पक्षकारों के बीच सहवास का पुनरारंभ नहीं हुआ है, अथवा

(ii) ऐसी कार्यवाही में जिसके वे पक्षकार थे, दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए डिक्री पारित किए जाने के पश्चात् एक वर्ष या उससे अधिक की कालावधि तक विवाह के पक्षकारों के बीच दांपत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन नहीं हुआ है ।]

[3][**27क. विवाह-विच्छेद की कार्यवाहियों में वैकल्पिक अनुतोष** – इस अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही में विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा

---

[1] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 27 द्वारा (27-5-1976 से) अंतःस्थापित ।

[2] 1970 के अधिनियम सं. 29 की धारा 3 द्वारा अंतःस्थापित ।

[3] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 28 द्वारा (27-5-1976 से) अंतः स्थापित ।

विवाह के विघटन के लिए अर्जी पर, उस दशा को छोड़कर जिसमें अर्जी धारा 27 की उपधारा (1) के खण्ड (ज) में वर्णित आधार पर है, यदि न्यायालय मामले की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह न्यायसंगत समझता है तो, वह विवाह-विच्छेद की डिक्री के बजाय न्यायिक-पृथक्करण के लिए डिक्री पारित कर सकेगा ।]

28. पारस्परिक सम्मति से विवाह-विच्छेद – (1) इस अधिनियम के उपबंधों और तद्धीन बनाए गए नियमों के अध्यधीन रहते हुए, दोनों पक्षकार मिलकर विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी जिला न्यायालय में इस आधार पर पेश कर सकेंगे कि वे एक वर्ष या उसके अधिक से अलग-अलग रह रहे हैं और वे एक साथ नहीं रह सके हैं तथा वे इस बात के लिए परस्पर सहमत हो गए हैं कि विवाह विघटित कर देना चाहिए ।

(2) [1][उपधारा (1) में विनिर्दिष्ट अर्जी के पेश किए जाने की तारीख से छह मास के पश्चात् और अठारह मास के भीतर दोनों पक्षकारों द्वारा किए गए प्रस्ताव पर] यदि इस बीच में अर्जी वापस न ले ली गई हो तो, जिला न्यायालय पक्षकारों को सुनने के पश्चात् और ऐसी जांच, जैसी वह ठीक समझे, करने के पश्चात् अपना यह समाधान कर लेने पर कि विवाह इस अधिनियम के अधीन अनुष्ठापित हुआ है और अर्जी में किए गए प्राक्कथन सही हैं, यह घोषणा करने वाली डिक्री पारित करेगा कि विवाह डिक्री की तारीख से विघटित हो जाएगा ।

29. विवाह के पश्चात् प्रथम तीन वर्षों के दौरान विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी देने पर निर्बंधन – (1) विवाह-विच्छेद के लिए कोई अर्जी जिला न्यायालय में तब तक पेश न की जाएगी [2][जब तक अर्जी पेश किए जाने की तारीख तक उस तारीख से एक वर्ष व्यतीत न हो गया हो] जब विवाह का प्रमाणपत्र विवाह-प्रमाणपत्र पुस्तक में प्रविष्ट किया गया था :

परंतु जिला न्यायालय अपने से आवेदन किए जाने पर कोई अर्जी [2][एक वर्ष व्यतीत होने से पहले] पेश करने की अनुज्ञा इस आधार पर दे सकेगा कि वह मामला अर्जीदार द्वारा असाधारण कष्ट भोगे जाने का या प्रत्यर्थी की असाधारण दुराचारिता का है ; किन्तु यदि जिला न्यायालय को अर्जी की सुनवाई से यह प्रतीत हो कि अर्जीदार ने अर्जी पेश करने की

---

[1] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 29 द्वारा (27-5-1976 से) कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 30 द्वारा कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

इजाजत किसी दुर्व्यपदेशन द्वारा या मामले की प्रकृति को छिपाने द्वारा अभिप्राप्त की थी तो जिला न्यायालय डिक्री देने की दशा में इस शर्त के अध्यधीन ऐसा कर सकेगा कि डिक्री तब तक प्रभावी न होगी जब तक विवाह की तारीख से [1][एक वर्ष का अवसान] न हो जाए, अथवा उस अर्जी को, किसी अन्य ऐसी अर्जी पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, खारिज कर सकेगा जो [1][उक्त एक वर्ष के अवसान] के पश्चात् उन्हीं या सारतः उन्हीं तथ्यों पर दी जाए जो ऐसे खारिज की गई अर्जी के समर्थन में साबित किए गए ।

(2) विवाह की तारीख से [1][एक वर्ष के अवसान] के पहले विवाह-विच्छेद की अर्जी पेश करने की इजाजत के लिए इस धारा के अधीन आवेदन का निपटारा करने में जिला न्यायालय उस विवाह से उत्पन्न किसी संतान के हितों का तथा इस बात का ध्यान रखेगा कि क्या पक्षकारों के बीच [2][उक्त एक वर्ष] के अवसान के पहले पुनर्मिलाप की कोई उचित अधिसंभाव्यता है ।

30. विच्छिन्न विवाह व्यक्तियों का पुनर्विवाह – जब विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा विवाह विघटित कर दिया गया हो और या तो डिक्री के विरुद्ध अपील करने का कोई अधिकार न हो या अपील का ऐसा अधिकार होने की दशा में अपील करने के समय का अवसान अपील पेश किए गए बिना हो गया हो या अपील पेश की गई हो किन्तु खारिज कर दी गई हो, [3]*** विवाह का कोई पक्षकार पुन: विवाह कर सकेगा ।

अध्याय 7
अधिकारिता और प्रक्रिया

31. वह न्यायालय जिसमें अर्जी दी जानी चाहिए – [4][(1)] अध्याय 5 या अध्याय 6 के अधीन प्रत्येक अर्जी उस जिला न्यायालय में पेश की जाएगी जिसकी आरम्भिक सिविल अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के अन्दर –

(i) विवाह का अनुष्ठापन हुआ था ; या

---

[1] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 30 द्वारा कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 29 द्वारा (27-5-1976 से) कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 31 द्वारा कुछ शब्दों का लोप किया गया ।

[4] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 32 द्वारा उपधारा (1) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

(ii) प्रत्यर्थी, अर्जी के पेश किए जाने के समय, निवास करता है ; या

(iii) विवाह के पक्षकारों ने अंतिम बार एक साथ निवास किया था ; या

[1][(iiiक) यदि पत्नी अर्जीदार है तो जहां वह अर्जी पेश किए जाने के समय निवास कर रही है ; या

(iv) अर्जीदार अर्जी के पेश किए जाने के समय निवास कर रहा है, यह ऐसे मामले में, जिसमें प्रत्यर्थी उस समय ऐसे राज्यक्षेत्र के बाहर निवास कर रहा है जिस पर इस अधिनियम का विस्तार है अथवा वह जीवित है या नहीं इसके बारे में सात वर्ष या उससे अधिक की कालावधि के भीतर उन्होंने कुछ नहीं सुना है, जिन्होंने उसके बारे में, यदि वह जीवित होता तो, स्वाभाविकतया सुना होता ।]

(2) न्यायालय द्वारा उपधारा (1) के अधीन प्रयोक्तव्य अधिकारिता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना यह है कि जिला न्यायालय विवाह की अकृतता के लिए या विवाह-विच्छेद के लिए पत्नी द्वारा दी गई अर्जी इस उपधारा के आधार पर ग्रहण कर सकेगा यदि वह उन राज्यक्षेत्रों में अधिवासित हो जिन पर इस अधिनियम का विस्तार है और वह उक्त राज्यक्षेत्रों में निवास करती हो तथा विवाह की अकृतता या विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी पेश करने के ठीक पहले तीन वर्ष की कालावधि तक वहां मामूली तौर पर निवास करती रही हो और पति उक्त राज्यक्षेत्रों में निवास न करता हो ।

32. अर्जियों की अन्तर्वस्तु और सत्यापन – (1) अध्याय 5 या अध्याय 6 के अधीन प्रत्येक अर्जी उन सब तथ्यों का, जिन पर अनुतोष का दावा आधारित हो, कथन इतने स्पष्ट तौर पर करेगी जितना उस मामले में हो सके और वह यह कथन भी करेगी कि अर्जीदार और विवाह के दूसरे पक्षकार के बीच दुरसंधि नहीं है ।

(2) प्रत्येक ऐसी अर्जी में अन्तर्विष्ट कथन अर्जीदार द्वारा या किसी अन्य सक्षम व्यक्ति द्वारा उस रीति से सत्यापित किए जाएंगे जो वादपत्रों के सत्यापन के लिए विधि द्वारा अपेक्षित है और सुनवाई में साक्ष्य के रूप में निर्दिष्ट किए जा सकेंगे ।

---

[1] 2003 के अधिनियम सं. 50 की धारा 2 द्वारा अंतःस्थापित ।

[1][33. **कार्यवाहियों का बंद कमरे में होना और उन्हें मुद्रित या प्रकाशित न किया जाना** – (1) इस अधिनियम के अधीन हर कार्यवाही बन्द कमरे में की जाएगी और किसी व्यक्ति के लिए ऐसी किसी कार्यवाही के संबंध में किसी बात को मुद्रित या प्रकाशित करना विधिपूर्ण नहीं होगा किन्तु उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के उस निर्णय को छोड़कर जो उस न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा से मुद्रित या प्रकाशित किया गया है ।

(2) यदि कोई व्यक्ति उपधारा (1) के उपबंधों के उल्लंघन में कोई बात मुद्रित या प्रकाशित करेगा तो वह ऐसे जुर्माने से, जो एक हजार रुपए तक का हो सकेगा, दण्डनीय होगा ।]

34. डिक्रियां पारित करने में न्यायालय का कर्तव्य – (1) अध्याय 5 या अध्याय 6 के अधीन की किसी कार्यवाही में, चाहे उसमें प्रतिरक्षा की गई हो या नहीं, यदि न्यायालय का समाधान हो जाए कि –

(क) अनुतोष अनुदत्त करने के आधारों में से कोई आधार विद्यमान है ; तथा

(ख) [2][जहां अर्जी धारा 27 की उपधारा (1) के खंड (क) में विनिर्दिष्ट आधार पर है वहां अर्जीदार उसमें निर्दिष्ट मैथुन कार्य में न तो किसी प्रकार उपसाधक रहा है, न उसकी उसमें मौनानुकूलता है और न उसने उसका उपमर्षण किया है] अथवा जहां अर्जी का आधार क्रूरता है वहां अर्जीदार ने क्रूरता का किसी तरह उपमर्षण नहीं किया है ; तथा

(ग) जब विवाह-विच्छेद पारस्परिक सम्मति के आधार पर चाहा गया है तब ऐसी सम्मति बल, कपट या असम्यक् असर से अभिप्राप्त नहीं की गई है ; तथा

(घ) अर्जी प्रत्यर्थी के साथ दुस्संधि करके पेश या अभियोजित नहीं की गई है ; तथा

(ङ) कार्यवाही संस्थित करने में कोई अनावश्यक या अनुचित विलम्ब नहीं हुआ है ; तथा

---

[1] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 33 द्वारा (27.5.1976 से) धारा 33 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 34 द्वारा (27.5.1976 से) कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

(च) अनुतोष अनुदत्त न करने के लिए कोई वैध आधार नहीं है,

तो और ऐसी दशा में न्यायालय तद्नुसार ऐसा अनुतोष डिक्री करेगा, अन्यथा नहीं ।

(2) इस अधिनियम के अधीन कोई अनुतोष अनुदत्त करने के लिए अग्रसर होने के पूर्व न्यायालय का सबसे पहले यह कर्तव्य होगा कि वह प्रत्येक ऐसे मामले में, जिसमें मामले की प्रकृति और परिस्थितियों से संगत रूप से ऐसा करना संभव हो, पक्षकारों में पुन: मिलाप कराने के लिए प्रत्येक प्रयास करे :

[1][परन्तु इस धारा की कोई बात किसी ऐसी कार्यवाही को लागू नहीं होगी जिसमें धारा 27 की उपधारा (1) के खंड (ग), खंड (ङ), खंड (च), खंड (छ) और खंड (ज) में निर्दिष्ट आधारों में से किसी आधार पर अनुतोष चाहा गया है ।]

[2][(3) ऐसा मेल-मिलाप करने में न्यायालय की सहायता के प्रयोजन के लिए न्यायालय, यदि पक्षकार चाहे तो या यदि न्यायालय ऐसा करना न्यायसंगत और उचित समझे तो, कार्यवाहियों को पन्द्रह दिन से अनधिक की युक्तियुक्त कालावधि के लिए स्थगित कर सकेगा और उस मामले को पक्षकारों द्वारा इस निमित्त नामित किसी व्यक्ति को या यदि पक्षकार कोई व्यक्ति नामित करने में असफल रहते हैं तो न्यायालय द्वारा नामनिर्देशित किसी व्यक्ति को इन निदेशों के साथ निदेशित कर सकेगा कि वह न्यायालय को इस बारे में रिपोर्ट दे कि मेल-मिलाप कराया जा सकता है या नहीं और करा दिया गया है या नहीं और न्यायालय कार्यवाही का निपटारा करने में ऐसी रिपोर्ट को सम्यक् रूप से ध्यान में रखेगा ।

(4) ऐसे प्रत्येक मामले में, जिसमें विवाह का विघटन विवाह-विच्छेद द्वारा होता है, डिक्री पारित करने वाला न्यायालय प्रत्येक पक्षकार को उसकी प्रति मुफ्त देगा ।]

[3][**35. विवाह-विच्छेद और अन्य कार्यवाहियों में प्रत्यर्थी को अनुतोष** – विवाह-विच्छेद या न्यायिक पृथक्करण या दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए किसी कार्यवाही में प्रत्यर्थी अर्जीदार के जारकर्म, क्रूरता या

---

1 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 34 द्वारा (27-5-1976 से) जोड़ा जाएगा ।

2 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 33 द्वारा (27-5-1976 से) धारा 33 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

3 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 35 द्वारा धारा 35 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

अभित्यजन के आधार पर चाहे गए अनुतोष का न केवल विरोध कर सकेगा बल्कि वह उस आधार पर इस अधिनियम के अधीन किसी अनुतोष के लिए प्रतिदावा भी कर सकेगा और यदि अर्जीदार का जारकर्म, क्रूरता या अभित्यजन साबित हो जाता है तो न्यायालय प्रत्यर्थी को इस अधिनियम के अधीन कोई ऐसा अनुतोष दे सकेगा जिसके लिए वह उस दशा में हकदार होता या होती जिसमें उसने उस आधार पर ऐसे अनुतोष की मांग करते हुए अर्जी पेश की होती ।]

36. वादकालीन निर्वाहिका – जहां अध्याय 5 या अध्याय 6 के अधीन किसी कार्यवाही में जिला न्यायालय को यह प्रतीत हो कि पत्नी की कोई ऐसी स्वतंत्र आय नहीं है जो उसकी संभाल और उसके आवश्यक व्ययों के लिए पर्याप्त हो वहां यह पत्नी के आवेदन पर पति को आदेश दे सकेगा कि वह पत्नी को कार्यवाही में पड़ने वाले व्यय तथा कार्यवाही के दौरान ऐसी साप्ताहिक या मासिक राशि दे जो पति की आय को ध्यान में रखते हुए न्यायालय को उचित प्रतीत हो :

[1][परन्तु कार्यवाही के व्ययों और अध्याय 5 या अध्याय 6 के अधीन कार्यवाही के दौरान ऐसी साप्ताहिक या मासिक राशि के संदाय के लिए आवेदन को यथासंभव, पति पर सूचना की तामील की तारीख से, साठ दिन के भीतर निपटाया जाएगा ।]

37. स्थायी निर्वाहिका और भरणपोषण – (1) अध्याय 5 या अध्याय 6 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग कर रहा कोई न्यायालय डिक्री पारित करते समय या डिक्री के पश्चात् किसी समय, उस प्रयोजन के लिए अपने से आवेदन किए जाने पर यह आदेश कर सकेगा कि पति, पत्नी के भरणपोषण और संभाल के लिए, यदि आवश्यक हो तो पति की सम्पति पर प्रभार द्वारा, ऐसी सकल राशि अथवा ऐसी मासिक या कालिक राशि पत्नी को जीवनकाल से अनधिक अवधि के लिए प्राप्त कराए जैसी स्वयं पत्नी की संपत्ति को, यदि कोई हो, उसके पति की संपत्ति और सामर्थ्य को और [2][पक्षकारों के आचरण तथा मामले की अन्य परिस्थितियों को] ध्यान में रखते हुए न्यायालय को न्यायसंगत प्रतीत हो ।

(2) यदि जिला न्यायालय का समाधान हो जाए कि उसके उपधारा

---

[1] 2001 के अधिनियम सं. 49 की धारा 6 द्वारा (24.9.2001 से) अंत:स्थापित ।

[2] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 36 द्वारा कतिपय शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

(1) के अधीन आदेश करने के पश्चात् किसी समय पक्षकारों में से किसी की परिस्थितियों में तब्दीली हो गई हो तो वह किसी पक्षकार की प्रेरणा पर, ऐसी रीति से जो न्यायालय को न्यायसंगत प्रतीत हो, ऐसे किसी आदेश में फेरफार या उपान्तर कर सकेगा या उसे विखंडित कर सकेगा ।

(3) यदि जिला न्यायलय का समाधान हो जाए कि पत्नी ने, जिसके पक्ष में इस धारा के अधीन आदेश जिया गया, पुनर्विवाह कर लिया है या सती जीवन नहीं बिता रही है [2][तो वह पति की प्रेरणा पर और ऐसी रीति में, जो न्यायालय न्यायसंगत समझे, ऐसे किसी आदेश को परिवर्तित, उपान्तरित या विखंडित कर सकेगा] ।

38. संतान की अभिरक्षा – अध्याय 5 या अध्याय 6 के अधीन की किसी कार्यवाही में जिला न्यायालय अवयस्क संतान की अभिरक्षा, भरणपोषण और शिक्षा के बारे में जहां संभव हो वहां उनकी इच्छा से संगत, समय-समय पर, ऐसे अन्तरिम आदेश पारित कर सकेगा और डिक्री में ऐसे उपबंध कर सकेगा जो उसे न्यायसंगत और उचित प्रतीत हों और डिक्री के पश्चात्, इस प्रयोजन के लिए अर्जी द्वारा किए गए आवेदन पर ऐसी संतान की अभिरक्षा, भरणपोषण और शिक्षा के बारे में, समय-समय पर, सब ऐसे आदेश और उपबंध कर सकेगा, प्रतिसंहृत कर सकेगा या निलम्बित कर सकेगा या उनमें फेरफार कर सकेगा जैसे यदि ऐसी डिक्री अभिप्राप्त करने के लिए कार्यवाही लम्बित होती तो ऐसी डिक्री या अंतरिम आदेशों द्वारा किए जा सकते :

[1][परन्तु कार्यवाही के दौरान अध्याय 5 या अध्याय 6 के अधीन अवयस्क संतान के भरणपोषण और शिक्षा की बाबत आवेदन को यथासंभव, प्रत्यर्थी पर सूचना की तामील की तारीख से, साठ दिन के भीतर निपटाया जाएगा ।]

[2][**39. डिक्रियों और आदेशों की अपीलें** – (1) अध्याय 5 या अध्याय 6 के अधीन किसी कार्यवाही में न्यायालय द्वारा दी गई सभी डिक्रियां, उपधारा (3) के उपबंधों के अध्यधीन उसी प्रकार अपीलनीय होंगी जैसे उस न्यायालय द्वारा अपनी आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में दी गई डिक्री अपीलनीय होती है और ऐसी अपील उस न्यायालय में होगी जिसमें

---

[1] 2001 के अधिनियम सं. 49 की धारा 7 द्वारा (27-5-1976 से) अंतःस्थापित ।

[2] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 37 द्वारा (27-5-1976 से) धारा 39 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

उस न्यायालय द्वारा अपनी आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में किए गए विनिश्चयों की अपीलें, सामान्यत: होती हैं ।

(2) इस अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही में न्यायालय द्वारा धारा 37 या धारा 38 के अधीन किए गए आदेश, उपधारा (3) के उपबंधों के अध्यधीन, तभी अपीलनीय होंगे जब ये अंतरिम आदेश न हों और ऐसी प्रत्येक अपील उस न्यायालय में होगी जिसमें उस न्यायालय द्वारा अपनी आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में किए गए विनिश्चयों की अपीलें सामान्यत: होती हैं ।

(3) केवल खर्चे के विषय में कोई अपील इस धारा के अधीन नहीं होगी ।

(4) इस धारा के अधीन प्रत्येक अपील डिक्री या आदेश की तारीख से [1][नब्बे दिन की कालावधि] के अन्दर की जाएगी ।

39क. डिक्रियों और आदेशों का प्रवर्तन – अध्याय 5 या अध्याय 6 के अधीन किसी कार्यवाही में न्यायालय द्वारा दी गई सभी डिक्रियों और आदेशों का प्रवर्तन उसी प्रकार किया जाएगा जिस प्रकार उस न्यायालय द्वारा अपनी आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में दी गई डिक्रियों और आदेशों का तत्समय प्रवर्तन किया जाता है ।]

40. 1908 के अधिनियम 5 का लागू होना – इस अधिनियम के अन्य उपबंधों के और ऐसे नियमों के, जो उच्च न्यायालय इस निमित्त बनाए, अध्यधीन रहते हुए, इस अधिनियम के अधीन सब कार्यवाहियां सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 से यथाशक्य नियमित होंगी ।

[2][**40क. कुछ मामलों में अर्जियों को अन्तरित करने की शक्ति** – (1) जहां –

(क) इस अधिनियम के अधीन कोई अर्जी अधिकारिता रखने वाले जिला न्यायालय में विवाह के किसी पक्षकार द्वारा धारा 23 के अधीन न्यायिक पृथक्करण की डिक्री के लिए या धारा 27 के अधीन विवाह-विच्छेद की डिक्री के लिए प्रार्थना करते हुए पेश की गई है, और

---

[1] 2003 के अधिनियम सं. 50 की धारा 3 द्वारा कतिपय शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1976 के अधिनियम सं. 68 की धारा 38 द्वारा (27-5-1976 से) अंत:स्थापित ।

(ख) उसके पश्चात् इस अधिनियम के अधीन कोई दूसरी अर्जी विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा किसी आधार पर धारा 23 के अधीन न्यायिक पृथक्करण की डिक्री के लिए या धारा 27 के अधीन विवाह-विच्छेद की डिक्री के लिए प्रार्थना करते हुए चाहे उसी जिला न्यायालय में अथवा उसी राज्य के या किसी भिन्न राज्य के किसी भिन्न जिला न्यायालय में पेश की गई है,

वहां ऐसी अर्जियों के संबंध में उपधारा (2) में विनिर्दिष्ट रीति से कार्यवाही की जाएगी ।

(2) ऐसे मामले में जिसे उपधारा (1) लागू होती है, –

(क) यदि ऐसी अर्जियां एक ही जिला न्यायालय में पेश की जाती हैं, तो दोनों अर्जियों का विचारण और उनकी सुनवाई उस जिला न्यायालय द्वारा एक साथ की जाएगी ;

(ख) यदि ऐसी अर्जियां भिन्न-भिन्न जिला न्यायालयों में पेश की जाती हैं तो बाद वाली पेश की गई अर्जी उस जिला न्यायालय को अंतरित की जाएगी जिसमें पहले वाली अर्जी पेश की गई थी और दोनों अर्जियों की सुनवाई और उनका निपटारा उस जिला न्यायालय द्वारा एक साथ किया जाएगा जिसमें पहले वाली अर्जी पेश की गई थी ।

(3) ऐसे मामले में, जिसे उपधारा (2) का खंड (ख) लागू होता है, यथास्थिति, वह न्यायालय या सरकार, जो किसी वाद या कार्यवाही को उस जिला न्यायालय से, जिसमें बाद वाली अर्जी पेश की गई है, उस जिला न्यायालय को जिसमें पहले वाली अर्जी लंबित है, अंतरित करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) के अधीन सक्षम है, ऐसी बाद वाली अर्जी का अंतरण करने के लिए अपनी शक्तियों का वैसे ही प्रयोग करेगी मानो वह उक्त संहिता के अधीन ऐसा करने के लिए सशक्त की गई है ।

40ख. इस अधिनियम के अधीन दी जाने वाली अर्जियों के विचारण और निपटारे के संबंध में विशेष उपबंध – (1) इस अधिनियम के अधीन अर्जी का विचारण, जहां तक कि न्याय के हित में संगत रहते हुए, उस विचारण के बारे में, साध्य हो दिन प्रतिदिन तब तक निरंतर चालू रहेगा जब तक कि वह, समाप्त न हो जाए किन्तु उस दशा में नहीं जिसमें न्यायालय विचारण का अगले दिन से परे के लिए स्थगन करना उन कारणों से

आवश्यक समझे जो लेखबद्ध किए जाएंगे ।

(2) इस अधिनियम के अधीन प्रत्येक अर्जी का विचारण जहां तक संभव हो शीघ्र किया जाएगा और प्रत्यर्थी पर अर्जी की सूचना की तामील होने की तारीख से छह मास के अंदर विचारण समाप्त करने का प्रयास किया जाएगा ।

(3) इस अधिनियम के अधीन प्रत्येक अपील की सुनवाई जहां तक संभव हो शीघ्र की जाएगी और प्रत्यर्थी पर अपील की सूचना की तामील होने की तारीख से तीन मास के अंदर सुनवाई समाप्त करने का प्रयास किया जाएगा ।

40ग. दस्तावेजी साक्ष्य – किसी अधिनियम में किसी प्रतिकूल बात के होते हुए भी यह है कि इस अधिनियम के अधीन अर्जी के विचारण की किसी कार्यवाही में कोई दस्तावेज साक्ष्य में इस आधार पर अग्राह्य नहीं होगी कि वह सम्यक् रूप से स्टांपित या रजिस्ट्रीकृत नहीं है ।]

41. प्रक्रिया का विनियमन करने वाले नियम बनाने की उच्च न्यायालय की शक्ति – (1) उच्च न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) और इस अधिनियम के उपबंधों से संगत ऐसे नियम, शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, बनाएगा जो वह अध्याय 5, 6, और 7 के उपबंधों को क्रियान्वित करने के प्रयोजन के लिए समीचीन समझे ।

(2) विशिष्टतः और पूर्वगामी उपबंध की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना ऐसे नियम निम्नलिखित के लिए उपबंध करेंगे, –

(क) जारकर्म के आधार पर विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी में जारकर्मी को भी सहप्रत्यर्थी के रूप में वाद का पक्षकार बनाना और वे परिस्थितियां जिनमें अर्जीदार ऐसा करने से अभिमुक्त किया जा सकेगा ;

(ख) ऐसे किसी सहप्रत्यर्थी के विरुद्ध नुकसानी अधिनिर्णीत करना ;

(ग) अध्याय 5 या अध्याय 6 के अधीन की किसी कार्यवाही में, उसके पहले से ही पक्षकार न होने वाले किसी व्यक्ति द्वारा मध्यक्षेप ;

(घ) विवाह की अकृतता के लिए या विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी का प्ररूप और अन्तर्वस्तु तथा ऐसी अर्जियों के पक्षकारों द्वारा उपगत खर्चों का दिया जाना ; तथा

(ङ) कोई अन्य ऐसा विषय जिसके लिए इस अधिनियम में कोई उपबंध या पर्याप्त उपबंध नहीं किया गया है और जिसके लिए भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 (1869 का 4) में उपबंध किया गया है ।

अध्याय 8
प्रकीर्ण

42. व्यावृत्ति – इस अधिनियम की कोई बात किसी ऐसे विवाह की विधिमान्यता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगी जो इसके उपबंधों के अधीन अनुष्ठापित न किया गया हो ; और न इस अधिनियम के बारे में यह समझा जाएगा कि वह विवाह करने के किसी ढंग की विधिमान्यता पर प्रत्यक्षत: या परोक्षत: प्रभाव डालती है ।

43. विवाहित व्यक्ति के इस अधिनियम के अधीन पुन: विवाह करने के लिए शास्ति – अध्याय 3 में अन्यथा उपबंधित के सिवाय, प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के बारे में, जो उस समय विवाहित होने पर भी इस अधिनियम के अधीन अपना विवाह अनुष्ठापित कराएगा, यह समझा जाएगा कि उसने भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की, यथास्थिति, धारा 494 या धारा 495 के अधीन अपराध किया है, और ऐसे अनुष्ठापित विवाह शून्य होगा ।

44. द्विविवाह के लिए दंड – प्रत्येक व्यक्ति जिसका विवाह इस अधिनियम के अधीन अनुष्ठापित हुआ हो और जो पति या पत्नी के जीवनकाल में दूसरा विवाह करेगा, पति या पत्नी के जीवनकाल में पुन: विवाह करने के अपराध के लिए भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 494 और धारा 495 में उपबंधित शास्तियों का भागी होगा और ऐसे किया गया विवाह शून्य होगा ।

45. मिथ्या घोषणा या प्रमाणपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए शास्ति – प्रत्येक व्यक्ति, जो इस अधिनियम के अधीन या उसके द्वारा अपेक्षित कोई ऐसी घोषणा करे या प्रमाणपत्र बनाए/ या ऐसी घोषणा या प्रमाणपत्र हस्ताक्षरित करे या अनुप्रमाणित करे जिसमें ऐसा कथन हो जो मिथ्या हो और या तो जिसके बारे में वह जानता हो या विश्वास करता हो कि वह मिथ्या है या जिसके सत्य होने का उसे विश्वास न हो, भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 199 में वर्णित अपराध का दोषी होगा ।

46. विवाह अधिकारी के दोषपूर्ण कार्य के लिए शास्ति – कोई विवाह अधिकारी जो इस अधिनियम के अधीन विवाह का अनुष्ठापन :–

(1) उस विवाह के बारे में धारा 5 द्वारा अपेक्षित सूचना प्रकाशित किए बिना, अथवा

(2) ऐसे विवाह की सूचना के प्रकाशन की तारिख से तीस दिन के भीतर, अथवा

(3) इस अधिनियम के किसी अन्य उपबंध के उल्लंघन में,

जानते हुए और जानबूझकर करेगा वह सादे कारावास से, जो एक वर्ष तक का हो सकेगा, या जुर्माने से, जो पांच सौ रुपए तक का हो सकेगा, या दोनों से, दंडनीय होगा ।

47. विवाह-प्रमाणपत्र पुस्तक का निरीक्षण के लिए उपलब्ध रहना – (1) इस अधिनियम के अधीन रखी जाने वाली विवाह-प्रमाणपत्र पुस्तक सभी उचित समयों पर निरीक्षण के लिए उपलब्ध रहेगी और उसमें अंतर्विष्ट कथनों के साक्ष्य के रूप में ग्राह्य होगी ।

(2) विवाह-प्रमाणपत्र पुस्तक में से प्रमाणित उद्धरण विवाह अधिकारी, आवेदन किए जाने पर और आवेदक द्वारा विहित फीस दिए जाने पर उसे देगा ।

48. विवाह अभिलेखों की प्रविष्टियों की प्रतिलिपियों का भेजा जाना – राज्य का प्रत्येक विवाह अधिकारी उस राज्य के जन्म, मृत्यु और विवाह के महारजिस्ट्रार को, ऐसे अंतरालों पर और ऐसे प्ररूप में, जो विहित किए जाएं, उन सब प्रविष्टियों की सही प्रतिलिपि भेजेगा जो उसने ऐसे अंतिम अंतराल के बाद विवाह-प्रमाणपत्र पुस्तक में की हों और उन राज्यक्षेत्रों से बाहर के, जिन पर इस अधिनियम का विस्तार है, विवाह अधिकारियों की दशा में सही प्रतिलिपि ऐसे प्राधिकारी को भेजी जाएगी जैसा केन्द्रीय सरकार इस निमित्त विनिर्दिष्ट करे ।

49. गलतियों का ठीक किया जाना – (1) कोई विवाह अधिकारी, जो विवाह-प्रमाणपत्र पुस्तक की किसी प्रविष्टि के प्ररूप या सार में किसी गलती का पता चलाए, उस गलती का पता चलने के पश्चात् एक मास के भीतर उन विवाहित व्यक्तियों के समक्ष या उनकी मृत्यु या उनके अनुपस्थित होने की दशा में दो अन्य विश्वसनीय साक्षियों के समक्ष, उस गलती के पार्श्व में प्रविष्टि करके और मूल प्रविष्टि में परिवर्तन किए बिना, उसे ठीक कर सकेगा और पार्श्व प्रविष्टि पर हस्ताक्षर करेगा और उसमें ऐसे ठीक करने की तारीख जोड़ेगा और विवाह अधिकारी उसके प्रमाणपत्र में भी वैसी ही पार्श्व प्रविष्टि करेगा ।

(2) इस धारा के अधीन गलती ठीक करने की प्रविष्टि उन साक्षियों द्वारा, जिनके समक्ष वह की गई हो, अनुप्रमाणित की जाएगी ।

(3) जहां प्रविष्टि की प्रतिलिपि धारा 48 के अधीन महारजिस्ट्रार या अन्य प्राधिकारी को पहले ही भेज दी गई हो वहां विवाह अधिकारी मूल गलत प्रविष्टि और उसकी पार्श्विक शुद्धियों का वैसी ही रीति से पृथक् प्रमाणपत्र बनाएगा और भेजेगा ।

50. नियम बनाने की शक्ति – (1) केन्द्रीय सरकार के [1]*** अधिकारियों की दशा में केन्द्रीय सरकार और सब अन्य दशाओं में राज्य सरकार इस अधिनियम के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए नियम[2], शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा बना सकेगी ।

(2) विशिष्टत: और पूर्वगामी शक्ति की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना ऐसे नियम निम्नलिखित विषयों के लिए या उनमें से किसी के लिए उपबंध कर सकेंगे, अर्थात् : –

(क) विवाह अधिकारियों के कर्तव्य और उनकी शक्तियां और वे क्षेत्र जिनमें वे अधिकारिता का प्रयोग कर सकेंगे ;

(ख) वह रीति जिससे विवाह अधिकारी इस अधिनियम के अधीन जांच कर सकेगा और उसके लिए प्रक्रिया ;

(ग) वह प्ररूप जिसमें और वह रीति जिसे इस अधिनियम द्वारा या उसके अधीन अपेक्षित पुस्तकें रखी जाएंगी ;

(घ) वे फीसें जो विवाह अधिकारी पर इस अधिनियम के अधीन अधिरोपित किसी कर्तव्य के पालन के लिए उद्गृहीत की जा सकेंगी ;

(ङ) वह रीति जिससे धारा 16 के अधीन लोक सूचना दी जाएगी ;

(च) वह रीति जिससे और वे अंतराल जिनके भीतर विवाह-प्रमाणपत्र पुस्तक की प्रविष्टियों की प्रतिलिपियां धारा 48 के अनुसरण में भेजी जाएंगी ;

---

[1] 1969 के अधिनियम सं. 33 की धारा 29 द्वारा "राजनयिक और कौंसलीय अधिकारियों और अन्य" शब्दों का लोप किया गया ।

[2] विशेष विवाह (राजनयिक और कौंसलीय अधिकारी) नियम, 1954 के लिए देखिए भारत का राजपत्र, 1955, भाग 2, खंड 3, पृ. 1517 ।

(छ) कोई अन्य विषय जो विहित किया जाए या जिसका विहित जाना अपेक्षित हो ।

[1][(3) इस अधिनियम के अधीन केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाया गया प्रत्येक नियम बनाए जाने के पश्चात् यथाशीघ्र संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष, जब वह सत्र में हो, कुल तीस दिन की अवधि के लिए रखा जाएगा । यह अवधि एक सत्र में अथवा दो या अधिक आनुक्रमिक सत्रों में पूरी हो सकेगी । यदि उस सत्र के या पूर्वोक्त आनुक्रमिक सत्रों के ठीक बाद के सत्र के अवसान के पूर्व दोनों सदन उस नियम में कोई परिवर्तन करने के लिए सहमत हो जाएं तो तत्पश्चात् वह ऐसे परिवर्तित रूप ही में प्रभावी होगा । यदि उक्त अवसान के पूर्व दोनों सदन सहमत हो जाएं कि वह नियम नहीं बनाया जाना चाहिए तो तत्पश्चात् वह निष्प्रभाव हो जाएगा । किन्तु नियम के ऐसे परिवर्तित या निष्प्रभाव होने से उसके अधीन पहले की गई किसी बात की विधिमान्यता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

(4) इस अधिनियम के अधीन राज्य सरकार द्वारा बनाया गया प्रत्येक नियम, बनाए जाने पर, यथाशीघ्र, राज्य विधान-मंडल के समक्ष रखा जाएगा ।]

51. निरसन और व्यावृत्तियां – (1) विशेष विवाह अधिनियम, 1872 (1872 का 3) को और विशेष विवाह अधिनियम, 1872 की किसी तत्स्थानी विधि को, जो इस अधिनियम के प्रारम्भ के ठीक पहले किसी भाग ख राज्य में प्रवृत्त हो, एतद्द्वारा निरसित किया जाता है ।

(2) ऐसे निरसन के होते हुए भी, –

(क) विशेष विवाह अधिनियम, 1872 (1872 का 3) या ऐसी किसी तत्स्थानी विधि के अधीन सम्यक् रूप से अनुष्ठापित सब विवाह इस अधिनियम के अधीन अनुष्ठापित समझे जाएंगे ;

(ख) वैवाहिक मामलों और विषयों के सब वाद और कार्यवाहियां जो इस अधिनियम के प्रवर्तन में आने के समय किसी न्यायालय में लंबित हों उस न्यायालय द्वारा यावत्शक्य ऐसे निपटायी या विनिश्चित की जाएंगी मानो वे मूलतः उसमें ही इस अधिनियम के अधीन संस्थित की गई हों ।

(3) उपधारा (2) के उपबंध साधारण खंड अधिनियम, 1897 (1897

---

[1] 1983 के अधिनियम सं. 20 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15.3.1984 से) अंतःस्थापित ।

का 10) की धारा 6 के उपबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेंगे और उक्त धारा 6 के उपबंध तत्स्थानी विधि के निरसन को भी ऐसे ही लागू होंगे मानो वह तत्स्थानी विधि अधिनियमित हो ।

प्रथम अनुसूची

[धारा 2(ख) देखिए]

प्रतिषिद्ध कोटि की नातेदारी

भाग 1

1. माता
2. पिता की विधवा (सौतेली माता)
3. माता की माता
4. माता के पिता की विधवा (सौतेली नानी)
5. माता की माता की माता
6. माता की माता के पिता की विधवा (सौतेली परनानी)
7. माता के पिता की माता
8. माता के पिता के पिता की विधवा (सौतेली परनानी)
9. पिता की माता
10. पिता के पिता की विधवा (सौतेली दादी)
11. पिता की माता की माता
12. पिता की माता के पिता की विधवा (सौतेली परनानी)
13. पिता के पिता की माता
14. पिता के पिता के पिता की विधवा (सौतेली परदादी)
15. पुत्री
16. पुत्र की विधवा
17. पुत्री की पुत्री
18. पुत्री के पुत्र की विधवा
19. पुत्र की पुत्री
20. पुत्र के पुत्र की विधवा

21. पुत्री की पुत्री की पुत्री
22. पुत्री की पुत्री के पुत्र की विधवा
23. पुत्री के पुत्र की पुत्री
24. पुत्री के पुत्र के पुत्र की विधवा
25. पुत्र की पुत्री की पुत्री
26. पुत्र की पुत्री के पुत्र की विधवा
27. पुत्र के पुत्र की पुत्री
28. पुत्र के पुत्र के पुत्र की विधवा
29. बहिन
30. बहिन की पुत्री
31. भाई की पुत्री
32. माता की बहिन
33. पिता की बहिन
34. पिता के भाई की पुत्री
35. पिता की बहिन की पुत्री
36. माता की बहिन की पुत्री
37. माता के भाई की पुत्री

स्पष्टीकरण – इस भाग के प्रयोजनों के लिए "विधवा" पद के अंतर्गत विच्छिन्न-विवाह पत्नी भी है ।

भाग 2

1. पिता
2. माता का पति (सौतेला पिता)
3. पिता का पिता
4. पिता की माता का पति (सौतेला दादा)
5. पिता के पिता का पिता
6. पिता के पिता की माता का पति (सौतेला परदादा)
7. पिता की माता का पिता

8. पिता की माता की माता का पति (सौतेला परदादा)
9. माता का पिता
10. माता की माता का पति (सौतेला नाना)
11. माता के पति का पिता
12. माता के पिता की माता का पति (सौतेला परनाना)
13. माता की माता का पिता
14. माता की माता की माता का पति (सौतेला परनाना)
15. पुत्र
16. पुत्री का पति
17. पुत्र का पुत्र
18. पुत्र की पुत्री का पति
19. पुत्री का पुत्र
20. पुत्री की पुत्री का पति
21. पुत्र के पुत्र का पुत्र
22. पुत्र के पुत्र की पुत्री का पति
23. पुत्र की पुत्री का पुत्र
24. पुत्र की पुत्री की पुत्री का पति
25. पुत्री के पुत्र का पुत्र
26. पुत्री के पुत्र की पुत्री का पति
27. पुत्री की पुत्री का पुत्र
28. पुत्री की पुत्री की पुत्री का पति
29. भाई
30. भाई का पुत्र
31. बहिन का पुत्र
32. माता का भाई
33. पिता का भाई
34. पिता के भाई का पुत्र

35. पिता की बहिन का पुत्र

36. माता की बहिन का पुत्र

37. माता के भाई का पुत्र

स्पष्टीकरण – इस भाग के प्रयोजनों के लिए "पति" पद के अन्तर्गत विच्छिन्न-विवाह पति भी है ।

द्वितीय अनुसूची

(धारा 5 देखिए)

आशयित विवाह की सूचना

........................जिला के विवाह अधिकारी ।

हम एतद्द्वारा आपको सूचना देते हैं कि इसकी तारीख से तीन कलेंडर मास के भीतर हम दोनों का परस्पर विवाह विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के अधीन अनुष्ठापित होना आशयित है ।

नाम	स्थिति	उपजीविका	आयु	रहने का स्थान	यदि रहने का वर्तमान स्थान स्थायी न हो तो रहने का स्थायी स्थान	निवास की अवधि
क. ख.	अविवाहित विधुर विच्छिन्न-विवाह					
ग. घ.	अविवाहित विधवा विच्छिन्न-विवाह					

आज सन् 19..........................के............................मास के ....दिन हमने हस्ताक्षर किए ।

(हस्ताक्षर) क. ख.

(हस्ताक्षर) ग. घ.

तृतीय अनुसूची
(धारा 11 देखिए)
वर द्वारा की जाने वाली घोषणा

मैं क. ख., एतद्द्वारा निम्नलिखित घोषणा करता हूं :–

1. मैं इस समय अविवाहित (या, यथास्थिति, विधुर या विच्छिन्न-विवाह) हूं ।

2. मैंने.............................वर्ष की आयु प्राप्त कर ली है ।

3. मेरी ग. घ. (वधु) से प्रतिषिद्ध कोटि की नातेदारी नहीं है ।

4. मैं यह जानता हूं कि यदि इस घोषणा में कोई कथन मिथ्या हुआ और यदि ऐसा कथन करते समय मैं यह जानता होऊं या विश्वास करता होऊं कि वह मिथ्या है या उसके सत्य होने का मुझे विश्वास न हो तो मैं कारावास से और जुर्माने से भी दंडनीय होऊंगा ।

(हस्ताक्षर) क. ख. (वर)

वधु द्वारा की जाने वाली घोषणा

मैं, ग. घ., एतद्द्वारा निम्नलिखित घोषणा करती हूं :–

1. मैं इस समय अविवाहित (या, यथास्थिति, विधवा या विच्छिन्न-विवाह) हूं ।

2. मैंने...................................वर्ष की आयु प्राप्त कर ली है ।

3. मेरी क. ख. (वर) से प्रतिषिद्ध कोटि की नातेदारी नहीं है ।

4. मैं यह जानती हूं कि यदि इस घोषणा में कोई कथन मिथ्या हुआ, और यदि ऐसा कथन करते समय मैं यह जानती होऊं या विश्वास करती होऊं कि वह मिथ्या है या उसके सत्य होने का मुझे विश्वास न हो तो मैं कारावास से और जुर्माने से भी दंडनीय होऊंगी ।

(हस्ताक्षर) ग. घ. (वधु)

ऊपरिनामित क. ख. और ग. घ. द्वारा हमारी उपस्थिति में हस्ताक्षर किए गए । जहां तक हम जानते हैं इस विवाह में कोई विधिपूर्ण बाधा नहीं है ।

(हस्ताक्षर) छ. ज.
(हस्ताक्षर) झ. ञ. | तीन साक्षी
(हस्ताक्षर) ट. ठ.

प्रति हस्ताक्षरित ङ. च.

विवाह अधिकारी

तारीख 19................के..........मास का.....................दिन ।

चतुर्थ अनुसूची

(धारा 13 देखिए)

विवाह का प्रमाणपत्र

मैं, ङ. च. एतद्द्वारा प्रमाणित करता हूं कि 19.........के.............मास के......... दिन क. ख. और ग. घ.* मेरे समक्ष हाजिर हुए और उनमें से प्रत्येक ने मेरी उपस्थिति में और उन तीन साक्षियों की उपस्थिति में, जिन्होंने इसमें नीचे हस्ताक्षर किए हैं, धारा 11 द्वारा अपेक्षित घोषणाएं, कीं और उनका परस्पर विवाह इस अधिनियम के अधीन मेरी उपस्थिति में अनुष्ठापित किया गया ।

(हस्ताक्षर) ङ. च.

............का विवाह अधिकारी

(हस्ताक्षर) क. ख.

वर

(हस्ताक्षर) ग. घ.

वधु

(हस्ताक्षर) छ. ज.
(हस्ताक्षर) झ. ञ
(हस्ताक्षर) ट. ठ.

तीन साक्षी

तारीख 19............के............मास का..................दिन ।

---

* यहां पक्षकारों की विशिष्टियां दीजिए ।

पंचम अनुसूची

(धारा 16 देखिए)

अन्य रूपों में अनुष्ठापित विवाह का प्रमाणपत्र

मैं, ङ. च. एतद्द्वारा प्रमाणित करता हूं कि क. ख. और ग. घ.* 19...... के.................. मास के .... दिन मेरे समक्ष हाजिर हुए और उनमें से प्रत्येक ने मेरी उपस्थिति में जिन्होंने इसमें नीचे हस्ताक्षर किए हैं घोषणा की कि उनका परस्पर विवाह हो चुका है और वे अपने विवाह के समय से पति और पत्नी के रूप में साथ रह रहे हैं और इस अधिनियम के अधीन अपना विवाह रजिस्ट्रीकृत कराने की उनकी इच्छा के अनुसार उक्त विवाह आज.............19..........के.................मास के..............दिन इस अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकृत किया गया है और..................से प्रभावी है ।

(हस्ताक्षर) ङ. च.

.... का विवाह अधिकारी

(हस्ताक्षर) क. ख.

पति

(हस्ताक्षर) ग. घ.

पत्नी

(हस्ताक्षर) छ. ज.
(हस्ताक्षर) झ. ञ
(हस्ताक्षर) ट. ठ.
} तीन साक्षी

तारीख 19.............के......................मास का...............दिन ।

---

* यहां पक्षकारों की विशिष्टियां दीजिए ।

प्रिवी कौंसिल

के तारीख 18 जुलाई, 1938 से 2 दिसम्बर, 1938
तक के निर्णय

प्रिवी कौंसिल
निर्णय सूची

पृष्ठ संख्या

आई. एल. एम. कडीजा उम्मा और एक अन्य **बनाम** एस. डॉन मैनिस अप्पू 72

एस. एन. बनर्जी और एक अन्य **बनाम** कछवार लाइन एंड स्टोन कंपनी लि. और अन्य 60

चुंग ची च्युंग **बनाम** राजा 92

चौधरी महबूब सिंह और अन्य **बनाम** हाजी अब्दुल अजीज खां 66

जार्ज वाल्केम शनोन और अन्य **बनाम** लोअर मैनलेंड डेयरी प्रोडक्ट्स बोर्ड और एक अन्य 26

पायरमाण्ट लि. लौर एक अन्य **बनाम** लूसीला स्काट 89

पीपिल्स बैंक ऑफ नार्दर्न इंडिया लि. **बनाम** मियां गुलाम जान और एक अन्य 24

पेस्तनजी भीकाजी फर्म **बनाम** पैट्रिक एच. एण्डरसन 38

प्रमीला देवी (श्रीमती) और अन्य **बनाम** पीपिल्स बैंक ऑफ नार्दर्न इंडिया लि. (समापनाधीन) 47

फर्म गोकल चन्द जगन्नाथ **बनाम** फर्म नन्दराम दास आत्माराम 55

बावा फकीर सिंह **बनाम** सम्राट 16

मोहम्मद इस्माइल और अन्य **बनाम** हनुमान प्रसाद और एक अन्य 52

राज लक्ष्मी दासी (श्रीमती) **बनाम** भोला नाथ सेन और अन्य 1

रानी हुजूर आरा बेगम और अन्य **बनाम** उपायुक्त, गोंडा और अन्य 12

राम किंकर बनर्जी और अन्य **बनाम** सत्याचरण श्रीमणि और अन्य 78

लाला नंद किशोर **बनाम** अजमत उल्ला, शासकीय रिसीवर, दिल्ली तथा अन्य 43

वाष्पयान मलक्का मारू के स्वामी और उसमें हितबद्ध व्यक्ति **बनाम** वाष्पयान मेरीनफेल्स के स्वामी ड्यूश डांफसीफाट्‌र्स जेसेल शाफ्ट “हंसा” 30

श्रीमती राज लक्ष्मी दासी............................ अपीलार्थी

बनाम

भोला नाथ सेन और अन्य..............प्रत्यर्थी

(कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 107 सन् 1936)

निर्णीत : 18.7.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड थेंकरटन, लार्ड रोमर, लार्ड साल्वेसेन, सर लांसलाट सेण्डरसन और सर जार्ज रैंकिलन

हिंदू विधि – उत्तरभोग – विधवा के जीवनकाल में उत्तरभोगी को सम्पत्ति में कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता – उसका वाद-हेतुक विधवा की मृत्यु पर उद्‌भूत होता है – अतः यदि विधवा से समझौता करके कोई व्यक्ति सम्पत्ति पर कब्जा कर लेता है तो विधवा के जीवनकाल में उसका कब्जा उत्तरभोगी के प्रतिकूल नहीं माना जाएगा और उत्तरभोगी के वाद के लिए परिसीमा विधवा की मृत्यु के समय से प्रारंभ होगी ।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – धारा 11 – अंतिम पुरुष धारक की मृत्यु के बाद सम्पत्ति पर उसकी विधवा का कब्जा – विधवा ने 1873 में एक पुत्र गोद लिया, किंतु 1886 में उसकी मृत्यु हो गई – उसने एक विधवा तथा एक पुत्री छोड़ी – प्रथम विधवा द्वारा दोबारा दत्तक-ग्रहण – द्वितीय दत्तक पुत्र के वाद में निर्णय किया गया कि उसका दत्तक-ग्रहण शून्य है – तत्पश्चात् द्वितीय विधवा का कब्जे का वाद विचारण न्यायालय ने 1905 में डिक्री कर दिया, किंतु जिला न्यायालय में अपील में 1907 में समझौता होकर सम्पत्ति विभाजित कर ली गई – 1907 में द्वितीय विधवा की पुत्री ने वाद दायर किया, जो विचारण न्यायालय ने तो खारिज कर दिया, किंतु उच्च न्यायालय ने 1910 में डिक्री कर दिया किंतु कब्जा 1907 के समझौते के अनुसार बना रहा, यद्यपि 1910 के निर्णय में इस समझौते वाली डिक्री को शून्य घोषित कर दिया गया था – 1926 में द्वितीय विधवा की मृत्यु हो गई – तत्पश्चात् कुछ सम्पत्ति शासन द्वारा अर्जित कर ली गई उसके प्रतिकार का प्रश्न उठने पर निर्णय किया गया कि द्वितीय विधवा की पुत्री का हक 1905 की डिक्री में घोषित किया जा चुका था और 1910 में उच्च न्यायालय ने अपनी डिक्री में उसे माना – यह निर्णय प्राङ न्याय के रूप में लागू होगा – बाहरी व्यक्तियों का द्वितीय विधवा के जीवनकाल में कब्जा उसकी पुत्री के प्रतिकूल नहीं माना जाएगा

– अतः पुत्री ही प्रतिकर की हकदार ठहराई गई ।

निर्णय

जस्टिस लार्ड थेंकरटन – यह अपील कलकत्ता उच्च न्यायालय के 8.3.1935 के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध है, जिससे चौबीस परगना के विशेष भूमि अर्जन न्यायाधीश के 15.5.1930 के निर्णय और डिक्री की पुष्टि की गई । विशेष भूमि अर्जन न्यायाधीश ने अपना निर्णय और डिक्री कलकत्ता के द्वितीय भूमि अर्जन कलेक्टर द्वारा भूमि अर्जन अधिनियम (सं. 1 सन् 1984) की धारा 18 के अधीन किए गए निर्देश पर पारित किए थे । अपील में प्रश्न यह है कि क्या अपीलार्थी राज बल्लभ सील की सम्पदा के उत्तराधिकारी के रूप में, कलकत्ता नगर में देव लेन के परिसर सं. 2 के, जो उक्त सम्पदा का भाग है, एक भाग के अर्जन के संबंध में अधिनिर्णीत प्रतिकर का हकदार है । राज बल्लभ की मृत्यु 10.6.1870 को हुई । उन्होंने अपनी विधवा मति दासी और तीन धेवते छोड़े । ये तीन धेवते उनकी एक अन्य पत्नी से पुत्री के पुत्र थे, जिस पुत्री की पहले ही मृत्यु हो गई थी । तीन धेवतों में से एक 1880 में अविवाहित मर गया । प्रत्यर्थी सं. 1 दूसरा धेवता है और, प्रत्यर्थी सं. 2 तीसरे धेवते का, जिसका देहांत 1905 में हुआ, प्रतिनिधित्व करता है । यहां धेवतों की श्रृंख्ला को "सेन" कहा गया है । प्रत्यर्थी सं. 3 से 11 तक सेनों के बंधकदारों का प्रतिनिधित्व करते हैं । निम्नलिखित वंशावली राज बल्लभ के वंशजों को दर्शित करती है :

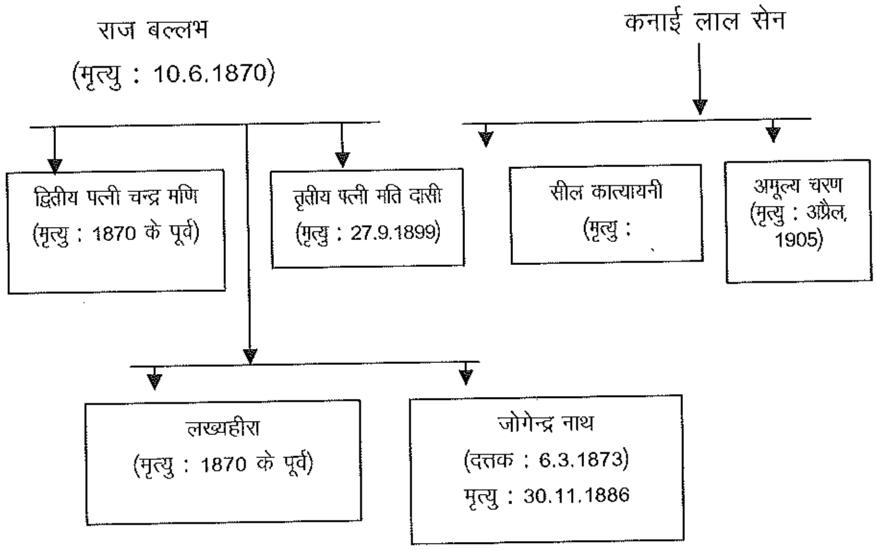

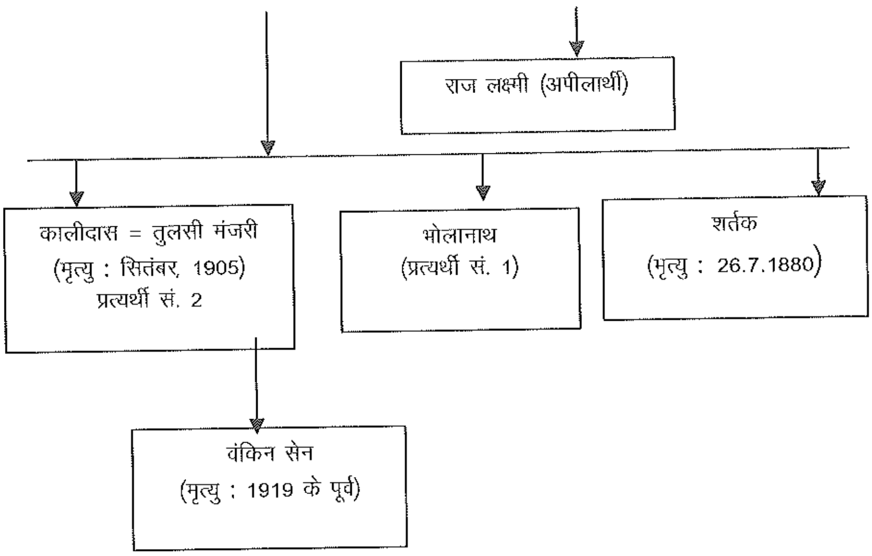

2. राज बल्लभ ने एक वसीयत छोड़ी जिससे अपनी विधवा मति दासी को उसके लिए पुत्र गोद लेने का अधिकार दिया तथा उक्त विधवा गोद लिए जाने वाले पुत्र और सेनों को सुविधा देने के लिए प्राधिकृत किया । 1870 में राज बल्लभ की मृत्यु होने पर मति दासी का सम्पदा पर कब्जा हुआ और अपने को प्रदत्त प्राधिकार से उसने 1873 में जोगेन्द्र नाथ सील को गोद लिया । जोगेन्द्र ने कात्यायनी से विवाह किया और वर्तमान अपीलार्थी उनकी एकमात्र संतान है । जोगेन्द्र की 1886 में मृत्यु हो गई, जब अपीलार्थी एक वर्ष से कम की थी । मति दासी की मृत्यु 1899 में हो गई और ऐसा प्रतीत होता है कि सेनों ने संपदा पर कब्जा कर लिया । जोगेन्द्र की मृत्यु के शीघ्र पश्चात् अपने को प्रदत्त अधिकार का और प्रयोग करते हुए मति दासी ने कात्यायनी के भाई अमूल्य चरण को दृश्यतः गोद लिया है । 1901 में अमूल्य ने सेनों और कात्यायनी के विरुद्ध वाद दायर किया जिसमें संपदा का दावा किया । वाद दोनों न्यायालयों में इस आधार पर खारिज कर दिया गया कि जोगेन्द्र के गोद लेने के साथ मति दासी की गोद लेने की शक्ति समाप्त हो गई और उच्च न्यायालय ने वसीयत का अर्थान्वयन करके यह भी विनिश्चय किया कि स्वयं समग्र सम्पदा (corpus) के बारे में निर्वसीयतता है, जो विधिक वारिस के रूप में जोगेन्द्र में निहित हुई और उसकी मृत्यु पर उत्तराधिकार में उसकी विधवा कात्यायनी को मिली । इस वाद के लंबित रहने के दौरान सम्पदा का एक रिसीवर नियुक्त किया गया । उच्च न्यायालय का निर्णय, जो 28.3.1905

का था, **अमूल्य चरण सील** बनाम **कालीदास सेन**[1] में प्रकाशित हुआ । इस बीच, अमूल्य के वाद में अधीनस्थ न्यायाधीश के निर्णय के पश्चात् कात्यायनी ने सेनों, अमूल्य और अमूल्य के वाद के रिसीवर के विरुद्ध वाद सं. 1 सन् 1905 संस्थित किया, जिसमें उसने तीन चौथाई सम्पदा और विभाजन का दावा किया । बाद में अमूल्य के वाद में उच्च न्यायालय के निर्णय के पश्चात् उसने संशोधन करके पूरी संपदा का दावा किया । सेनों ने वाद का विरोध किया और 21.12.1905 को अधीनस्थ न्यायाधीश ने वाद कात्यायनी के पक्ष में डिक्री कर दिया । उन्होंने आदेश दिया : "वादपत्र की सूची बी (2) में यथाविनिर्दिष्ट वादगत स्थावर सम्पत्तियों के पूरे 16 आने भाग में वादिनी का हक घोषित किया जाता है और वह उस पर कब्जा प्राप्त करे ।"

3. सेनों ने जिला न्यायालय में अपील की और कात्यायनी और अमूल्य के पिता कनई को अपील में बिना अधिकार के प्रत्यर्थी बना लिया । उन्होंने बंधकदार के एक प्रतिनिधि को भी पक्षकार बनाने की इजाजत प्राप्त कर ली । 9.1.1907 को जिला न्यायालय में समझौते की एक अर्जी दी गई, जिसमें अपने बंधकदार सहित सेन और कात्यायनी विरासत के विभाजन के लिए सहमत हो गए कि कात्यायनी छह आने लेगा । समझौते के आधार पर 24.1.1907 को जिला न्यायालय ने सहमति के आधार पर डिक्री पारित की और विभाजन का निदेश दिया । बाद में 15.9.1907 को न्यायालय के निदेश के अनुसार रिसीवर ने विभाजन कर दिया और समझौते की शर्तों के अनुसार अपने-अपने भागों का कब्जा दे दिया । देव लेन का परिसर सं. 2, जिनके एक भाग का प्रतिकर प्रस्तुत अपील का विषय है, उस चार आने हिस्से में सम्मिलित किया गया जिसका कब्जा सेनों को मिला ।

4. वाद सं. 11 सन् 1903 में जिला न्यायालय की सहमति डिक्री को तीन मास बीतने के पूर्व ही प्रस्तुत अपीलार्थी ने (प्रतिवर्ती) उत्तरभोग हित की रक्षा के लिए समझौते के पक्षकारों और रिसीवर के विरुद्ध 18.4.1907 को वाद सं. 59 सन् 1907 संस्थित किया, जिसमें इस घोषणा की प्रार्थना की कि जिला न्यायालय की 9.1.1907 की समझौता और सहमति पर आधारित डिक्री शून्य और अप्रवर्तनीय है और उत्तरभोगी डिक्री के निष्पादन में की गई विभाजन कार्यवाही से आबद्ध नहीं हैं । अधीनस्थ न्यायाधीश ने

[1] (1905) इ. ला. रि. 32 कलकत्ता 861.

वाद खारिज कर दिया, किंतु अपील में उच्च न्यायालय ने 8.8.1910 के निर्णय और डिक्री से उसे अपास्त कर दिया और घोषित किया कि :–

> "9.1.1907 को की गई सहमति के आधार पर डिक्री वादी-अपीलार्थी के विरुद्ध शून्य और अप्रवर्तनीय है तथा वह उस डिक्री के निष्पादन में की गई विभाजन कार्यवाही से किसी प्रकार आबद्ध नहीं है ।"

5. यह निर्णय **राजलक्ष्मी दासी** बनाम **कात्यायनी दासी**[1] में प्रकाशित है । यह स्पष्ट है कि निर्णय का मुख्य आधार यह था कि जिला न्यायालय को कोई अधिकारिता नहीं थी अतः सहमति आधारित डिक्री शून्य और अप्रवर्तनीय है । न्यायालय ने कात्यायनी के जीवन काल में, समझौता करार के आधार पर जिसमें वह पक्षकार थी, किसी प्रश्न या किसी समान आधार पर सेनों के चार आने हिस्से पर कब्जा बनाए रखने के अधिकार के बारे में निर्णय नहीं दिया । उच्च न्यायालय के 8.8.1910 के निर्णय का प्रभाव वाद सं. 11 सन् 1903 में जिला न्यायालय की सहमति आधारित डिक्री को बाधित करना और अधीनस्थ न्यायाधीश 21.12.1905 की डिक्री को, जो पहले ही उद्धृत की जा चुकी है, अंतिम और आबद्धकर करना है । यह डिक्री, जिससे पूरी सम्पदा पर कात्यायनी का हक घोषित किया गया, स्पष्टतया कात्यायनी के पक्ष में डिक्री है, कि वह पूरी सम्पदा में हित का प्रतिनिधित्व करती है और प्रस्तुत मामले में दोनों निचले न्यायालयों द्वारा वह सही रूप से ऐसी मानी गई है, तथा वह सेनों के साथ किसी प्रश्न के बारे में प्राङ् न्याय के रूप में लागू होती है । जहां तक संपदा पर कब्जे का प्रश्न है, यद्यपि डिक्री ने कब्जा प्राप्त करने का आदेश किया, किंतु 1987 के विभाजन के अधीन दिया गया कब्जा बना रहा, जिसमें सेनों का चार आने पर कब्जा रहा । यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी करार के अधीन कब्जा, जो उत्तरभोगी वारिसों पर आबद्धकर नहीं था, सेनों को उत्तरभोगी वारिसों के विरुद्ध किसी प्रश्न पर उपयोगी नहीं होगा । उत्तरभोगी वारिसों के कब्जे का अधिकार तब तक उत्पन्न नहीं होगा जब तक कि ऐसे वारिसों के उत्तराधिकार का अवसर नहीं आता । इस स्थिति में हमें लगता है जब तक उसके बाद कात्यायनी के जीवनकाल में कुछ ऐसा नहीं हुआ हो जिसने संपूर्ण सम्पदा या उसके भाग में हक को प्रभावित किया हो और जिससे ऐसी सम्पूर्ण सम्पदा या भाग कात्यायनी से निकाल कर उसका हक

---

[1] (1911) इ. ला. रि. 38 कलकत्ता 639.

सेनों में निहित कर दिया हो तब तक सेनों द्वारा ऐसी संपूर्ण सम्पदा या उसके भाग का मात्र कब्जा, कात्यायनी की मृत्यु पर उत्तरभोगी वारिस के रूप में अपीलार्थी के दावे का मुकाबला नहीं कर सकेगा जो दावा वाद सं. 11 सन् 1903 में अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री पर आधारित है, जैसा कि यह उसके अपने वाद सं. 59 सन् 1907 में उच्च न्यायालय की डिक्री द्वारा अधिकथित किया गया ।

6. प्रत्यर्थियों का कहना है कि इस वाद में अपीलार्थी का दावा वाद सं. 115 सन् 1919 के पश्चात्वर्ती निर्णय से वर्जित है, जो कात्यायनी ने सेनों और उनके बंधकदारों के विरुद्ध चार आने भाग की प्राप्ति के लिए संस्थित किया था । वह वाद अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा और अपील में उच्च न्यायालय द्वारा खारिज कर दिया गया था । प्रत्यर्थियों का कहना है कि वह वाद कात्यायनी ने अपनी और उत्तरभोगियों दोनों की ओर से किया था, और उसका निर्णय अपीलार्थी के विरुद्ध भी प्राङ न्याय के रूप में लागू होता है । दोनों निचले न्यायालयों ने इस कथन को स्वीकार करके अपीलार्थिनी का वाद खारिज कर दिया । अपीलार्थिनी अब उन निर्णयों के आधार को प्रश्नगत करती है, जो अधिकांशतः इस बोर्ड के कतिपय निर्णयों पर आधारित है, जो निर्णय उन्होंने लागू माने जिनके प्रति निर्देश बाद में किया जाएगा । प्रथमतः, जैसा ऊपर कहा गया, हमारी राय है कि सेनों के साथ किसी वाद में संपदा का हक अंतिम रूप से निर्णीत होने के उपरांत जहां तक उत्तरभोगी वारिसों के अधिकार का या उनके अधिकार के किसी ऐसी कार्यवाही से प्रभावित होने का संबंध है, विधवा कात्यायनी को सेनों के विरुद्ध इसे नए सिरे से न्यायनिर्णयन हेतु प्रस्तुत करने का कोई अधिकार नहीं था । द्वितीयतः वाद सं. 115 सन् 1919 की कार्यवाही की जांच करने पर हमारा समाधान हो गया है कि कात्यायनी केवल अपनी ओर से वाद कर रही थी, न कि उत्तरभोगी वारिसों का प्रतिनिधित्व करते हुए । 15.9.1919 के वादपत्र में कात्यायनी ने स्पष्टतया वाद सं. 11 सन् 1903 की अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री को, जैसी कि वह वाद सं. 59 सन् 1907 में उच्च न्यायालय द्वारा 8.8.1910 की डिक्री में अधिकथित की गई, हक के प्रश्न पर प्रतिवादी सेनों के विरुद्ध प्राङ् न्याय के रूप में लागू माना है । तत्पश्चात् उसने अपनी व्यक्तिगत कठिनाई अर्थात् समझौते का जिक्र किया है, जिसके बारे में उसका कहना है कि वह उससे सेनों के साथ कपटपूर्ण दुरसंधि करके, उसके पिता कनाई के अनुचित कार्य द्वारा प्राप्त किया गया । सेनों का लिखित कथन उपलब्ध नहीं कराया गया है । अधीनस्थ न्यायाधीश ने 24.8.1921 के निर्णय के वादिनी के कपट के

कथन को अस्वीकार कर दिया और विनिश्चय किया कि समझौता उस पर आबद्धकर है जो उस कब्जा प्राप्त करने से निवारित नहीं कर सकती । इसका स्पष्टतया संबंध कात्यायनी के जीवनकाल में कब्जे से है, क्योंकि यह अंतिम रूप से विनिश्चय किया जा चुका था कि समझौता उत्तरभोगी वारिसों पर आबद्धकर नहीं है ।

7. अपील में उच्च न्यायालय ने 21 और 24 जुलाई, 1925 के निर्णय में समझौते के प्रश्न का उल्लेख नहीं किया, किंतु वाद सं. 11 सन् 1903 और वाद सं. 59 सन् 1907 के संदर्भ में उन्होंने कहा कि समझौता डिक्री बिना अधिकारिता के हुई विनिश्चित होने के उपरांत, कात्यायनी के वाद सं. 11 सन् 1903 से विचारण न्यायालय की डिक्री विधिमान्य डिक्री मानी जानी चाहिए तथा उसने कात्यायनी के अधिकार की घोषणा की, किंतु न्यायालय ने विनिश्चय किया कि कात्यायनी का 12 वर्ष से अधिक से कब्जा नहीं रहा है और वह अब कब्जा प्राप्त नहीं कर सकती और न्यायालय ने वाद के खारिज होने की पुष्टि की । पुनः, हम यह मानने में असमर्थ हैं कि यह निर्णय उत्तरभोगी वारिसों के कब्जे के हक को प्रभावित करता है । इस बोर्ड के उन निर्णयों की परीक्षा से, जिन का दोनों निचले न्यायालयों ने आश्रय लिया है, प्रकट होता है कि प्रत्येक मामले में संपदा की स्त्री धारक के विरुद्ध डिक्री में, जो उत्तराधिकारी वारिस पर आबद्धकर विनिश्चित की गई है, हक के प्रश्न का निर्णय अंतर्वलित है, और मात्र कब्जे के प्रश्न का नहीं । इन मामलों में से किसी में संपदा की पूर्व स्त्री धारक ने प्रतिवादियों के विरुद्ध संपदा पर अपने हक की पहले से डिक्री प्राप्त नहीं की थी । **कतमा नचियार** बनाम **राज शिव गंगा**[1] में लार्ड जस्टिस टर्नर द्वारा दिए गए बोर्ड के निर्णय में पृष्ठ 603 पर निम्नलिखित पैरा है :–

> "किस ढंग से अपील का निपटारा किया जाए उसे निर्धारित करने के लिए इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या 1847 की डिक्री, यदि वह अंगा मुत्तू नचियार के जीवन काल में अंतिम हो गई होती तो उनको आबद्ध करती जो उसके उत्तराधिकार में जमींदारी का दावा कर रहे हैं और हमारी राय है कि जब तक यह न साबित किया जाए कि उस वाद में अधिकार का उचित विचारण नहीं हुआ या अन्य शब्दों में जब तक किसी विशेष आधार पर डिक्री सफलतापूर्वक प्रश्नगत नहीं की जा सकती थी तब तक वह अंगा मुत्तू नचियार के उत्तराधिकार में किसी व्यक्ति द्वारा दावा करने के लिए

[1] [1861-63] 9 मूर्स इंडियन अपील्स 539.

जिला न्यायालय में किसी नए वाद का प्रभावी तौर से वर्जन होती । यह उपधारणा करने के लिए कि वह जमींदारी की हकदार थी, तत्समय संपूर्ण सम्पदा कुछ प्रयोजनों हेतु उसमें अनन्यतः निहित होगी, यद्यपि कुछ बातों के संबंध में सीमित हित के लिए निहित होगी और उसकी मृत्यु तक यह अभिनिश्चित नहीं किया जा सकता कि कौन उसके उत्तराधिकारी होने का हकदार होगा । वही सिद्धांत जो इस देश के न्यायालयों में सीमित विरासत वाली धुति के वारिस धारकों (Tenants in tail) के बारे में प्रचलित है, हिंदू विधवा के मामले में लागू होता है और यह स्पष्ट है कि यह विनिश्चय करने में अधिकतम सम्भव असुविधा होगी कि उत्तरवर्ती वारिस विधवा के विरुद्ध उचित और न्यायसंगत रूप से प्राप्त डिक्री के आबद्ध नहीं हैं ।"

8. विधवा अंगा मुत्तू नचियार ने पूर्व मुकदमेबाजी में अपने स्वर्गीय पति द्वारा स्वअर्जित जमींदारी के रूप में हिंदू विधवा की संपदा का दावा किया था और कहा था कि वह अविभाज्य संपदा का भाग नहीं है । नितांत स्पष्टतया हक का प्रश्न विवादित था, और उसकी विफलता से संपदा उत्तरभोगी वारिसों के हाथ से भी जाती रही और बोर्ड के द्वारा अभिव्यक्त किए गए मत संपदा के हक के बारे में थे ।

9. **हरिनाथ चटर्जी** बनाम **मथुर मोहन गोस्वामी**[1] वारिस के विरुद्ध डिक्री परिसीमा पर आधारित थी क्योंकि उसका लगभग 26 वर्ष पूर्व जून, 1855 से जब विधवा की मृत्यु हुई और सम्पत्ति उत्तराधिकार में उसे मिली, कभी कब्जा नहीं रहा था । इस बोर्ड ने विनिश्चय किया कि डिक्री परिसीमा पर आधारित होने से मामला ऊपर उद्धृत कतमा नचियार के सिद्धांत से बाहर नहीं चला जाता । परिसीमा अधिनियम, 1877 का अनुच्छेद 141 पहली बार कुछ अधिक सीमित रूप में 1871 के अधिनियम के अनुच्छेद 142 के रूप में प्रकट हुआ था । कुछ उस समय विधवा की मृत्यु तक ही सीमित था । इन परिवर्तनों का उल्लेख करने के पश्चात् सर रिचर्ड काउच द्वारा दिए गए निर्णय में 1877 के अधिनियम के अनुच्छेद 141 के संदर्भ में कहा गया है :–

"शब्द 'स्थावर सम्पत्ति के कब्जे का हकदार' तत्समय विद्यमान विधि को निर्दिष्ट करते हैं । उस विधि के अधीन सम्पूर्ण के विरुद्ध डिक्री से आबद्ध होने के कारण वादी कब्जे के लिए वाद करने का हकदार नहीं होगा । परिसीमा विधि का आशय वहां अधिकार प्रदान

---

[1] [1894] 21 कलकत्ता 8 = 20 इंडियन अपील्स 183.

करना नहीं है जहां कोई अधिकार नहीं है, अपितु एक निश्चित अवधि के पश्चात् किसी विद्यमान अधिकार के प्रवर्तन हेतु वाद का वर्जन करना है । प्रत्येक अधिनियम में अनुसूची 2 का प्रयोजन वाद हेतु केवल परिसीमाकाल विहित करने का है ।"

10. यहां पुनः स्पष्ट है कि संपूर्ण के पास हक के बारे में कोई पूर्व डिक्री नहीं थी, और उसका हक उस मुकदमे में प्रश्नगत था जो उसकी और उत्तरभोगी वारिसों की ओर से किया गया था । **रिसाल सिंह** बनाम **बलवंत सिंह**[1] में एक हिंदू महिला द्वारा, जिसमें अपने पिता और शिशु पुत्र की मृत्यु पर संपदा निहित हो गई थी, अपने पति के लिए बलवंत सिंह को दृश्यतः गोद लिया गया । बाद में उसने इस घोषणा के लिए वाद संस्थित किया कि गोद लेना अविधिमान्य है । इस बोर्ड ने विनिश्चय किया कि वह गोद लेने की विधिमान्यता से इंकार करने से स्वयं अपने आचरण से विबंधित है, तथा वैसे भी तथ्यों के अनुसार गोद लेना विधिमान्य है । दोनों निचले न्यायालयों के निर्णयों का आधार यही था । विधवा की मृत्यु पर उत्तरभोगी वारिस ने संपदा की प्राप्ति हेतु वाद संस्थित किया । उसका कहना था कि गोद लेना अविधिमान्य था । यह विनिश्चय किया गया कि उत्तरभोगी वारिस विधवा के विरुद्ध पूर्व-निर्णय से प्राङ न्याय के रूप में आबद्ध है । इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता था कि विधवा अपने वाद में उत्तरभोगी वारिसों को भी प्रतिनिधित्व करती थी, तथा यह निर्णय कि गोद लेना विधिमान्य था उत्तरभोगी वारिस के और विधवा के भी हक को नकारता है ।

11. **वैद्य लिंग मुदालियर** बनाम **श्रीरंगत अन्नी**[2] में विधवा चोक्कम्मल ने 1862 में अपने पति अरुणाचल के लिए दत्तक ग्रहण किया । अरुणाचल की 1849 में मृत्यु हो गई थी । विधवा की मृत्यु 1902 में हुई । 1905 में अरुणाचल के उत्तरभोगी वारिसों के रूप में वादियों ने अपीलाधीन वाद संस्थित किया । वाद में प्रतिवादी दत्तक पुत्र के उत्तराधिकारी थे और संपदा पर उनका ही कब्जा था । उनका मुख्य बचाव पक्ष था कि वाद प्राङ न्याय और परिसीमा से वर्जित है । प्रथम बचाव एक वाद में हुई 1892 की डिक्री पर आधारित था, जो दत्तक पुत्र की मां ने चोक्कम्मल और अन्य के विरुद्ध संपदा पर कब्जे के लिए दायर किया था । उसका कहना था कि चोक्कम्मल ने वाद से 3 वर्ष पूर्व 1884 में बलात् उससे कब्जा ले लिया है, जिस तारीख से पूर्व दत्तक पुत्र, उसकी विधवा और उसका 1862 में दत्तक

---

[1] (45) इंडियन अपील्स 168 (प्रि. कौं.) = (1918) ए. आई. आर. प्रि. कौं. 97.

[2] 52 इंडियन अपील्स 322 (1925) 12 ए. आई. आर. प्रि. कौं. 249.

ग्रहण के समय से कब्जा था । उच्च न्यायालय ने 1892 की डिक्री में विनिश्चय किया कि दत्तक-ग्रहण अविधिमान्य था, किंतु वादिनी का 12 वर्ष का प्रतिकूल कब्जा साबित हो गया है और उन्होंने कब्जे की डिक्री की पुष्टि की जो अधीनस्थ न्यायाधीश ने पारित की थी । प्राङ न्याय, जिस पर यह डिक्री आधारित थी, बोर्ड ने इस आधार पर कायम रखी कि प्रतिवादी के रूप में चोक्कम्मल ने संपदा का प्रतिनिधित्व किया और प्रतिकूल कब्जे की डिक्री से उत्तरभोगी वारिस आबद्ध थे । पुनः यह स्पष्ट है कि डिक्री विधवा और उत्तरभोगी वारिसों दोनों का हक वर्जित करती है । बोर्ड ने अपना निर्णय परिसीमा अधिनियम, 1871 के अनुच्छेद 129 पर भी आधारित किया, किंतु निर्णय का वह भाग प्रस्तुत प्रयोजनार्थ तात्विक नहीं है । सर जॉन एज द्वारा दिए गए निर्णय में **नवीन चन्द्र चक्रवर्ती** बनाम **ईसूर चन्द्र चक्रवर्ती**[1] के मामले में न्यायमूर्ति मेकफर्सन का निर्णय सानुमोदन उद्धृत किया गया, जो इस प्रकार था :-

> "मैं भी प्रस्तावित उत्तर से सहमत हूं । किंतु जो मामला इस समय हमारे समक्ष है उसमें और उस मामले में बहुत अंतर है जिसमें मां या अन्य हिंदू महिला जिसकी संपदा निःसंतान विधवा के समान है और जिसने सम्पदा में से सम्पत्ति, जो उसे वारिस के रूप में प्राप्त हुई, सम्यक् कारण के बिना स्वयं अन्यसंक्रामित कर दी । पश्चात् कथित मामले में अन्यसंक्रामण उसके विरुद्ध और जहां तक उसके अपने आजीवन हित का संबंध है, मान्य है । अतः वास्तव में जब तक वह जीवित है तब तक उसके अन्यसंक्रामण के बारे में अनिवार्यतः कोई वाद हेतुक उद्भूत नहीं होता । उसकी मृत्यु पर ही उत्तरभोगी का वाद-हेतुक पहली बार प्रोदभूत हुआ है । हमारे समक्ष के मामले में सम्पत्ति कभी मां (हिंदू विधवा) के हाथों में कभी आई ही नहीं । वह निरंतर उसके प्रतिकूल धारित रही । उत्तरभोगी के लिए वाद-हेतुक मां के जीवनकाल में उद्भूत हुआ; अतः कब्जा प्राप्ति हेतु वाद, वह किसी के द्वारा भी संस्थित हो, जब तक कि वह प्रतिकूल कब्जा प्रारंभ होने के 12 वर्ष के भीतर संस्थित नहीं किया जाता, वर्जित है ।"

12. अंत में **जग्गोबाई** बनाम **उत्सव लाल**[2] में लार्ड टोमलिन द्वारा दिए गए निर्णय से एक पैरा उद्धृत करना पर्याप्त है, जिसमें उक्त **हरिनाथ चटर्जी** बनाम **माथुर मोहन गोस्वामी**[3] वाले निर्णय को निर्दिष्ट करते हुए

---

[1] [1868] 9 डब्ल्यू. आर. 505 (पूर्ण न्या.).

[2] [1894] 21 कलकत्ता 8 = द. इंडियन अपील्स 189.

[3] 56 इंडियन अपील्स 267.

कहा गया :—

"अतः इस निर्णय से यह सुस्थापित होता है कि जहां परिसीमा विधि पर आधारित डिक्री विधवा के विरुद्ध उसके जीवनकाल में प्राप्त की जाए उत्तरभोगी वारिस भी वर्जित हो जाता है और उसे अनुच्छेद 141 का फायदा नहीं मिलता । प्रस्तुत मामले में यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या वहां भी यही परिणाम निकलेगा जहां कोई डिक्री नहीं है, यद्यपि विधवा की मृत्यु के समय किसी बाहरी व्यक्ति का 12 वर्ष या से अधिक तत्प्रतिकूल कब्जा रहा । हमारे विचार से जहां विधवा के जीवनकाल में विधवा के विरुद्ध कोई डिक्री या अन्य विधिक कार्यवाही, जिससे उत्तरभोगी वारिस विधवा के मृत्यु पर कब्जे के अधिकार से वंचित हो, न हो वहां वारिस विधवा की मृत्यु के पश्चात् इस प्रश्न के निर्धारण हेतु अनुच्छेद 141 का आश्रय ले सकता है कि क्या समय बीत जाने से हक वर्जित हो गया है । हमारी राय में अन्यथा विनिश्चय करना अनुच्छेद की व्याप्ति के भीतर का प्रश्न निर्धारित करने में न्यायालय को अनुच्छेद के स्पष्ट शब्दों की उपेक्षा करने के लिए सारतः विवश करना होगा ।"

13. तदनुसार प्रस्तुत अपील में प्रश्न है कि क्या वाद सं. 115 सन् 1919 की डिक्री से अपीलर्थिनी कब्जे के हक से वंचत हो गई 1 जैसा कि पहले बताया जा चुका है, हमारी राय है कि सेनों के विरुद्ध अपीलार्थी का कब्जे का अधिकार प्राङ् न्याय के रूप में वाद सं. 11 सन् 1903 के वाद में अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री से साबित हुआ, जैसा कि वह अपीलार्थी के वाद सं. 59 सन् 1907 में उच्च न्यायालय के निर्णय से सुस्थापित किया गया, और कब्जे हेतु कात्यायनी का वाद सं. 115 सन् 1919 अपीलार्थी के कब्जे के अधिकार को प्रभावित नहीं कर सकता था और उसने नहीं किया । अतः हमारे निर्णय में अपील सफल होती है और निचले दोनों न्यायालयों के निर्णय और डिक्रियां अपास्त की जानी चाहिए और अपीलार्थी को वादगत प्रतिकर-धन की राशि हेतु डिक्री मिलनी चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है । अपीलार्थी को अपील और दोनों निचले न्यायालयों में कार्यवाही का खर्चा मिलेगा ।

अपील मंजूर की गई ।

रानी हुजूर आरा बेगम और अन्य........................अपीलार्थी

बनाम

उपायुक्त, गोंडा और अन्य..............प्रत्यर्थी

(अवध मुख्य न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 61 सन् 1937)

निर्णीत : 22.7.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड रोमर, सर शादी लाल तथा सर जार्ज रैंकिन

अवध सम्पदा अधिनियम, 1869 – धारा 7, 8, व 10 – धारा 8 के अधीन तैयार सूची 2 में ताल्लुकेदार की प्रविष्टि इस तथ्य का निश्चायक साक्ष्य है कि उसका ताल्लुका एकल वारिस को न्यागमन के नियम से शासित है – इससे यह उपधारणा भी उत्पन्न कि ताल्लुके को लागू कुटुम्ब की रूढ़ि गैर-ताल्लुकेदारी सम्पत्ति को भी लागू – अंतर केवल यह कि ताल्लुकेदारी सम्पदा के मामले में उपधारणा अखंडनीय, जबकि अताल्लुकेदारी सम्पत्ति के बारे में उपधारणा का भिन्न नियम साबित करके खंडन किया जा सकता है ।

निर्णय

जस्टिस सर शादी लाल – अवध प्रांत के गोंडा जिले की उतरौला संपदा के ताल्लुकेदार, राजा मोहम्मद मुमताज अली खां ने 22.4.1930 को नानपारा संपदा के ताल्लुकेदार राजा सआदत अली खां के विरुद्ध कुछ धनराशियों की वसूली के लिए दो डिक्रियां प्राप्त कीं । वे डिक्रियां लखनऊ खण्ड के आयुक्त के 8.4.1930 के अधिनिर्णय पर आधारित थीं । उतरौला के ताल्लुकेदार को देय धनराशि के बारे में निष्कर्ष निकालने के पश्चात् अधिनिर्णय में अंत में कहा गया :–

> "उतरौला के राजा को वार्षिकी की अदायगी उसकी मृत्यु पर समाप्त हो जाएगी । किंतु यदि उसकी मृत्यु 2,09,919 रु0 की बकाया पूरी चुकने के पूर्व हो जाए तो बकाया की अदायगी उसके वारिसों को की जाएगी ।"

2. राजा मोहम्मद मुमताज अली खां की मृत्यु 4.3.1934 को हो गया । उन्होंने मुस्लिम विधि के अधीन चार वारिस छोड़े, अर्थात् उनकी विधवा रानी हुजूर आरा बेगम, उनकी अवयस्क पुत्री राज कुमारी फातमा बेगम

और दो अवयस्क पुत्र राजा मोहम्मद मुस्तफा अली खां और इकबाल अली खां । 18.9.1934 को विधवा रानी हुजूर आरा बेगम ने अपनी ओर से तथा अपनी पुत्री की संरक्षिका के रूप में अवध मुख्य न्यायालय में उक्त दो डिक्रियों के निष्पादन हेतु दो आवेदन दिए । पूरी राशि जिसके लिए निष्पादन चाहा गया, एक डिक्री के अधीन 1,85,925/- रु. 2 आ. 8 पा. थी और दूसरी के अधीन 11,43,237/- रु. 5 आ. 4 पा. थी । आवेदनों में अभिव्यक्त रूप से कहा गया था कि वे विधवा द्वारा अपनी व्यक्तिगत हैसियत से और अपनी पुत्री की संरक्षिका के रूप में तथा दो अवयस्क पुत्रों के लाभ के लिए भी, दिए गए हैं । निर्णीतऋणी ने यह प्रश्नगत किया कि विधवा को अपने पति द्वारा प्राप्त डिक्रियों का निष्पादन कराने का अधिकार है । गोंडा के उपायुक्त ने भी उसके अधिकार के बारे में विवाद उठाया । वह प्रतिपाल्य अधिकरण के प्रतिनिधि के रूप में दोनों अवयस्क पुत्रों के शरीर तथा सम्पत्तियों के प्रभारी थे । उन का कहना था कि एक ही वारिस की विधि और कुटुम्ब की रूढ़ि के अनुसार डिक्रियों के अधीन उसके अधिकारों सहित राजा मोहम्मद मुमताज अली खां की सम्पदा केवल उनके बड़े पुत्र राजा मोहम्मद मुस्तफा अली खां को न्यागत हुई तथा न तो विधवा और न उनके अन्य बच्चे संपदा के किसी भाग के उत्तराधिकारी होने के हकदार हैं । अतः उन्होंने विधवा के डिक्रियों का निष्पादन कराने के अधिकार से इंकार किया ।

3. अवध सम्पदा अधिनियम (सं. 1 सन् 1869) की धारा 8 के अधीन तैयार की गई ताल्लुकेदारों की सूची 2 में उतरौला संपदा के ताल्लुकेदार का नाम है, जिनकी सम्पदा की 13.2.1856 को या उसके पूर्व की कुटुम्ब की रूढ़ि के अनुसार साधारणतया एक वारिस को न्यागत होती है । अधिनियम की धारा 10 में उपबंध है कि न्यायालय उक्त सूची की न्यायिक अवेक्षा करेगा और इस बात को निश्चायक मानेगा कि उसमें नामित व्यक्ति ऐसा ताल्लुकेदार है । दूसरे शब्दों में, संपदा के संबंध में पहले से विद्यमान रूढ़ि थी, जिसके आधार पर उसे सूची 2 में सम्मिलित किया गया, अतः कुटुम्ब की रूढ़ि होने की अखंडनीय उपधारणा है जिसके अनुसार सम्पदा एकल वारिस को न्यागत होती है, किंतु रूढ़ि की निश्चायकता की बाबत यह उपबंध अधिनियमन की व्याप्ति के अंतर्गत आने वाली सम्पदा तक ही सीमित है । यह किसी ऐसी सम्पत्ति को लागू नहीं होती जो सम्पदा या ताल्लुके के अंतर्गत नहीं आती । गैर-ताल्लुकेदारी सम्पत्ति के उत्तराधिकार को शासित करने वाला नियम क्या है ? यदि स्थावर सम्पत्ति जो ताल्लुके

का भाग है एकल वारिस के उत्तराधिकार की रूढ़ि से शासित होती है, तो प्रथमदृष्ट्या कोई कारण नहीं है कि वह स्थावर सम्पत्ति जो ताल्लुके में समाविष्ट नहीं है भिन्न नियम से जाए । वास्तव में यह बोर्ड निर्णय कर चुका है कि यह उपधारणा है कि ताल्लुके के उत्तराधिकार की बाबत नियम गैर-ताल्लुकेदारी स्थावर सम्पत्ति के उत्तराधिकार को भी शासित करता है । **मुर्तजा हुसैन खां** बनाम **मोहम्मद यासीन अली खां**[1] अतः यह नियम प्रतिष्ठित समझा जाना चाहिए कि जहां सूची 2 में किसी ताल्लुकेदार की प्रविष्टि इस बात का निश्चायक साक्ष्य है कि उसका ताल्लुका एकल वारिस को न्यागत होने के नियम से शासित है, वहां यह उपधारणा भी उत्पन्न होती है कि ताल्लुके को लागू कुटुम्ब की रूढ़ि गैर-ताल्लुकेदारी स्थावर सम्पत्ति के उत्तराधिकार को भी शासित करती है । अंतर केवल यह है कि ताल्लुकेदारी संपदा के मामले में एकल वारिस को न्यागत होने के पक्ष में उपधारणा अखंडनीय होती है, जबकि गैर-ताल्लुकेदारी स्थावर सम्पत्ति के मामले में उपधारणा का भिन्न नियम साबित करने वाले साक्ष्य से खंडन किया जा सकता है । तब प्रश्न उठता है कि क्या ताल्लुकेदार द्वारा छोड़ी गई गैर-ताल्लुकेदारी जंगम सम्पत्ति के उत्तराधिकार के मामले में कोई अन्य नियम है । **ठाकुर ईश्वरी सिंह** बनाम **बलदेव सिंह**[2] के पृष्ठ 148 पर कहा गया :–

> "हमारा विचार है कि जिला न्यायाधीश बिल्कुल सही हैं जब वे ताल्लुके की बाबत विधि के आधार पर कुटुम्ब की अन्य सम्पत्ति की बाबत विधि की चर्चा करते हैं और वे कहते हैं कि ताल्लुके से संबंधित वास्तविक निर्णयों के आधार पर उपधारणा है कि कुटुम्ब की अन्य सम्पत्ति भी उसी नियम का अनुसरण करती है, या जैसा कि वे ठीक अभिव्यक्त करते हैं, यह दर्शित करने के लिए कोई साक्ष्य नहीं है कि कुटुम्ब की अन्य सम्पत्ति ताल्लुके से भिन्न न्यागमन क्रम का अनुसरण करती है ।"

4. हमारा ध्यान अधिनियम की धारा 7 की ओर आकर्षित किया गया जिसमें उपबंध है कि यदि ताल्लुकेदार या अनुदान-गृहीता चाहता है कि उसके हाथी, रत्न-आभूषण, आयुध या अन्य जंगम सम्पत्ति उसकी संपदा के साथ न्यागत हों, तो उसे उनकी तालिका बना कर उस जिले के उपायुक्त

---

[1] 43 इंडियन अपील्स 269 = आ. इं. रि. 1916 प्रि. कौ. 89.

[2] (1884) 11 इंडियन अपील्स 135.

के कार्यालय में जमा कर देनी चाहिए जिसमें सम्पदा स्थित है । ऐसा करने पर तालिका में वर्णित वस्तुओं का उस व्यक्ति द्वारा उपभोग और प्रयोग किया जाएगा जिसका अधिनियम के अधीन या उसके आधार पर उक्त संपदा पर वास्तविक कब्जा हो । यह बहस की गई है कि तालिका में वर्णित कुलागत वस्तुओं के न्यागमन हेतु विशेष उपबंध बनाने की आवश्यकता इसलिए हुई कि विधान-मंडल ने विचार किया कि ताल्लुकेदार की जंगम सम्पत्ति संपदा के साथ एकल वारिस को न्यागत नहीं होगी बल्कि उन व्यक्तियों को न्यागत होगी जो सामान्य विधि के अधीन उसके वारिस हों । हमारा विचार है कि धारा का उद्देश्य यह था कि ताल्लुकेदार यह सुनिश्चित कर सके कि तालिका में वर्णित कुलागत वस्तुएं प्रत्येक दशा में संपदा के साथ न्यागत हों, किंतु यह इस निष्कर्ष का समर्थन नहीं करता कि विधान-मंडल का आशय था कि जंगम सम्पत्ति की विरासत, जिसकी कोई तालिका नहीं बनाई गई है, सामान्य विधि से शासित हो । परिणाम यह है कि स्थावर और जंगम गैर-ताल्लुकेदारी सम्पत्ति, उसी रूढ़ि साबित करने वाला कोई साक्ष्य नहीं है । अतः अपील न्यायालय के निर्णय की, जिसने अवध मुख्य न्यायालय के एकल न्यायमूर्ति के निर्णय से असहमति प्रकट की, पुष्टि की जानी चाहिए । तदनुसार हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि ये समेकित अपीलें खर्चे सहित खारिज की जानी चाहिएं । खर्चा उतरौला सम्पदा के स्वामी बड़े पुत्र राजा मुस्तफा अली खां के प्रतिनिधि प्रत्यर्थी उपायुक्त को दिया जाएगा ।

अपीलें खारिज की गईं ।

बावा फकीर सिंह............................अपीलार्थी

बनाम

सम्राट........................प्रत्यर्थी

(लाहौर उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 38 सन् 1938)

निर्णीत : 21.7.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, लार्ड पोर्टर, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 – धारा 337 – जहां आरोपित अपराध धारा 337 के अंतर्गत हैं और मजिस्ट्रेट क्षमादान इस धारा के शब्दों में इस शर्त पर करता है कि संबंधित व्यक्ति अपनी जानकारी के सब तथ्यों का पूर्ण और सत्य प्रकटन करेगा तथा कि क्षमादान स्वीकार करने वाले व्यक्तियों के उन मजिस्ट्रेटों के समक्ष अलग-अलग बयान कराए जाते हैं जिन्होंने अपराध का संज्ञान किया है, तो उपधारा (2-क) की अपेक्षाएं स्वतः लागू हो जाती हैं, जिनके अनुसार यदि यह विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त आधार हो कि अभियुक्त अपराध का दोषी है तो उसे सेशन न्यायालय या उच्च न्यायालय के सुपुर्द किया जाएगा – यदि स्थानीय सरकार के प्रकट कार्य ऐसे हैं जो केवल धारा 337 को ही निर्दिष्ट कर सकते हैं, तो उसके इस धारा के अधीन कार्रवाई न करने के आशय का कोई महत्व नहीं – यदि जिस ढंग से क्षमा दी गई वह सारतः धारा 337 में दिए गए ढंग का अनुसरण करता है तो धारा लागू होगी – धारा के अधीन क्षमा-दान का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह कि विचारण अन्य मजिस्ट्रेट द्वारा न होकर उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय द्वारा होगा – उससे अंतर नहीं पड़ता कि मजिस्ट्रेट ने उपधारा (1क) के अधीन अपने कारण नहीं लिखे ।

– **धारा 337 व 494** – धारा 337 के अधीन की गई कार्यवाही धारा 494 की कार्यवाही से भिन्न – पूर्ववर्ती धारा के अधीन कार्रवाई न्यायिक अधिकारी द्वारा की जाती है, जबकि पश्चात्वर्ती धारा कार्यपालिक अधिकारी की कार्रवाई के बारे में है – धारा 494 क्षमा की बाबत कुछ नहीं कहती ।

निर्णय

जस्टिस लार्ड राइट – लाहौर जिले के विशेष मजिस्ट्रेट ने 28.5.1936 को अपीलार्थी को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 120ख

(षड्यंत्र) और धारा 471 (कूट रचित दस्तावेज को कूट रचित जानते हुए उसका असली के रूप में प्रयोग करना) के अधीन सिद्धदोष पाया और दण्डादेश दिया । दण्डादेश 5 वर्ष के कठोर करावास का था । अपील में दोषसिद्धि और दण्डादेश की पुष्टि कर दी गई । प्रस्तुत अपील का आधार यह है कि विशेष मजिस्ट्रेट को मामले पर विचार करने की अधिकारिता नहीं थी, क्योंकि वह दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 337 के अंतर्गत आता है और मामले की परिस्थितियों में केवल उच्च न्यायालय या सेशन न्यायलय उस पर विचार कर सकता था । लाहौर उच्च न्यायालय ने निर्णय इस आपत्ति के विरुद्ध दिया और इसी निर्णय के विरुद्ध यह अपील की गई । सुसंगत तथ्य विवादग्रस्त नहीं हैं और संक्षेप में कथित किए जा सकते हैं । अपीलार्थी उच्च न्यायालय का अधिवक्ता है । वह जी.एस. कोचर का काउंसेल था जो वरिष्ठ अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय में वचनपत्र पर आधारित एक वाद में वादी था । वादी प्रतिवादियों में से दो के विरुद्ध अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय और अपील दोनों में सफल रहा । इस बीच प्रतिवादी दुर्गादास ने, जिसके विरुद्ध वाद खारिज कर दिया गया था, शिकायत की कि वचनपत्र पर उसके हस्ताक्षर कूट रचित हैं । पुलिस रिपोर्ट पर कार्रवाई करते हुए 14.5.1928 को जिला मजिस्ट्रेट ने छह व्यक्तियों के विरुद्ध वारंट जारी करने का निदेश दिया । इनमें अपीलार्थी और दो अन्य व्यक्ति साईं दास तथा विश्वामित्र भी थे । 3.6.1928 को जिला मजिस्ट्रेट ने साईं दास को, जो अभिरक्षा में था, अपने सामने बुलवाया और उसे एक दस्तावेज पढ़कर सुनाई, जो स्थानीय सरकार द्वारा उसे भेजे गए एक पत्र के साथ संलग्न थी । वह पत्र जिला मजिस्ट्रेट के अपने एक पत्र के उत्तर में था जो एक या अधिक अभियुक्तों से साक्ष्य प्राप्त करने के प्रश्न पर था । वह दस्तावेज इन शब्दों में थी :–

"विषय : ला. नागरमल के पुत्र साईं दास को क्षमादान के वचन की मंजूरी

महोदय,

आपकी 19.5.1928 की अशासकीय टिप्पणी सं. 751 के उत्तर में, सपरिषद् गवर्नर द्वारा मुझे यह कहने का निदेश हुआ है कि साईं दास को संलग्न प्रारूप के शब्दों में क्षमादान का वचन दे दिया जाए ।"

2. उक्त संलग्न प्रारूप इस प्रकार था :–

"वचन

यतः साईं सनदास पुत्र ला. नागरमल, जाति खत्री, प्रबंधक,

केंद्रीय सहकारी बैंक, करनाल ने बा. फकीर सिंह, पुत्र बा. बीर सिंह, बल्ला, अधिवक्ता, उच्च न्यायालय लाहौर तथा पार्श्व में वर्णित अन्य व्यक्तियों के आपराधिक कार्यों के संबंध में अपनी जानकारी के समस्त तथ्यों के पूर्ण और सही प्रकटन का वचनबंध दिया है और यतः सपरिषद् महामहिम गवर्नर ने प्रसादपूर्वक निदेश दिया है कि इस शर्त पर कि उक्त साईं दास ऐसा पूर्ण और सत्य कथन करे, उक्त अपराधों के संबंध में उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जाएगी । अतः लाहौर के उपायुक्त को उक्त साईं दास को यह सूचित करने के लिए प्राधिकृत किया जाता है कि यदि वह प्रश्नगत मामलों की अपनी जानकारी की समस्त परिस्थितियों को पूर्ण और सत्य रूप से प्रकट करता है तथा जब उसे ऐसा करने के लिए कहा जाए तो न्यायालय में उन्हें दोहराता है, तो उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जाएगी ।

सपरिषद् गवर्नर के आदेश से

(ह/-) एच. एम. कोवन

गृह सचिव, पंजाब सरकार”

शिमाला

25.5.1928

1. बा. शमशेर सिंह, पुत्र बीर सिंह
2. राम लाल, पुत्र केशव राम, लिपिक महा डाकपाल कार्यालय
3. गण्डा सिंह कोचर, पुत्र एम. एस. कोचर
4. विश्वामित्र पुत्र दीना नाथ, लिपिक फीरोजपुर आयुधशाला

3. साईं दास को जब प्रारूप पढ़कर सुनाया गया तो उसने उसकी शर्तें स्वीकार कर लीं । तब जिला मजिस्ट्रेट ने निम्नलिखित आदेश अभिलिखित किया :–

“साईं दास उपस्थित है । शर्तें उसे स्पष्ट रूप से पढ़कर सुनाई गई और उसने उन्हें स्वीकार किया । लोक अभियोजक को अधिकृत किया जाता है कि उसके विरुद्ध मामला वापिस ले लें ।”

हस्ताक्षरित (एस. एच. फ्कले)

जिला मजिस्ट्रेट

3.6.29

4. श्री पकिल जिला मजिस्ट्रेट और उपायुक्त दोनों पद धारण करते थे। मामले की कार्यवाही में बड़ा विलम्ब हुआ और वह लम्बी चली। अंततः अपीलार्थी द्वारा विभिन्न अभ्यापत्तियों और आपत्तियों के पश्चात् लोक अभियोजक ने विशेष मजिस्ट्रेट श्री लूथरा को, जिन्हें मामला अंतरित हो गया था और जिनमें संहिता की धारा 30 के अधीन शक्तियां निहित थीं, आवेदन दिया कि साईं दास के विरुद्ध अभियोजन वापस लेने की अनुज्ञा दी जाए। विशेष मजिस्ट्रेट ने 4.7.1932 के आदेश में लोक अभियोजक को दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 494 के अधीन मामला वापिस लेने की अनुज्ञा दे दी। अपीलार्थी ने विभिन्न आधारों पर इस आदेश के विरुद्ध आपत्ति की, विशेषकर कि मामले में केवल धारा 337 द्वारा यथा अपेक्षित सेशन न्यायाधीश के समक्ष विचारण से अन्यथा विचारण कराना चाह रहा है। इस पर साईं दास को 9.3.1933 को मजिस्ट्रेट श्री लूथरा के समक्ष अभियोजन के साक्षी के रूप में बुलाया गया। 7.4.1933 को अभियुक्तों में से एक अन्य विश्वामित्र को लाहौर के अपर जिला मजिस्ट्रेट के समक्ष बुलाया गया और मजिस्ट्रेट ने उसे क्षमादान का एक सशर्त वचन पढ़कर सुनाया। उसी प्रक्रिया का अनुसरण किया गया जिसका अनुसरण साईं दास के मामले में किया गया था। विश्वामित्र ने आफर स्वीकार कर लिया। तब संहिता की धारा 494 के अधीन विश्वामित्र के विरुद्ध मामला वापिस लेने की इजाजत के लिए विशेष मजिस्ट्रेट श्री लूथरा को आवेदन दिया गया। अपीलार्थी ने बहुत कुछ उन्हीं आधारों पर, जो कि साईं दास के मामले में थे आपत्ति की, किंतु मजिस्ट्रेट ने आदेश कर दिया और सम्यक् अनुक्रम में विश्वामित्र ने मजिस्ट्रेट के समक्ष साक्ष्य दिया।

5. लंबी कार्यवाही पूरी करने के पश्चात् 26.5.1936 को श्री लूथरा ने निर्णय दिया। अभियुक्तों में से दो को दोषमुक्त किया गया पर अपीलार्थी और एक अन्य अभियुक्त को दण्ड संहिता की धारा 471, 467 और 120ख के अधीन दोषी पाया गया और उन्हें 5 वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। दोषसिद्धि में कुछ परिवर्तन के साथ अपील में इस दण्डादेश की पुष्टि कर दी गई। कार्यवाही के दौरान यह स्पष्ट था कि विशेष मजिस्ट्रेट का आशय धारा 337 की अपेक्षानुसार अभियुक्तों को सेशन सुपुर्द करने का नहीं था। उन्होंने न केवल धारा 494 के अधीन साईं दास और विश्वामित्र का उन्मोचन मंजूर किया, अपितु धारा 206 से 210 तक के अधीन, जो विचारणार्थ सुपुर्दगी को लागू होती हैं, कार्यवाही करने की बजाय साक्षियों की परीक्षा पूरी होने से पूर्व धारा 254 के अधीन अपीलार्थी के विरुद्ध आरोप विरचित किए। अपीलार्थी ने इस प्रक्रिया पर आपत्ति की।

उसने दावा किया कि वह धारा 337 के अधीन विचारणार्थ सुपुर्द किए जाने का हकदार है, किंतु अंततः उच्च न्यायालय के न्यायमूर्तिगण भिडे और कोल्डस्ट्रीम के खंड न्यायपीठ ने उसकी आपत्ति अमान्य कर दी । 29.10.1934 को दिए गए निर्णय में उन्होंने आपत्ति अस्वीकार कर दी और परिणामस्वरूप मजिस्ट्रेट के समक्ष विचारण जारी रहा और पूरा हुआ, जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है ।

6. प्रश्न यह है कि क्या मजिस्ट्रेटों ने दो इकबाली साक्षियों को क्षमादान करने का प्रस्ताव (आफर) देते समय जो किया तथा जो बाद में हुआ उससे धारा 337 और पश्चात्वर्ती सुसंगत धाराएं लागू हो गईं । संहिता की सुसंगत धाराओं का संक्षेप में उल्लेख करना सुविधापूर्ण होगा । धारा 337 कतिपय ऐसे अपराधों तक सीमित है जिनमें वे अपराध भी हैं जो अनन्यतः उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय द्वारा विचारणीय है या दस वर्ष तक के कारावास से दण्डनीय अपराध हैं । अंतिमोक्त में वे अपराध आ जाते हैं जिनका अपीलार्थी पर आरोप लगाया गया था । धारा कतिपय मजिस्ट्रेटों को शक्ति प्रदान करती है कि वे अपराध से संपृक्त या संसर्गित समझे जाने वाले किसी व्यक्ति का साक्ष्य प्राप्त करने की दृष्टि से अपराध के अन्वेषण या जांच या विचारण के किसी भी प्रक्रम पर उसे इस शर्त पर क्षमा प्रदान कर दें कि वह अपराध के संबंध में जो भी जानता है उसको पूर्ण और सत्य प्रकट कर दे । इस धारा के अधीन क्षमा प्रदान करने वाले मजिस्ट्रेट को ऐसा करने के अपने कारण लिखने पड़ते हैं और यदि अभियुक्त चाहे तो उसे उसकी एक प्रति देनी होती है । जो व्यक्ति इस धारा के अधीन क्षमादान स्वीकार करता है, उसकी मजिस्ट्रेट के न्यायालय में और पश्चात्वर्ती विचारण में, यदि कोई हो, परीक्षा की जाएगी । उपधारा (2क) इस मामले के लिए महत्वपूर्ण है । यह उपबंधित करती है :–

> "(2क) हर मामले में, जिसमें किसी व्यक्ति ने क्षमा का निविदान प्रतिगृहीत कर लिया है और जिसकी उपधारा (2) के अधीन परीक्षा की जा चुकी है, यदि उस मजिस्ट्रेट का जिसके समक्ष कार्यवाही लंबित है समाधान हो जाता है कि यह विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त आधार है कि अभियुक्त अपराध का दोषी है तो वह उसे, यथास्थिति, सेशन न्यायालय या उच्च न्यायालय को विचारणार्थ सुपुर्द करेगा ।"

7. धारा 338 उस न्यायालय को जिसे सुपुर्दगी की गई है शक्ति प्रदान करती है कि ऐसी शर्त पर क्षमादान करे या क्षमादान करने का आदेश मजिस्ट्रेट को दे । धारा 339 उस व्यक्ति के विचारण की बाबत है जिसे धारा 337 या 338 के अधीन सशर्त क्षमा दी गई है और लोक अभियोजक

प्रमाणित करता है कि उस व्यक्ति ने पूर्ण और सत्य प्रकटन की शर्त पूरी नहीं की है । धारा 339क में उपबंध है कि उस व्यक्ति से, जिसने क्षमादान स्वीकार कर लिया है, उसका विचारण धारा 339 के अधीन होते समय, पूछा जाएगा कि क्या वह अभिवचन करता है कि उसने क्षमा की शर्तों का अनुपालन किया है, और यदि यह पाया जाता है कि उसने किया है तो वह दोषमुक्त कर दिया जाएगा । इस अपील में विरोधी कथनों पर विचार करने से पूर्व, धारा 494 के प्रति निर्देश करना आवश्यक होगा । प्रत्यर्थी का कहना है कि यह वह धारा है जिसका कार्यवाही में प्रयोग किया गया है । यह धारा लोक अभियोजक को यह शक्ति प्रदान करती है कि वह न्यायालय की सम्मति से जूरी द्वारा विचारित मामलों में अधिमत दिए जाने से पूर्व, और जहां कोई जूरी न हो वहां निर्णय सुनाए जाने के पूर्व, किसी व्यक्ति के अभियोजन से प्रत्याहृत हो जाए और ऐसा होने पर यदि प्रत्याहरण आरोप विरचित होने से पहले किया जाए तो अभियुक्त को उन्मोचित कर दिया जाएगा, और यदि प्रत्याहरण आरोप विरचित होने के पश्चात् किया जाए अथवा जहां आरोप अपेक्षित न हो वहां वह दोषमुक्त कर दिया जाएगा । प्रत्यर्थी का दावा है कि धारा 494 के अधीन ही लोक अभियोजक ने आरोप प्रत्याहृत किया और यह न्यायालय की सम्मति से किया गया । अतः अभियुक्त को यह दावा करने का कोई अधिकार नहीं है कि वह उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय द्वारा धारा 337 के अधीन विचारण का हकदार है, जहां कि इकबाली साक्षी अपने विचारण हेतु धारा 339 और 339क द्वारा उपबंधित प्रक्रिया के फायदे का दावा नहीं कर सकता । धारा 494 के खंड (क) के अधीन इकबाली साक्षी मात्र उन्मोचित किया जाता है, जिसका अर्थ है कि उसी अपराध के लिए उसका पुनः विचारण किया जा सकता है ।

8. यह स्पष्ट है कि दोनों इकबाली साक्षियों, साईं दास और विश्वामित्र के मामले में प्रत्याहरण का आवेदन और न्यायालय की सम्मति मानो धारा 494 के अधीन दी गई थी । किंतु यहां अवधार्य विवाद्यक यह है कि क्या सशर्त क्षमता देने के संबंध में और उसके स्वीकार किए जाने पर इकबाली साक्षियों की परीक्षा करने के पहले की गई कार्रवाई ऐसी कार्रवाई नहीं थी जो केवल धारा 337 के अधीन की जाने से संगत थी और इस कारण से वह अभियोजन पक्ष को यह दावा करने से वर्जित करती है कि तत्पश्चात् वह धारा 337 के उपबंधों की उपेक्षा करने और धारा 494 के अधीन आगे कार्यवाही करने का हकदार है । हमारी राय है कि अभियोजन पक्ष इस प्रकार हकदार नहीं था, अतः यहां धारा 494 के ठीक पूर्व की चर्चा करना या किसी ऐसे प्रश्न पर विचार करना जो धारा 343 के बारे में उद्भूत हो सकेगा आवश्यक नहीं है । धारा 343 की स्पष्ट भाषा के

अनुसार वह धारा 337 को लागू नहीं होती, यदि कार्रवाई उसके अधीन नहीं की गई हो । हमारे विचार से इस मामले में जो किया गया वह सारतः धारा 337 के अंतर्गत आता है । आरोपित अपराध इस धारा में आते थे । मजिस्ट्रेट ने क्षमादान इस धारा के निबंधनों के अनुसार किया । यह स्पष्ट रूप से इस शर्त पर किया गया कि वह व्यक्ति जिसे यहां संबोधित किया गया है सब तथ्यों (या परिस्थितियों) को जो उसके ज्ञान में हैं पूर्ण और सत्य प्रकटन कर दें । यह भी दृष्टव्य है कि जिन व्यक्तियों ने मजिस्ट्रेट से क्षमादान स्वीकार किया उनकी अपराध का संज्ञान करने वाले मजिस्ट्रेटों के समक्ष पृथक्-पृथक् परीक्षा की गई । तब उपधारा (2क) की अपेक्षाएं स्वतः लागू हो गईं, जो यह है कि यदि यह विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त आधार हो कि अभियुक्त अपराध का दोषी है, तो उसे सेशन न्यायालय का उच्च न्यायालय के सुपुर्द किया जाएगा । वह कथन किया गया कि मजिस्ट्रेट ने उपधारा (1क) की अपेक्षानुसार अपने कारण अभिलिखित नहीं किए । किंतु यह मजिस्ट्रेट द्वारा मात्र एक अनियमितता है । अभियुक्त या इकबाली साक्षी का अधिकार इससे प्रभावित नहीं होगा कि मजिस्ट्रेट ने अभियुक्त के फायदे के लिए अधिरोपित किसी अपेक्षा का पालन नहीं किया और हमारे विचार में न यह महत्वपूर्ण है कि मजिस्ट्रेट ने क्षमादान स्थानीय सरकार से परामर्श करने के पश्चात् और उसके प्राधिकार से किया । यह प्रशासन का आंतरिक मामला है, जो अभियुक्त या इकबाली साक्षी की स्थिति को प्रभावित नहीं कर सकता । सार की बात यह है कि मजिस्ट्रेट ने इकाबली साक्षी को क्षमा प्रदान की । यह प्रत्यक्ष है कि धारा 337 के अधीन कार्यवाही की प्रकृति उससे भिन्न है जो धारा 494 के अधीन की जाती है । धारा 494 संहिता के भिन्न अध्याय में है । धारा 337 अध्याय 24 में है, जो जांचों और विचारणों के साधारण उपबंधों के बारे में है । धारा 494 अध्याय 38 में है, जिसका शीर्षक है "लोक अभियोजकों के विषय में ।" अर्थात् पूर्ववर्ती धारा न्यायिक अधिकारी के कार्रवाई की बाबत है जबकि पश्चात्वर्ती धारा कार्यपालक अधिकारी की कार्रवाई की बाबत है । धारा 494 क्षमा के बारे में कुछ नहीं कहती है । यह अभियोजन से न्यायालय की सम्मति से प्रत्याहरण का साधारण कार्यपालक विवेकाधिकार देती है, जिसका प्रयोग बहुत से सम्भव आधारों पर किया जा सकता है, जिनमें निस्संदेह एक आधार यह है कि वह व्यक्ति जिसके संबंध में आरोप प्रत्याहृत किया जाए, साक्ष्य देने की रजामंद हो । किंतु धारा 494 के अधीन संपूर्ण प्रक्रिया और परिणाम धारा 337 के अधीन प्रक्रिया और परिणामों से भिन्न हैं । निःसंदेह प्रस्तुत कार्यवाही के पश्चात्वर्ती प्रक्रम पर अभियोजन ने धारा 494 के अधीन तात्पर्यित कार्रवाई करके स्वयं को उसके अंतर्गत लाना चाहा, किंतु हमारी राय में तब तक इतना विलंब हो चुका था कि अपीलार्थी या

इकबाली साक्षियों के विरुद्ध स्थिति परिवर्तित नहीं की जा सकती थी ।

9. यह कहा गया है कि स्थानीय सरकार का आशय धारा 337 के अधीन कार्रवाई करने का नहीं था । किंतु यदि उसके प्रकट कार्य ऐसे हैं जो केवल धारा 337 के प्रति निर्देश से ही है तो उसके उस धारा के अधीन कार्रवाई न करने के आशय का कोइ महत्व नहीं हो सकता । इस पर विचार करना आवश्यक नहीं है कि क्या अभियोजन पक्ष धारा 337 का फायदा उठाना चाहता था, और साथ ही वह उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय द्वारा मामले का विचारण कराने के उसके परिणाम से बचना भी चाहता था, क्योंकि हमारी राय में यह असंभव है कि वह दोनों ओर का लाभ उठा ले । यदि जिस ढंग से क्षमा दी गई वह सारतः धारा 337 में ंदिए गए ढंग का अनुसरण करता है, तो वह धारा अवश्य लागू होगी । छैंटी-मोटी और अतालिक अनियमितताओं या पड्ढेरफारों से धारा का प्रवर्तन प्रभावित नहीं माना जा सकता । यह निर्णय करने में हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि हम क्षमादान के सामान्य परमाधिकार (rerogative right) के बारे में, कोई शंका व्यक्त कर रहे हैं । हम यहां उसकी इस विशेष बैंत के साथ धारा 337 में विहित विशेष कानूनी तंत्र पर विचार कर रहे हैं जिसके विशिष्ट लक्षण हैं कि उक्त धारा के अधीन क्षमा एक न्यायिक कार्य है जो विधि द्वारा विहित सावधानी के साथ उसके नियमों के अनुसार और परिणामों के साथ किया जाना है । एक परिणाम जो कदाचित् सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणाम है यह है कि जब किसी मजिस्ट्रेट ने क्षमादान दिया हो तो विचारण उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय द्वारा होगा, न कि किसी अन्य मजिस्ट्रेट द्वारा, भले ही वह धारा 30 के अधीन उस अपराध का विचारण करने को सशक्त हो ।

10. इन कारणों से हमारी राय है कि यहां विचारण अधिकारिता के बिना था, अतः अपील मंजूर की जानी चाहिए तथा दोषसिद्धि और दण्डादेश अपास्त किए जाने चाहिएं । हमारी राय में मामला इस निदेश के साथ मजिस्ट्रेट को प्रतिप्रेषित किया जाना चाहिए कि वे धारा 337 (2-क) के अधीन उपयुक्त कार्रवाई करें । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है ।

अपील मंजूर की गई ।

पीपिल्स बैंक ऑफ नार्दर्न इंडिया लि. ....अपीलार्थी

बनाम

मियां गुलाम जान और एक अन्य......................प्रत्यर्थी

(पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के विरुद्ध प्रि.कौ. अपील सं. 1 सन् 1938)

निर्णीत : 22.7.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, लार्ड पोर्टर, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

पर्दानशीन महिला – पर्दानशीन महिला द्वारा अपनी सम्पत्ति के व्ययन पर विचार करते समय न्यायालय को अपना समाधान करना होता है कि संव्यवहार पर्दानशीन महिला को समझा दिया गया था और वह जानती थी कि वह क्या कर रही है ?

निर्णय

जस्टिस सर शादी लाल – प्रत्यर्थी मियां गुलाम जान पेशावर में कालीनें बेचने-खरीदने का कारबार करता था और अपने कारबार के प्रयोजनार्थ उसने अपीलार्थी पीपिल्स बैंक ऑफ नार्दर्न इंडिया लि. से "नकद उधार खाते" के आधार पर रुपया उधार लिया । उसने बैंक से एक अन्य ऋण भी लिया, जिसके लिए 29.8.1930 को एक वचनपत्र निष्पादित किया और ऋण की अदायगी हेतु प्रतिभूति के रूप में अपने कालीन गिरवी रख दिए । अप्रैल, 1931 के अंत में उसे नकद उधार खाते में 3110/- रु. 7 आ. 9 पा. और वचनपत्र पर 11,740/- रु. 14 आ. 3 पा. बैंक को देने थे । अतः उसके द्वारा देय कुल राशि 14,851/- रु. 6 आ. थी । उसने रुपया अदा नहीं किया । परिणामस्वरूप बैंक ने धमकी दी कि वह कालीनों को बेच कर ऋण वसूल करने के लिए उसके विरुद्ध दावा करेगा । किंतु ऋणी ने लेनदार के पक्ष में एक बंधक-विलेख निष्पादित करके अदायगी के लिए समय प्राप्त कर लिया । बंधक विलेख ऋणी द्वारा दो खातों मध्ये देय राशि तथा 148/- रु. 10 आ. प्रतिभूत करने के लिए लिखा गया, जो ऋणी को 15,000/- का पूर्णांक करने के लिए संव्यवहार के समय दिए गए । इस समेकित राशि की अदायगी हेतु एक मकान था, जिसके स्वामी ऋणी मियां गुलाम जान और उसकी पत्नी श्रीमती मोहमदी बेगम दोनों का बराबर था । बंधक धन हेतु मकान में अपने भाग को दायित्वाधीन करने के लिए श्रीमती मोहमदी बेगम ने बंधक विलेख पर अपना अंगूठा निशान लगाया । बंधक विलेख की बहुत-सी शर्तों में एक यह थी कि बंधक-धन 9% प्रतिवर्ष की दर से ब्याज सहित एक वर्ष के भीतर अदा कर दिया

जाएगा । यह करार हुआ था कि लेनदार एक वर्ष बीतने से पूर्व बंधक-ऋण वसूल करने का हकदार नहीं होगा, किंतु बंधककर्ताओं द्वारा ऋण अदा न किए जाने की दशा में नियत अवधि बीत जाने पर वह अपना दावा कर सकता था ।

2. बंधककर्ताओं ने एक वर्ष के भीतर अदायगी का वचन पूरा नहीं किया । परिणामतः बैंक ने उनका व्यक्तिगत दायित्व प्रवर्तित कराने और ऋण की प्रतिभूति के रूप में बंधकित मकान के विक्रय द्वारा ऋण वसूल करने हेतु उनके विरुद्ध यह वाद संस्थित किया । भारत के न्यायालय पति के विरुद्ध डिक्री के विषय में एकमत हैं, किंतु उन्होंने पत्नी और मकान में उसके भाग को दायित्व से मुक्ति दे दी है । अपील न्यायालय का निर्णय इस आधार पर आगे चला कि अपने पति का ऋण अदा करने के लिए उसके वचन का कोई प्रतिफल नहीं था । यह साबित करने का कोई साक्ष्य नहीं है कि श्रीमती मोहमदी बेगम, जो स्वीकृत रूप से एक पर्दानशीन महिला है और पढ़ने-लिखने में असमर्थ है, बंधक विलेख की विषयवस्तु जानती और समझती थी, जिससे ऋण की अदायगी हेतु मकान में उसका भाग दायित्वाधीन करने के लिए किया गया था । विलेख के रजिस्ट्रीकरण के समय उप रजिस्ट्रार द्वारा किया गया पृष्ठांकन संदिग्धार्थी भाषा में है और यह प्रकट नहीं करता कि उसने या किसी अन्य व्यक्ति ने विलेख उसे समझाया । यह नियम सुस्थापित है कि पर्दानशीन महिला द्वारा अपनी सम्पत्ति के व्ययन पर विचार करते समय न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह अपना समाधान करे कि संव्यवहार पर्दानशीन महिला को समझा दिया गया था और वह जानती थी कि वह क्या कर रही है । श्रीमती मोहमदी बेगम ने यह प्रश्न अभिव्यक्त रूप से उठाया था, पर इस पर कोई विवाद्यक नहीं विरचित किया गया था, सिवाय इस विवाद्यक के कि क्या उसने विलेख अपने पति के असर के अधीन निष्पादित किया । यथाविद्यमान अभिलेख के आधार पर हम यह विनिश्चय करने में असमर्थ हैं कि उसका दायित्व साबित किया गया है । इस दृष्टि से प्रतिफल के प्रश्न पर चर्चा अनावश्यक है, और वह विशेष रूप से इस कारण कि विलेख के अतिरिक्त यह दर्शित करने का और कोई साक्ष्य नहीं है कि यह श्रीमती मोहमदी बेगम के अनुरोध पर था, कि बैंक ने विलेख में वर्णित यह शर्त मानी कि वह उसके पति के विरुद्ध दायित्व एक वर्ष की अवधि के दौरान प्रवर्तित नहीं करेगा । अतः अपील असफल होती है और खर्चे सहित खारिज की जानी चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तद्नुसार है ।

अपील खारिज की गई ।

जार्ज वाल्केम शनोन और अन्य........................अपीलार्थी

बनाम

लोअर मैनलेंड डेयरी प्रोडक्ट्स बोर्ड और एक अन्य......प्रत्यर्थी

(ब्रिटिश कोलम्बिया के कोर्ट ऑफ अपील के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 81 सन् 1937)

निर्णीत : 27.7.1938

उपस्थित : लार्ड चांसलर (लार्ड मोघम), लार्ड एटकिन, लार्ड थेंकरटन, किलोवेन के लार्ड रसेल व लार्ड मेकमिलन

ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट, 1867 – धारा 91(2) – ब्रिटिश कोलम्बिया विधान-मंडल द्वारा पारित नेचुरल प्रोडक्ट्स मार्केटिंग (ब्रिटिश कोलम्बिया) ऐक्ट, 1936 सारतः राज्य के अंतर्गत विनियमन के लिए है – अतः वह राज्य की विधायी शक्ति के अंतर्गत है।

– उक्त अधिनियम में लाइसेंस फीस लेने की व्यवस्था राज्य विधान मंडल की शक्ति के अंतर्गत है – प्रविष्टियों का उल्लेख किया गया ।

– राज्य विधान-मंडल की शक्ति में शक्तियों के प्रत्यायोजन की तथा प्रत्यायोजन का अधिकार देने की शक्ति भी आती है ।

सांविधानिक विधि – विधान-मंडल की अधिकारिता का निर्णय करने के लिए प्रश्नगत विधायन का सार-तत्व देखना चाहिए – यदि सारतः वह राज्य विधान-मंडल की शक्ति के अंतर्गत है तो आनुषंगिक रूप से कुछ अतिक्रमण के कारण असंवैधानिक नहीं होगा।

निर्णय संक्षेप

जस्टिस लार्ड एटकिन – यह अपील ब्रिटिश कोलम्बिया के कोट आफ अपील के एक विनिश्चय के विरुद्ध की गई है । अपीलार्थी ब्रिटिश कोलम्बिया प्रांत में डेयरी का कारबार करते हैं । उस प्रांत के सपरिषद् लेफ्टिनेंट गवर्नर ने एक दुग्ध विपणन स्कीम अनुमोदित की, जो नेचुरल प्रोडक्ट्स मार्केटिंग (ब्रिटिश कोलम्बिया) ऐक्ट, 1936 के अधीन बनाई गई थी । इस स्कीम ने लोअर मैनलैंड डेयरी प्रोडक्ट्स बोर्ड (प्रतिवादी) की स्थापना की तथा अन्य स्तरों पर भी बोर्ड की स्थापना की व्यवस्था की । इससे अपीलार्थियों का कारबार प्रभावित हुआ । अतः उन्होंने एक वाद दाखिल किया कि वे प्रतिवादी बोर्ड से लाइसेंस लेने और उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए आबद्ध नहीं हैं क्योंकि स्वयं उक्त अधिनियम प्रांतीय

विधान-मंडल की शक्ति के बाहर है । प्रांत के एटार्नी जनरल उस वाद में मध्यपेक्षी बने । विचारण न्यायाधीश ने वाद डिक्री कर दिया ; किंतु कोर्ट ऑफ अपील ने वह निर्णय उलट दिया । अतः उस निर्णय के विरुद्ध अपील की गई ।

2. ब्रिटिश कोलम्बिया विधान-मंडल ने उक्त अधिनियम नवम्बर, 1934 में पारित किया । उसने सपरिषद् लेफ्टिनेंट गवर्नर को ब्रिटिश कोलम्बिया विपणन बोर्ड स्थापित करने तथा डोमीनियन विपणन बोर्ड की सहायता से कार्य करने को प्राधिकृत किया । डोमीनियन विपणन बोर्ड की स्थापना नेचुरल प्रोडक्ट्स मार्केटिंग ऐक्ट, 1934 नामक डोमीनियम ऐक्ट के अधीन की गई थी । गवर्नर जनरल द्वारा निर्देश किए जाने पर कनाडा के सुप्रीम कोर्ट ने 17.6.1936 को निर्णय किया कि यह अधिनियम डोमीनियन विधान-मंडल की अधिकारिता के बाहर है । **डोमीनियन नेचुरल प्रोडक्ट्स मार्केटिंग ऐक्ट, 1934 का मामला- (1936) सु. को. रि. 398 (1937) अपील केसेज 377 ।** इस निर्णय की पुष्टि इस बोर्ड ने कर दी है । इस बीच ब्रिटिश कोलम्बिया विधान-मंडल ने 1936 में एक संशोधन अधिनियम अधिनियमित किया । अधिनियम की धारा 4(1) में बताया गया है कि यह प्रांत के अंतर्गत प्राकृतिक उत्पादों के परिवहन, पैक करने, भण्डारण और विपणन के नियंत्रण और विनियमन के लिए है, जिसमें उक्त ऐसे कार्यों का पूर्णतः या अंशतः प्रतिषेद्ध भी आता है । इसके अधीन एक केंद्रीय विपणन बोर्ड के लिए व्यवस्था है जो सारे ब्रिटिश कोलम्बिया प्रांत के लिए होगा तथा अन्य विपणन बोर्डों की स्थापना की शक्ति भी प्रदान की गई है । लं. गवर्नर इस बोर्ड को अन्य शक्तियां भी प्रदान कर सकते हैं जिनमें कि वार्षिक, षड्मासिक और मासिक लाइसेंस फीस की वसूली भी है ।

3. इस अधिनियम पर आपत्ति तीन आधारों पर की गई है : (1) वह ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट, 1867 की धारा 91(2) के अतिक्रमण करता है जो व्यापार और वाणिज्य के विनयमन के विषय में है और डोमीनियन विधान-मंडल का विषय है ; (2) यह धारा 91(3) के भी अतिक्रमण करता है जो किसी प्रकार के कराधान से धन की वसूली के विषय में है और केंद्रीय विषय है ; (3) संवैधानिक प्राधिकार के बिना यह अधिनियम सपरिषद् ले. गवर्नर को विधायी शक्ति प्रत्यायोजित करता है । इन आपत्तियों को क्रमशः लिया जाता है ।

4. प्रथमतः यह अधिनियम केवल उस क्रियाकलाप के संदर्भ में है जो पूर्णतः प्रांत के अंतर्गत हों । यह कहना गलत होगा कि अधिनियम प्रांत में उत्पन्न प्राकृतिक उत्पादों तक सीमित है, किंतु इसके अंतर्गत आने वाले

क्रियाकलाप अवश्य प्रांत तक सीमित हैं । "परिवहन" का तात्पर्य भी प्रांत के अंतर्गत परिवहन से है । यह धारा 92 के अधीन प्रांतीय विधान-मंडल की शक्ति में है । यह सुप्रतिष्ठित है कि अधिनियम की धारा 91 में "व्यापार और वाणिज्य का विनियमन" पद, जिस पर डोमीनियन विधान-मंडल को अनन्य विधायी शक्ति प्राप्त है, केंद्रीय विधान-मंडल को अनन्यतः प्रांत के भीतर के व्यापार और वाणिज्य के विनियमन की शक्ति प्रदान नहीं करता, देखिए **सिटीजन्स इंश्योरेंस कं. ऑफ कनाडा** बनाम **पारसंस**[1] अतः स्पष्ट है कि प्रांत के भीतर के क्रियाकलाप की शक्ति प्रांतीय विधान-मंडल की है । इस विषय में विवाद नहीं है कि विधान-मंडल का आशय यही है । इस संसबंध में हम **गालाघेर** बनाम **लिन**[2] में पृष्ठ 869 पर लार्ड ऐटकिन की उक्ति उद्धृत करना चाहेंगे :-

> " ....**रसेल** बनाम **रानी** – (1882) 7 अपील केसेज 829 से यह प्रस्थापित हो गया है कि आपको विधायन की सही प्रकृति की ओर ध्यान देना है, ... विधायन के सार-तत्व की ओर । यदि कानून को समग्र रूप लें तो आप पाएं कि विधायन का सार अभिव्यक्त शक्ति के अंतर्गत है तो वह इस कारण अविधिमान्य नहीं हो जाएगा कि वह आनुषंगिक रूप से उन विषयों को प्रभावित करता है जो प्राधिकृत क्षेत्र के बाहर हैं । विधायन को यह नहीं चाहिए कि एक विषय पर होने के आवरण में वह वस्तुतः निषिद्ध क्षेत्र में अतिक्रमण करे और न आप को केवल विधायिका का उद्देश्य देखना है । अधिनियम का उद्देश्य पूर्णतः विधिपूर्ण हो सकता है, उदाहरणार्थ – निवासियों के स्वास्थ्य की सुनिश्चित करना, किंतु वह उस उद्देश्य की प्राप्ति अविधिमान्य तरीकों से करने का प्रयास कर सकता है, उदाहरणार्थ, किसी विदेश से व्यापार का सीधा प्रतिषेध । दूसरे शब्दों में आप अधिनियम के खण्डों पर विचार निश्चय ही इस दृष्टि से कर सकते हैं कि क्या वे प्रतिषिद्ध विषय की बाबत पारित कर लिए गए हैं ...."

प्रस्तुत अधिनियम का सारतत्व यह है कि वह केवल प्रान्त के अंतर्गत के व्यापार के विनियमन के लिए है जो प्रांतीय विधान-मंडल की ही अधिकारिता में है ।

5. दूसरी आपत्ति है धारा 91(3) के आधार पर कि वह कराधान द्वारा धन की वसूली के विषय में है, जो डोमीनियन की शक्ति में है । यह

---

[1] [1881] 7 अपील केसेज 92.

[2] [1937] अपील केसेज 863 पृष्ठ 869.

आपत्ति लाइसेंस फीस को लेकर है । उत्तर यह दिया गया कि वह फीस इन धाराओं के अंतर्गत लगाई जा सकती है, – धारा 92(2) जिसका विषय है प्रांतीय प्रयोजनार्थ राजस्व की प्राप्ति के लिए प्रांत के भीतर प्रत्यक्ष कराधान ; धारा 92(9) जिसका विषय है "प्रांत के भीतर संपत्ति और सिविल अधिकार," तथा धारा 92(16) जिसका विषय है "वे विषय जो प्रांत के अंतर्गत केवल स्थानीय या प्राइवेट प्रकृति के हैं" । हम धारा 92(2) का आश्रय नहीं लेते, किंतु अन्य आधारों पर इस विधायन का समर्थन किया जा सकता है । यदि प्रांत के भीतर व्यापार का विनियमन विधिमान्य है तो व्यापार की अनुज्ञा विनिर्दिष्ट शर्तों के अधीन रहते हुए होती है । यद्यपि प्रायः लाइसेंस फीस भी होती है किंतु वह आवश्यक नहीं प्रतीत होती । किंतु यदि लाइसेंस दिया जाए तो इसमें कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि फीस भी ली जाए जिससे कि स्थानीय विनियमन के प्रशासन का खर्च निकल आए या प्रांत की सामान्य निधि बढ़ाई जाए, या दोनों प्रयोजन सिद्ध हों । ऐसे मामले में उद्देश्य यह प्रतीत होगा कि स्थानीय या प्रांतीय प्रयोजनार्थ राजस्व संग्रह किया जाए ।

6. इस विषय में वर्तमान मुख्य न्यायमूर्ति ने धारा 92(9) का कुछ संकीर्ण अर्थ लिया है देखिए **लासन** बनाम **इंटीरियर ट्री, फ्रूट एण्ड वेजीटेबिल कमेटी**[1] विनियमन के साथ-साथ खर्चे की भी आवश्यकता होती है । अन्य अनेक कार्यों के लिए लाइसेंस विधिमान्य है । अतः प्रस्तुत मामले में वह अविधिमान्य नहीं है । प्रश्नगत फीस धारा 92(13) व (16) के अंतर्गत आ जाएगी । अतः अपीलार्थियों की यह आपत्ति भी अमान्य है ।

7. तीसरी आपत्ति विधायी शक्ति के प्रत्यायोजन की है । प्रांतीय विधान-मंडल को अपनी अधिकारिता के अंतर्गत पार्लियामेंट की पूर्ण विधायी शक्ति प्राप्त है और इसमें विधायी शक्ति का प्रत्यायोजन भी आता है । अनेक अधिनियमों में इस प्रकार के प्रत्यायोजन उल्लेख मिलता है ।

इन कारणों से अपील असफल होनी चाहिए । तद्नुसार हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जानी चाहिए । अपीलार्थी अपील का खर्चा अदा करें ।

अपील खारिज की गई ।

---

[1] [1931] सु. को. रि. 3571.

वाष्पयान मलक्का मारू के स्वामी और उसमें हितबद्ध व्यक्ति.....................अपीलार्थी

बनाम

वाष्पयान मेरीनफेल्स के स्वामी ड्यूश डांफसीफाट्र्स जेसेल शाफ्ट "हंसा".......प्रत्यर्थी

(कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि.कौ. अपील सं. 6 सन् 1938)

निर्णीत : 22.7.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, लार्ड पोर्टर, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

नौचालन – पोत दुर्घटना – तीव्रतर गति से चलता हुआ पोत "क" पीछे से आकर पोत "ख" से आगे निकलने लगा – उसके बराबर आ जाने पर भी पोत "ख" के चालक ने अपनी गति धीमी नहीं की तथा पोत "क" के ज्वार और भंवर के प्रभाव से कुछ मुड़ जाने पर भी बचने के लिए अपना पोत नहीं मोड़ा – अतः पोत "ख" के चालक को उपेक्षा का दोषी ठहराकर पोत "क" को नुकसानी दिलाई गई ।

निर्णय

जस्टिस सर जाज रैंकिन – रविवार, 16.3.1930 को दोपहर 12.35 बजे वाष्प जलयान मेरीनफेल्स और मलक्का मारु की हुगली नदी में एक स्थान पर टक्कर हो गई जो पुकुरिया पाइण्ट कालम के दक्षिण में और निचले बूल सैंड बोया के उत्तर में था । मेरीनफेल्स वादी प्रत्यर्थियों का यान है । वह एक जर्मन कंपनी का है । उसका सकल टनभार 8000 टन है । उसकी लंबाई 495 फुट और चौड़ाई 58 फुट है । मलक्का मारू एक जापानी जलयान है जिसका टन भार 5374 टन है, लंबाई 400 फुट और चौड़ाई 54½ फुट है । टक्कर दिन के खुले प्रकाश में हुई । मौसम सुन्दर और साफ था । वायु कोई तेज नहीं थी । ज्वार का समय था । नाव्य सरणी में समुद्री मील (Knots) का बसंती ज्वार था । निम्न जल रेखा (Low water marks) से जल 17 फुट उठ गया था और आगे भी उठ रहा था । दोनों यान दक्षिण में समुद्र की ओर जा रहे थे और मेरीनफेल्स दूसरे से आगे निकलने के प्रयत्न में था । वे दोनों गार्डेन-बीच से चले थे,

मलक्का मारू 9.25 बजे और मेरीनफेल्स उसके लगभग 20 मिनट बाद । मलक्का मारु की गति लगभग 10 समुद्री मील की थी और मेरीनफेल्स की लगभग 11.5 समुद्री मील की । दोनों जलयान अंशतः लदे हुए थे और दोनों को चलने के लिए 20-21 फुट गहरा पानी अपेक्षित था । दोनों का भार-साधन लाइसेंस धारक पायलट कर रहे थे, पायलट किंग मेरीनफेल्स चला रहा था और पायलट हालफोर्ड मलक्का गाय चला रहा था । दुर्घटना में मलक्का गाय का अगला बायां किनारा पोत के मंदान (Stem) से लगभग 14 फुट (Bluff of the port fow) मेरीनफेल्स के दाहिनी ओर के मध्य से कुछ पिछले भाग से टकराया । मेरीनफेल्स को पहुंचा नुकसान ऐसा नहीं था कि वह अपनी मद्रास के लिए यात्रा जारी नहीं रख सकता । वहां पहुंचकर उसके मास्टर ने 24 मार्च को प्रसाक्ष्य (प्रोटेस्ट) लिखाया । मलक्का मारू को अधिक नुकसान हुआ था और उसे कलकत्ता वापस ले जाने पर जहां 25 मार्च को प्रसाक्ष्य लिखाया गया । दोनों पायलटों ने कलकत्ता के पत्तन प्राधिकारी को टक्कर वाले दिन ही रिपोर्टें दीं ।

2. 12.3.1932 को प्रत्यर्थी कंपनी ने कलकत्ता उच्च न्यायालय की नावाधिकरण विषयक अधिकारिता में एक वाद किया, जिससे यह अपील उत्पन्न हुई । वादपत्र में मलक्का गाय के उपेक्षापूर्वक चलाए जाने के कारण हुई हानि मध्ये 64,870/- रु. का दावा किया गया था । अपीलार्थियों ने 25.4.1932 को लिखित कथन दाखिल करके उपेक्षा से इंकार किया और कहा कि टक्कर मेरीनफेल्स के चलाने में उपेक्षा के कारण हुई या उससे दुर्घटना में योगदान हुआ । किंतु समुद्री प्रसंविदा अधिनियम, 1972 (मेरिटाइम कनवेंशन ऐक्ट) द्वारा नियत दो वर्ष का परिसीमाकाल बीत चुका था ; अतः वे नुकसानी के लिए प्रतिदावा नहीं कर सके। दिसंबर, 1934 में विचारण में न्यायमूर्ति कनलिफ ने पायलट किंग का बयान सुना; किंतु पायलट हालफोर्ड की मृत्यु 1931 में ही हो गई थी और उसकी 16.3.1930 की रिपोर्ट ही घटना का उनका कथानक अभिनिश्चित करने का एकमात्र उपलब्ध साधन थी । दोनों पक्षों ने अपने-अपने जलयान के मास्टर तथा अन्य साक्षियों के बयान कराए । वादी कंपनी ने उसके अतिरिक्त बंगाल पायलट सर्विस के दो पायलटों के बयान कराए – पायलट डेवीस और पायलट गारनेट । दूसरी ओर प्रतिवादी ने एक नदी सर्वेक्षक श्री ओग का और कैप्टन ड्यूकट आमोस को जो ब्रिटिश भारतीय मेल वाष्पायन "कारापाड़ा" का मास्टर था, पेश किया । वह कलकत्ता से रंगून और स्ट्रेटस सेटिलमेंट तक चलता था । न्यायमूर्ति कनलिफ ने 27.12.1934 को निर्णय

किया कि टक्कर में दोष दोनों जल यानों का है जिसमें 34 दोष मलक्का मारू का है और 1/4 दोष मेरीनफेल्स का है । अपील में एक खंड नयायपीठ (मुख्य न्यायमूर्ति डर्बीशायर और न्यायमूर्ति कास्टेलो) ने इस निष्कर्ष में परिवर्तन करते हुए निर्णय किया कि दोष अकेले मलक्का मारू का है । उनकी 11.2.1936 की डिक्री के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर प्रतिवादियों ने हिज मैजेस्टी को अपील की है ।

3. समुद्र में टक्करों के निवारण के लिए सामान्य विनियमों (General regulations for preventing collisious at sea) के अनुच्छेद 24 के अनुसार किसी जलयान के पीछे से आगे बढ़ने वाले जलयान से यह अपेक्षित है कि वह दूसरे जलयान के मार्ग से अलग रहे और उसका कर्तव्य है कि दूसरे जलयान से तब तक दूर रहे जब तक कि वह स्पष्ट और अंतिम तौर पर आगे न निकल जाए । अनुच्छेद 25 हुगली के अब प्रश्नगत भाग को लागू होता है । वह वाष्प जलयानों से अपेक्षा करता है कि नाव्य सरणी या सरणीमध्य के दाहिनी ओर रहें । हुगली में नौचालन को शासित करने के लिए जो स्थानीय नियम उस समय प्रवृत्त थे उनमें ऐसे उपबंध हैं जो अनुच्छेद 24 में परिवर्तन कर देते हैं । नियम 5 और 7 इस प्रकार हैं :-

> "(5) कोई वाष्प जलयान दूसरे वाष्प जलयान से स्पर्धा या दौड़ नहीं करेगा । जब वाष्प जलयान एक ही दिशा में किंतु भिन्न-भिन्न गति से जा रहे हों तो जिस यान की गति न्यूनतम हो वह नदी के संकरे भाग में सरणी पार करके या अन्यथा, तीव्रतर गति वाले जलयान के मुक्त मार्ग में अवरोध उत्पन्न नहीं करेगा और जैसे ही तीव्रतर यान उसके बराबर में आ जाए वह उसको सरलता से निकलने देने के लिए अपना इंजन धीमा कर देगा और यदि आवश्यक हो तो बंद कर देगा । तीव्रतर जलयान का पायलट आगे निकलने का आशय होने पर अपने वहां पहुंचने की सूचना अपनी वाष्प सीटी देर तक बजाकर देगा । किंतु ऐसे किसी जलयान का वहां आगे निकलना उचित नहीं होगा जहां कि नदी का कोई मोड़ या घुमाव हो या जहां सरणी इतनी संकरी हो कि एक तीसरा जलयान उनके बगल से सुरक्षित न निकल सके ।"
>
> "7 भीतर आने वाला या बाहर जाने वाला प्रत्येक जलयान अपने अगले मस्तूल के छोर पर एक गोला प्रदर्शित करेगा । जब वह पूरी गति से जा रहा हो तो गोला मस्तूल के ट्रक पर (ऊपर) रखा जाएगा,

किंतु धीमें चलते समय वह लगभग दो फेदम नीचे कर दिया जाएगा ।"

4. यह अब उभयपक्ष को मान्य है कि पायलट किंग ने दोपहर 12.20 बजे जब वह मलक्का मारू से काफी पीछे था तब इस बात के संकेत के रूप में कि वह उससे आगे निकलने वाला है, लंबी सीटी दी । पक्षकार इस विषय में एकमत नहीं हैं कि सीटी दिए जाने के समय दोनों पोत ठीक-ठीक किन स्थानों पर थे । वादियों का कहना है कि वे उससे और दक्षिण में थे । इसी प्रकार से वे इस विषय में सहमत हैं कि टक्कर दोपहर 12.35 बजे हुई जो नक्शा सं. 186 (प्रदर्श ए) में सं. 21 से दिखाया गया है, जबकि प्रतिवादियों के अनुसार टक्कर और उत्तर-पश्चिम में उस स्थान के पास हुई जिस पर संख्या 29 पड़ी है और जो पुकुरिया पाइंट कालम से कुछ ही दक्षिण में है । फेयरवे आउटर कालम से निचले ब्रूलसेण्ड बोया की दूरी लगभग 2.5 मील है । भारत के दोनों न्यायालयों ने पायलट किंग का बयान माना है और घटना का वादियों का कथानक माना है । हम अपने इस नियम से विचलन के लिए कोई कारण नहीं पाते कि तथ्य-विषयक समान निष्कर्षों में हस्तक्षेप न करें । उस मामले के मुख्य लक्षणों की रूपरेखा इस प्रकार दी जा सकती है : फेयरवे चिह्नों के पास, जहां कि नाव्य सरणी की चौड़ाई 1,000 फुट है, लंबी सीटी देने के बाद मेरीनफेल्स जो पोत की लंबाई से दूने पीछे था, मलक्का मारू की बाईं ओर से आगे निकलने के लिए आगे बढ़ने लगा और दोनों पोत पूर्व में ऊपरी ब्रूलसेंड बोया और पश्चिम में ब्राइट कालम के बीच बराबर आ गए । उस स्थान से पोडपाड़ा वीकन तक मेरीनफेल्स लगभग आधा आगे बढ़ गया था । तत्पश्चात् मलक्का मारू मेरीनफेल्स से कुछ आगे निकलने लगा क्योंकि ब्रूलसेंड बीच के इस भाग में पूर्व की अपेक्षा पश्चिम की ओर ज्वार की गति लगभग 2 समुद्री मील अधिक थी । उस स्थान पर जहां पश्चिमी किनारे पर संकरी खाड़ी है, दोनों जलयान अपनी उपर्युक्त 11.5 और 10 समुद्री मील की गति से चल रहे थे और मलक्का मारु मेरीनफेल्स के बिल्कुल बराबर नहीं आया था तभी मेरीनफेल्स, जो मलक्का मारु से आगे निकलते समय उससे लगभग 400 फुट दूर था, बाईं ओर बढ़ चला और दोनों जलयानों के बीच की दूरी 600 फुट हो गई । पुकुरिया प्वाइंट कालम पर कुछ दक्षिण में ज्वार में एक भंवर बनने लगा जो नदी को पूर्वोत्तर दिशा में पार करता था और फिर परिश्चमोत्तर बढ़ते हुए पूर्वी किनारे-किनारे कुछ कम गति से बढ़ जाता था । उस स्थल पर दोनों जलयान बराबर-बराबर थे, तभी मलक्का मारु भंवर में जाकर जोर से बाईं ओर बढ़ा जिससे वह मेरीनफेल्स

से जा टकराया, यद्यपि मेरीनफेल्स भी टककर बचाने के लिए बाईं ओर बढ़ा था ।

5. वादपत्र में मलक्का मारु पर अन्य उपेक्षा के अतिरिक्त इस उपेक्षा का आरोप है कि मुड़ना प्रारम्भ होने के बाद उसने न अपनी (पुराने ढंग की) पतवार बाएं मोड़ी और न अपना इंजन धीमा किया या उलटा । जापानी पतवार धारक ने बयान दिया है कि उसे पूरी तौर पर बाएं करने का आदेश टक्कर लगने के लगभग ठीक पहले मिला । न्यायमूर्ति कनलिफ ने मलक्का का मारू का यह दोष पाया कि उसने पतवार मोड़ने की कार्रवाई बहुत विलम्ब से की और विद्वान् न्यायमूर्ति का विचार था कि उसकी पतवार उस समय एकदम बाएं नहीं मोड़ी गई जबकि यह मोड़ी जानी चाहिए थी । दोनों न्यायालयों की यह भी राय थी कि मलक्का मारू का यह भी दोष था कि जब मेरीनफेल्स प्वाइंट कालम के पास पहली बार उसकी बंगल में आया तो मलक्का मारू ने अपना इंजन धीमा नहीं किया । किंतु न्यायमूर्ति कनलिफ ने निर्णय किया कि मेरीनफेल्स का यह दोष था कि जब उसने देख लिया कि मलक्का मारू उसके संकेत पर ध्यान नहीं दे रहा है और अपनी गति घटाए बिना बढ़ता जा रहा है फिर भी उसने आगे निकलने का प्रयत्न नहीं छोड़ा । क्योंकि स्थानीय नियमावली का नियम 5 उस जलयान से, जिसके आगे निकला जा रहा हो जलयानों के बराबर आ जाने के पूर्व अपनी गति घटाने की अपेक्षा नहीं करता, अतः मुख्य न्यायमूर्ति ने भिन्न दृष्टिकोण अपनाया । उनका निष्कर्ष था कि मेरीनफेल्स के चालक से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि ऊपरी ब्रूलसेंड बोया के पास दूसरे जलयान के बराबर पहुंच जाने पर कुछ समय बीतने के पूर्व ही विनश्चय कर ले कि मलक्का मारू ने गति घटाने के नियम के अपालन का निश्चय कर लिया है और इस बीच मेरीनफेल्स आधा आगे निकल भी गया । उनका विचार था कि इन परिस्थितियों में अपनी गति घटाकर फिर मलक्का मारू के बराबर आना उससे अधिक खतरनाक और कम वांछनीय था जो कि पायलट किंग ने वस्तुतः किया, अर्थात् अपनी गति बनाए रखकर चौड़ाई में बीच का फासला बढ़ाकर 600 फुट कर दिया । न्यायमूर्ति कनलिफ ने मलक्का मारू के आचरण से निष्कर्ष निकाला कि उसने ठीक से नजर नहीं रखी किंतु अपील न्यायालय ने यह आलोचना नहीं दोहराई है और हमारा भी विचार है कि उस जलयान को दोषी ठहराने के लिए यह स्वतंत्र आधार के रूप में सिद्ध नहीं हुआ है ।

6. अवधारणार्थ प्रथम प्रश्न यह है कि नदी का वह भाग जिसमें

मेरीनफेल्स मलक्का मारू से आगे निकलने को अग्रसर हुआ । क्या नदी के स्थानीय नियमावली के नियम 5 के अर्थों में "मोड़ या घुमाव का स्थान" था । वादी की ओर से बहस की गई कि इस पद का अर्थ नाव्य सरणी के ही संबंध में नहीं बल्कि पूरी नदी के संबंध में लगाना चाहिए जिसमें उसकी सारी चौड़ाई आ जाती है, तथा फेयरवे चिह्नों के नीचे हुगली नदी का पूर्वी किनारा लगभग सीधी रेखा में है, यद्यपि पश्चिम की ओर नदी के किनारे में मोड़ या घुमाव है जिससे वहां वह कुछ चौड़ी हो जाती है । हम यह निर्णय करने को तैयार नहीं है कि ये बातें इस प्रश्न पर अनिवार्यतः निश्चायक हैं और हमने इन बातों पर विचार सरणी के निर्देश से और नौचालक के व्यावहारिक दृष्टिकोण से किया । प्रतिषेध नदी के उन सब भागों को लागू नहीं माना जा सकता जहां कि धार पूर्णतः धीमी नहीं है, बल्कि उसका अर्थ सम्पूर्ण मोड़ की मात्रा की दृष्टि से नहीं बल्कि उसके हल्के या तीव्र होने की दृष्टि से लगाया जाना चाहिए । कहने का तात्पर्य यह है कि मोड़ पर विचार उसकी लम्बाई के संदर्भ में किया जाना चाहिए । हमको इस विषय पर ज्येष्ठ बंधुओं की राय का लाभ प्राप्त है और हम उनसे तथा भारत के न्यायालयों से सहमत होकर निष्कर्ष निकालते हैं । हम पायलट किंग का यह बयान मानते हैं कि स्थानीय नियमों में परिवर्तन होने के पूर्व ब्रूल रीच आगे निकलने के स्थान के रूप में मान्यताप्राप्त था जो परिवर्तन इस टक्कर के परिणामस्वरूप किया गया जिससे कि प्वाइंट कालम के नीचे आगे निकलने का प्रतिषेध कर दिया गया ।

7. इस दृष्टि से मलक्का मारू का उस समय गति कम न करना जबकि मेरीनफेल्स ब्राइट कालम में उसके बराबर आ गया गम्भीरतापूर्वक सही नहीं माना जा सकता और वह नियम 5 के अधीन कर्तव्य का स्पष्ट उल्लंघन था । वस्तुतः हमारे विचार से यह उसके कार्य का गलत अर्थ लगाना होगा कि यह माना जाए कि उसके चालक को उस स्थान पर दूसरे पोत के आगे निकलने में कोई आपत्ति थी । वहां के जल की स्थिति ऐसी थी कि सरणी पर्याप्त चौड़ी थी ; उसने उस समय कोई आपत्ति नहीं की और न उसने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि उससे आगे गलत तौर पर निकला जा रहा था । उसने समझा हो या न समझा हो कि नियम के अधीन इंजन धीमा करने का कर्तव्य अशर्त था । वह इंजन बंद करने के कर्तव्य से भिन्न था, क्योंकि बंद तभी करना था जब वैसा करना आवश्यक हो जाए । किंतु किसी भी दशा में वह ज्वार के विरुद्ध अपनी पूरी गति से जल में जाते हुए दूसरे पोत के आगे निकलने से संतुष्ट था और उसने स्थिति में परिवर्तन का कोई कार्य नहीं किया और इस प्रकार नियम की

अवज्ञा करके अनावश्यक खतरा उठाया । इस परिस्थिति से कि मेरीनफेल्स की गति उससे बहुत अधिक नहीं थी उसका यह कर्तव्य और भी हो गया था कि अपनी गति धीमी कर दे जिससे वह निकल जाए तथा इस बात से कि उसका अपना मार्ग स्वयं उसे पश्चिम की ओर के हल्के पानी में ले जाएगा उसका पूरी गति बनाए रखना और भी प्रज्ञा-विहीन हो गया था ।

8. परिणामतः शीघ्र ही ऐसा समय आया जबकि मलक्का मारू मेरीनफेल्स के लगभग बराबर चलता हुआ भंवर की ओर पहुंचा । यह स्थिति पश्चिमी किनारे की संकरी खाड़ी के सामने की थी और हम अपीलार्थियों का यह मत स्वीकार करते हैं कि उस समय पर मलक्का मारू के लिए अपनी गति घटाना अवांछनीय हो गया था । किंतु हम विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति से इस बात में सहमत हैं कि यह तर्क अमान्य किया जाए कि मेरीनफेल्स को चाहिए था कि अपनी गति घटा दे । पूर्व इसके कि उसे दूसरे जलयान की त्रुटि के कारण उत्पन्न किए गए आपात से निपटने में उसको दोष दिया जाए और वह केवल इस कारण कि वह वहां पर आगे निकला जहां कि वह हकदार था कि उसे मुक्त रूप से आगे निकलने दिया जाए, उसकी उस समय की ठीक स्थिति पर विचार करना आवश्यक है जबकि आपात प्रत्यक्ष हो गया । पायलट किंग पूर्वी किनारे की ओर बढ़ गया था जिससे कि दूसरे पोत से उसका फासला बढ़कर 600 फुट हो गया था । वह भंवर के कुछ बल का सामना करने की आशा उसके बाद के और प्रारंभिक दोनों ही प्रक्रमों का कर सकता था, यद्यपि उतना नहीं जितनी कि भंवर के प्रारंभिक प्रक्रम पर पश्चिम की ओर मलक्का मारू आशा कर सकता था । यदि उसने इंजन धीमा कर दिया होता तो दोनों पोतों का न्यूनाधिक मात्रा में बराबर - बराबर होने का समय पर्याप्त होता, भले ही दूसरे चालक ने उसी समय वैसा ही नहीं किया होता । किंतु किसी भी दशा में हमारी दृष्टि से उससे यह आशा करना अयुक्तियुक्त होगा कि मलक्का मारू अपनी गति बनाए रखते हुए पश्चिमी किनारे के निकट राहते हुए भंवर में आ जाएगा जिससे कि वह सरणी के एक ओर से दूसरी ओर तेजी से बढ़ जाए । इतने त्रुटिपूर्ण आचरण का स्पष्टीकरण उसे इस स्थान पर ज्वार का सामान्य परिणाम मानकर नहीं दिया जा सकता । यदि यह अनिवार्यतः उपेक्षापूर्ण नहीं था कि भंवर में पतवार को बीच में रखे हुए प्रवेश किया जाए और इस बात का प्रयत्न किए बिना कि यान का शीर्ष भाग भंवर से टकराए फिर भी हमारे विचार से भारतीय न्यायालयों के लिए यह मानने के लिए ठोस कारण था कि यह साबित हो गया है कि मलक्का मारू की पतवार विषयक कार्रवाई विलंबित थी और इतनी विलम्बित थी कि

वह उपेक्षापूर्ण मानी जाए । हमें असेसरों की सलाह मिली है और हम उससे सहमत हैं कि मेरीनफेल्स के 600 फुट दूर चले जाने के बाद उसके लिए यह मानने के लिए कोई कारण नहीं था कि मलक्का मारू किसी कठिनाई में फंसेगा, मलक्का मारू के चालक से आशा की जा सकती थी, विशेषतः जब उसकी बाईं ओर दूसरा जलयान था, कि जल में अपने उचित स्थान में रहे और अपने यान पर उचित नियंत्रण रखे और भंवर के कारण जलयान का शीर्ष भाग मुड़ जाने की संभावना को देखते हुए पतवार की उचित कार्रवाई करे । इन परिस्थितियों में यह निर्णय करना अनुचित होगा कि पायलट किंग का यह दोष था कि उन्होंने कोई स्पर्धा या दौड़ की या अपनी गति उस समय नहीं घटाई जब उन्होंने समझ लिया कि मलक्का मारू इंजन धीमा किए बिना चलते रहने वाला है ।

9. अपीलार्थियों की ओर से श्री हेवर्ड की योग्यतापूर्ण बहस में इस बात पर बहुत जोर दिया गया कि मलक्का मारू के मस्तूल पर गोला कभी नीचे नहीं किया गया, किंतु पायलट किंग उसकी पूर्ण गति से चलाते रहने के आशय का निश्चय उसके बराबर आ जाने के कुछ समय बाद ही कर सकता था चाहे वह यह देखने के लिए प्रतीक्षा करता कि गोला नीचे किया जाए और चाहे वह दोनों जलयानों की सापेक्ष स्थिति का ध्यान करता । दो में से किसी भी दशा में उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि इस दृष्टि से तुरंत कार्रवाई करे कि उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि इस दृष्टि से तुरंत कार्रवाई करे कि दूसरा जलयान केवल प्रतिक्रिया व्यक्त करने में धीमा न होकर नियम भंग करने का भी आशा रखता है । अपील में उच्च न्यायालय ने अकेले मलक्का मारू को दोषी सही तौर पर ठहराया है ।

10. हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जानी चाहिए । अपीलार्थी प्रत्यर्थी कंपनी का खर्चा अदा करें ।

अपील खारिज की गई ।

पेस्तनजी भीकाजी फर्म............................अपीलार्थी

बनाम

पैट्रिक एच. एण्डरसन...............प्रत्यर्थी

(सिंध के न्यायिक आयुक्त न्यायालय के निर्णय[1] के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 18 सन् 1938)

निर्णीत : 27.7.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड रोमर, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – धारा 60(1)(ड) – समाश्रित हित स्वैच्छा से अंतरित किया जा सकता है, किंतु उसकी कुर्की आदि नहीं कराई जा सकती – वसीयत द्वारा मां को और उसकी मृत्यु के बाद पुत्र को दी गई सम्पत्ति में मां के जीवनकाल में पुत्र का हित समाश्रित हित होने के कारण कुर्क नहीं कराया जा सकता ।

निर्णय

जस्टिस लार्ड रोमर – जॉन अलेक्जेंडर एण्डरसन ने, जिसकी मृत्यु अक्तूबर, 1928 में हुई, अपनी 28 दिसम्बर, 1926 की वसीयत द्वारा निदेश दिया कि उसकी सम्पदा का अवशेष 16 भागों में विभाजित किया जाए और उनमें से तीन हिस्सों की वसीयत उसने अपने भतीजे सी. एस. एण्डरसन और उसकी पत्नी विनिफ्रेड और उनकी संतान के हक में उसमें लिखे अनुसार की । फिर 22 जुलाई, 1927 के क्रोडपत्र द्वारा वसीयतकर्ता ने वह वसीयत प्रति संहृतकर ली और उसके स्थान पर उसने निम्नलिखित निदेश दिया :–

> "इन तीन सोलहवें भागों की आय जब तक सी. एस. एण्डरसन और उसकी पत्नी विनिफ्रेड दोनों जीवित हैं पत्नी को दो-तिहाई और पति को एक-तिहाई दी जाएगी । यदि उनमें से किसी की मृत्यु हो जाए तो आय का उसका हिस्सा उनके चार बच्चों को या उनमें से जो तब जीवित हों, उनको समान भागों में मिलेगा और जब शेष माता/पिता की भी मृत्यु हो जाए तो पूंजी और आय दोनों उस समय जीवित बच्चों को समान अनुपात में मिलेगी ।"

---

[1] आ. इं. रि. 1936 सिंध 65.

2. प्रत्यर्थी पैट्रिक एस. एण्डरसन सी. एस. एण्डरसन और उसकी पत्नी की चार संतान में से एक है और इस अपील में अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि क्या जब सी. एस. एण्डरसन और उसकी उक्त पत्नी दोनों जीवित थे तो प्रत्यर्थी उक्त वसीयतकर्ता की अवशिष्ट सम्पदा के 3/16 भाग की पूंजी और आय में प्रत्यर्थी का हिस्सा सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 60 के परंतुक के पैरा (ड) को देखते हुए कुर्क और बिक्री किया जा सकता था । उक्त धारा का सुसंगत अंश इस प्रकार है :–

> "60(1) निम्नलिखित सम्पत्ति डिक्री के निष्पादन में कुर्क और विक्रय की जा सकेगी अर्थात् भूमि, गृह या अन्य भवन, माल, धन, बैंक-नोट, चेक, विनिमय-पत्र, हुण्डी, वचनपत्र, सरकारी प्रतिभूतियां, धन के लिए बन्धपत्र या अन्य प्रतिभूतियां, ऋण, निगम-अंश और उसके सिवाय जैसा इसमें इसके पश्चात् वर्णित है विक्रय की जा सकने वाली अन्य ऐसी सभी जंगम या स्थावर सम्पत्ति जो निर्णीत-ऋणी की है या जिस पर या जिसके लाभों पर वह ऐसी व्ययन शक्ति रखता है जिसे वह अपने फायदे के लिए प्रयोग कर सकता हो, चाहे वह निर्णीत-ऋणी के नाम में धारित हो या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसके लिए न्यास में या उसकी ओर से धारित हो :
>
> परंतु यह कि निम्नलिखित विशिष्टियां ऐसे कुर्क और विक्रय की दायी नहीं हो सकेंगी, अर्थात् : ....
>
> (ड) उत्तरजीविता द्वारा उत्तराधिकार की प्रत्याशा अथवा अन्य मात्र समाश्रित या संभव अधिकार या हित ;"

3. ऐसी परिस्थितियां जिन में यह अपील की गई वे इस प्रकार हैं :– 14 जनवरी, 1932 को अपीलार्थियों ने सिंध के न्यायिक आयुक्त न्यायालय में (उनकी जिला न्यायालय वाली अधिकारिता में) एक वाद प्रत्यर्थी तथा अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध संस्थित किया जिसमें 1,20,900/- रु. की राशि का दावा किया । उसी दिन उन्होंने उक्त न्यायालय को आवेदन दिया जिसमें (अन्य बातों के साथ) यह था कि प्रत्यर्थी का उक्त 3/16 हिस्से की आय और पूंजी में हित कुर्क कर लिया जाए । यह आवेदन उक्त संहिता के आदेश 38, नियम 5 के अधीन किया गया था, जिसमें प्रतिवादी की सम्पत्ति के निर्णय-पूर्व सशर्त कुर्की का उपबंध उस दशा में है जबकि न्यायालय का समाधान हो जाए कि प्रतिवादी ऐसी किसी डिक्री के, जो उसके विरुद्ध पारित की जाए, निष्पादन को बाधित या निलंबित करने के आशय से – (क) अपनी पूरी सम्पत्ति या उसके किसी भाग को व्ययनित करने ही वाला

है, अथवा (ख) अपनी पूरी सम्पत्ति या उसके किसी भाग को न्यायालय की स्थानीय सीमाओं से हटा देने ही वाला है ।

4. वह आवेदन सम्यक् क्रम में अपर मुख्य आयुक्त श्री एस्टन के सामने आया । उनका यह समाधान हो गया कि जिन शर्तों पर उक्त नियम के अधीन कुर्की की जा सकती है वे पूरी हो गई हैं, किंतु उन्होंने अभिनिर्धारित किया था कि उक्त 3/16 हिस्से में प्रत्यर्थी का हित संहिता की धारा 60(1) के परंतुक के आधार पर कुर्की से संरक्षित है । उन्होंने अभिनिर्धारित किया कि वह परंतुक के पैरा (ड) के अर्थों में "केवल समाश्रित या संभव अधिकार या हित" है । उस पर अपीलार्थियों ने उक्त न्यायालय में उसकी उच्च न्यायालय की अधिकारिता में अपील की । 28 फरवरी, 1936 को अपील अपर न्यायिक आयुक्तगण श्री रूपचन्द्र बिलराम और श्री दादिबा सी. मेहता ने सुनकर खारिज कर दी । अपीलार्थियों ने आवश्यक इजाजत प्राप्त करके उसी के विरुद्ध सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील की है ।

5. हमारी राय में अपीलकृत विनिश्चय स्पष्टतः सही था । क्रोडपत्र के अधीन प्रत्यर्थी का हित अपने माता-पिता के जीवनकाल में निःसंदेह समाश्रित था – आय के विषय में भी तथा स्वयं सम्पत्ति के विषय में भी । अतः वह परंतुक की स्पष्ट शब्दावली द्वारा कुर्की से अभिव्यक्त रूप से संरक्षित था, सिवाय उस दशा के जबकि "समाश्रित या संभव अधिकार या हित" शब्दों का उनके प्रायिक अर्थ से भिन्न अर्थ लिया जाए । अपीलार्थियों की ओर से श्री जापलिंग ने अनेक कारण बताए कि ऐसा क्यों किया जाना चाहिए । उन्होंने बहस की कि सभी समाश्रित हित संरक्षित नहीं हैं बल्कि केवल वही हित संरक्षित हैं जो "केवल" समाश्रित हैं । किंतु हम समाश्रित हित का ऐसे हित से अंतर करने में असमर्थ हैं जो केवल समाश्रित है । अपर मुख्य न्यायिक आयुक्तगण श्री रूप चन्द्र बिलराम और दादिबा सी. मेहता ने कहा कि यह भिन्नता के बिना ही अंतर करना है, और हम उनसे सहमत हैं । फिर यह बहस की गई कि "या अन्य मात्र समाश्रित या संभव अधिकार या हित" शब्दों का अर्थ इस प्रकार लिया जाना चाहिए कि वे केवल ऐसे अधिकारों या हितों को लागू होते हैं जो कि उत्तरजीविता द्वारा उत्तराधिकार की प्रत्याशा अर्थात् सभाव्य उत्तराधिकार (spessuccession is) के सजातीय हैं । किंतु प्रथमतः संभाव्य उत्तराधिकार वस्तुतः अधिकार या हित ही नहीं होता । हम यह अनुभव करते हैं कि संभाव्य उत्तराधिकार को "संभव" अधिकार या हित कहना अनुपयुक्त नहीं होगा अर्थात् यह

कहना कि वह ऐसी वस्तु है जो संभवतः अधिकार या हित के अर्जन में परिणत हो जाएगी (और प्रस्तुत मामले में "या अन्य" शब्द यह संकेत करते हैं कि संहिता के निर्माताओं का भी यही दृष्टिकोण था) । किंतु हम अधिकार या हित की ऐसी कोई जाति नहीं समझ पाते हैं जिसमें उपजाति के रूप में संभाव्य उत्तराधिकार आ जाए किंतु जिसमें उपजाति "समाश्रित अधिकार या हित" विवर्जित हो जाए । सजातीयता (ejusdemgeneris) के सिद्धांत पर बहस इस परिकल्पना पर आधारित है कि संभाव्य उत्तराधिकार स्वयं में जाति न होकर किसी वृहत्तर जाति की उपजाति है । अपीलार्थियों ने क्रैज के "स्टेट्यूट ला" में पृष्ठ 167 पर इन शब्दों पर दिए गए सिद्धांत का भी आश्रय लिया :–

> "यह सदैव अभिनिर्धारित किया गया है कि जब विशिष्ट शब्दों के बाद सामान्य शब्द आएं तो उनमें उस वर्ग से ऊपर के वर्ग को कोई वस्तु सम्मिलित नहीं होगी जिस के वे विशिष्ट शब्द हैं ।"

6. हम इस सिद्धांत में कोई संदेह उत्पन्न करना नहीं चाहते । किंतु हम यह नहीं समझ पाते कि यह प्रस्तुत मामले में कैसे लागू होता है क्योंकि हम ऐसा कोई तरीका नहीं पाते जिससे कि संभाव्य उत्तराधिकार और समाश्रित हित की वरिष्ठता और पूर्विकता के परस्पर दावों का अवधारण हो । यदि मूल्य को मानदण्ड माना जाए तो किसी करोड़पति के अकेले पुत्र की अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होने की आशा को उस संभावना से आगे रखा जा सकता है जो उसे 50 पौंड की समाश्रित वसीयत में निहित हित प्राप्त करने का हो । यदि दूसरी ओर अधिसंभाव्यताओं के सिद्धांत के अनुसार प्राथमिकता दी जाए तो उसके पहले मामले में कुछ प्राप्त करने का अवसर बाद वाले की अपेक्षा अधिक हो सकता है । मामला उस घटना की प्रकृति पर निर्भर करेगा जिस पर कि वह समाश्रित है । हमें इस प्रश्नगत सिद्धांत से कोई सहायता नहीं मिलती ।

7. अपीलार्थियों की ओर से यह भी बहस की गई कि इस बात के लिए कोई बोधगम्य कारण नहीं हो सकता कि समाश्रित हित को कुर्की से संरक्षण दिया जाए जब जैसा मामला स्वीकृत रूप से है जो निहित हित निर्निहित किए जा सकते हैं उन्हें ऐसा कोई संरक्षण प्राप्त नहीं है । परंतु इसे सही मान लेने पर भी उससे इस बात का औचित्य नहीं मिल जाता कि विधान-मंडल के स्पष्टतः अभिव्यक्त आशय को कार्यान्वित करने से इंकार कर दिया जाए । अंत में, अपीलार्थियों ने अपने तर्क के समर्थन में कुछ सहायता इस तथ्य से लेनी चाही कि समाश्रित हित विधितः अंतरणीय

है जबकि सम्पत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 6(1)(क) के उपबंधों के अनुसार सम्भाव्य उत्तराधिकार अंतरणीय नहीं है । उनका प्रतिवाद किया कि यह एक कारण है जिससे कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 60(1)(ड) का अर्थ इस प्रकार किया जाए कि उसमें उसके अतिरिक्त कुछ नहीं आता जो संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 6(क) में इस प्रकार वर्णित है :–

> "किसी प्रत्यक्ष वारिस की संपदा का उत्तराधिकारी होने की संभावना, कुल्य की मृत्यु पर किसी नातेदार की वसीयत-सम्पदा अभिप्राप्त करने की संभावना या इसी प्रकृति की कोई अन्य संभावना मात्र ।"

8. हमारी राय में यह दलील पूर्णतः अमान्य है । इस बात से कि समाश्रित हित स्वैच्छिक अंतरण का विषय हो सकता है यह मानने के लिए कोई कारण नहीं मिलता कि विधान-मंडल का आशय रहा होगा कि ऐसा हित कुर्की की कार्यवाही में बलात विक्रय का विषय बनाया जाए । अपर न्यायिक आयुक्तगण श्री रूपचन्द्र बिलराम और श्री दादिबा सी. मेहता प्रस्तुत मामले में अपने निर्णय में कहते हैं :–

> "सम्पत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 6(क) और सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 60(1)(ड) की शब्दावली में भिन्नता है और ऐसा संभवतः उचित कारण से है ....
>
> प्रकट यह होता है कि पूर्वतम समय से ऐसी सम्पत्तियों में हित का जो ऋणी में निहित नहीं है या अनिश्चित हैं बलात विक्रय उचित नहीं समझा जाता ।"

9. बाद में उन्होंने उस हानि को निर्दिष्ट किया जिसे रोकने का आशय अनिश्चित अधिकारों की कुर्की रोकने से संबंधित था यद्यपि वे अधिकार पक्षकारों के कार्य द्वारा समनुदिष्ट हो सकते थे । इस उक्ति से हम पूर्णतः सहमत हैं ।

10. परिणामतः हमें धारा 60(1)(ड) के स्पष्ट शब्दों को प्रभावी करने से इंकार के लिए कोई मान्य कारण नहीं मिलता । अतः हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खर्चे सहित खारिज की जानी चाहिए ।

अपील खारिज की गई ।

लाला नंद किशोर..............................अपीलार्थी

बनाम

अजमत उल्ला, शासकीय रिसीवर, दिल्ली तथा अन्य.....प्रत्यर्थी

(लाहौर उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 66 सन् 1936)

निर्णीत : 22 अक्तूबर, 1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, लार्ड पोर्टर, सर जार्ज रैंकिन

भागीदार – दो भागीदारों में से एक ने भागीदारी कारबार में अपने हिस्से का रुपया लगाने के अतिरिक्त दूसरे भागीदार के हिस्से का भी रुपया लगाया और परस्पर तय यह हुआ कि दूसरा भागीदार अपने हिस्से के रुपए पर पहले भागीदार को ब्याज देगा – पहले भागीदार द्वारा लगाया गया अतिरिक्त रुपया दूसरे भागीदार को ऋण माना गया, न कि भागीदारी को ऋण पहले भागीदार को दूसरे भागीदार के दिवालिया हो जाने पर भागीदारी में उसके हिस्से में कोई धारणाधिकार प्राप्त नहीं होगा ।

निर्णय (सार)

जस्टिस लार्ड रोमर – यह अपील लाहौर उच्च न्यायालय की 16 नवम्बर, 1933 की एक डिक्री के विरुद्ध है । उन्होंने ऐसे हेतुक में दिल्ली के ज्येष्ठ अधीनस्थ न्यायाधीश की 5 अगस्त, 1929 की डिक्री अपास्त कर दी है जिसमें लाला सिब्बामल (अब मृतक और अपीलार्थी के रूप में प्रतिनिधित्व कर रहे हैं) वादी और प्रतिवादी सं. 2, राय साहिब रूप नारायण प्रधानतः मुख्य प्रतिवादी है । प्रतिवादी दिवालिया हो जाने पर, प्रत्यर्थी 1 को वाद के पक्षकार के रूप में शासकीय रिसीवर, दिल्ली के रूप में शामिल किया गया । परंतु प्रश्न यह अवधारित करने के लिए है क्या 1,66,570/- रुपए की रकम जो प्रत्यर्थी 2 से लाला सिब्बामल को देय है प्रत्यर्थी का दिल्ली में भूमि में हित अप्रतिभूत ऋण है ।

2. विवाद एक भागीदारी को लेकर है । 24 नवम्बर, 1921 को रूप नारायण प्रथम पक्षकार और शिब्बामल दूसरा पक्षकार के बीच एक भागीदारी विलेख लिखा गया । विवादग्रस्त्र प्रश्न दस्तावेज का शुद्ध अर्थान्वयन है जिसमें विस्तार से इसके उपबंधों पर विचार किया कि वे भागीदारी में

सम्पत्ति अर्जित करके, निर्माण करके तथा विक्रय आदि करके लाभ कमाना चाहते हैं । रूप नारायण का हिस्सा 3/4 था और सिब्बामल का 1/4 । उनहोंने 1,25,000/- रु. में एक सम्पत्ति खरीदी । उसमें रूप नाराण ने 25,000/- रु. दिए और शिब्बामल ने 1,00,000/- रु. । भागीदारी विलेख में यह लिखा गया कि शिब्बामल ने अपने हिस्से की राशि के अतिरिक्त जो 68,750/- रु. दिए हैं उन पर रूप नारायण 14 आने प्रतिशत प्रतिमास की दर से ब्याज देंगे । भागीदार विलेख के खंडों में यह भी लिखा गया कि खरीदी गई सम्पत्ति टूटी हुई हालत में है जिसका पुनः निर्माण कराना होगा । उसकी लागत का 20 प्रतिशत रूप नारायण देंगे और 80 प्रतिशत शिब्बामल देंगे । शिब्बामल को इस लागत के अपने एक चौथाई हिस्से पर कोई ब्याज नहीं मिलेगा जबकि रूप नारायण उनकी ओर से शिब्बामल द्वारा लगाई गई राशि पर उन्हें 14 आना प्रतिशत प्रतिमास की दर से ब्याज देंगे । यदि इस प्रकार 100/- रु. खर्च होते हैं तो रूप नारायण 20/- रु. देंगे और शिब्बामल 80/- रु. जिसमें 25/- रु. उनके अपने हिस्से के होंगे और शेष 55/- रु. पर वे रूप नारायण उक्त दर से ब्याज पाएंगे । इस मत की आगे संपुष्टि खंड 9 और खंड 10 में है, से आय उत्पन्न करने वाले समुत्पान के रूप में प्रतिधारित की गई है । सम्पत्ति वैकल्पिक मामलों में भागीदसारी व्यवहारों को और लाभ पर बेची जा रही सम्पत्ति को विनियमित करती है । वस्तुतः, दो खंड संनिर्माण के बाद सम्पत्ति से संबंधित है ।

3. जून, 1924 को भागीदारी का पूरक विलेख पक्षकारों द्वारा किया गया । इसमें अतिरिक्त भूखंड, जिसके लिए पक्षकार पूर्व की तरह समान अनुपात में हकदार थे, को भागीदारी में लाने का उपबंध था किंतु तात्विक रूप से स्थिति पर अन्यथाप्रभाव नहीं डालता । फिर भी, दूसरे पक्कार द्वारा उसके चौथाई हिस्से अधिक संदत्त रकम पर ब्याज के बारे में एक और उल्लेख है चाहे वह मूल क्रय के बारे में या प्रभार्य ब्याज के रूप में संपत्ति के संनिर्माण से संबंधित है जिसको पहला पक्षकार अदा करने के लिए बाध्य है ।

भवनों का संनिर्माण किया गया और वादी शिब्बा मल ने, जैसा अभिकथन किया गया, रूप नारायण के खाते में 68,750/- रु. दिए जो इसकी लागत के लिए थे । किंतु 68,750/- रु. तथा उन पर ब्याज जो विलेख में लिखा है, तथा संनिर्माण की लागत एक चौथाई हिस्से पर 43,000/- रु. से अधिक का ब्याज रूप नारायण को संदाय नहीं किया गया । न ही रूप नारायण को वह लेखा किया जिसमें 43,000/- रु. खर्च

किए गए थे । 6 जनवरी, 1926 को उसमें रूप नारायण के विरुद्ध वाद संस्थित किया जिसमें प्रतिवादी के विरुद्ध 90,750/- रु. जो 68,750/- रु. के 22,000/- उद्‌भूत ब्याज समेत बनते हैं, की डिक्री की प्रार्थना की । परिसर का सन्निर्माण भागीदारी का विषय बन गया, और लागत भागीदार के पक्षकारों द्वारा किए अग्रिमों द्वारा दी गई है । किंतु इस मामले में लागत को एक चौथाई से अधिक दूसरे पक्षकार द्वारा दिए गए धन पर ब्याज भागीदारी द्वारा उसे संदत्त किया जाएगा अर्थात् भागीदारी लाभों के विभाजन से पूर्व भागीदारी निधियों में से न कि, जैसा खंडों में दिया गया, पहले पक्षकार द्वारा निजी तौर पर । न ही दूसरे पक्षकार ने ऐसा आधिक्य संभवतया पहले पक्षकार के लिए खर्च करने पर बताया है । इसे भागीदारी के लिए खर्च किया गया हो । तदनुसार, हमारी राय है कि खंड 6 उस खंड के रूप में माना जाए जिसमें सहभागीदारों के रूप में पक्षकारों के बीच संबंध शासित करने के लिए आशयित न हो किंतु उनके मध्य संबंध सम्पति के सह स्वामी के रूप में, जो पुनः निर्माण के पश्चात था, भागीदारों की विषय वस्तु होगी । दूसरे शब्दों में, हमारी राय में, दूसरे पक्षकार द्वारा उसके चौथाई हिस्से से अधिक की संनिर्माण लागत व्यक्तिगत रूप से पहले पक्षकार को दिया ऋण समझा जाएगा और न कि भागीदार को दिया गया ऋण । यह मत खंड 7 और खंड 8 पर किए गए विचार को लघु परिमाण तक संपुष्ट करता है । खंड 7 में यह उपबंध है कि संनिर्माण का कार्य और प्रबंध दोनों पक्षकारों की सहमति और परामर्श से किया जाएगा जबकि खंड 8 उस अवधि को संबोधित प्रतीत होता है जिसके पश्चात संनिर्माण पूरा किया गया है ।

प्रथम पक्षकार दिल्ली में रहते हैं । इसलिए पक्षकार संपूर्ण कार्यकलापों का, जो संपत्ति से संयुक्त है, प्रबंध करेंगे, उनकी आवश्यक मरम्मत कराएंगे और उनका नियमित खाता रखेंगे तथा उन्हें हर मास देंगे ।

4. इस हिसाब से रूप नारायण द्वारा शिब्बामल को 1,66,570/- रु. देय हुए, जिनके लिए उन्होंने वाद किया । आगे चलकर रूप नारायण दिवालिया हो गए और उनकी सम्पदा का भार शासकीय रिसीवर ने सम्भाला और उनको भी प्रतिवादी सं. 2 बना लिया गया । शिब्बामल का कहना था कि उनके द्वारा लगाई गई राशि रूप नारायण के भागीदारी में हिस्से पर भारित है, जबकि प्रतिवादियों का कहना है कि शिब्बामल का भागीदारी सम्पत्ति पर कोई भार नहीं है, वे केवल रूप नाराण के अप्रतिभूत लेनदार हैं । अधीनस्थ न्यायाधीश ने वादी की बात मानी ; किंतु उच्च

न्यायालय ने वह निर्णय उलट दिया ।

5. प्रश्न इतना ही है कि शिब्बामल द्वारा लगाई गई अतिरिक्त राशि क्या भागीदारी में रूप नारायण के हिस्से पर भारित समझी जाएगी । भागीदारी विलेख की उपर्युक्त शब्दावली से स्पष्ट है कि शिब्बामल द्वारा अतिरिक्त राशि भागीदारी को न दी जाकर रूप नारायण को दी गई मानी गई । तभी ब्याज भागीदारी द्वारा देय न होकर रूप नारायण द्वारा देय ठहराया गया । पक्षकारों के पारस्परिक व्यवहार से भी वही बात प्रकट होती है । भवन के पुनर्निर्माण में शिब्बामल ने रूप नारायण के खाते में लगभग 43,00/- रु. दिए । किन्तु न शिब्बामल को अतिरिक्त दिए गए 68,750/- रु. मिले न 43,000/- रु. और न उन पर ब्याज । अतः उन्होंने 6 जनवरी, 1926 को यह वाद रूप नारायण के विरुद्ध डिक्री के लिए दाखिल किया । इसमें भागीदारी के विरुद्ध कोई दावा नहीं था । उसके विघटन और हिसाब का भी दावा नहीं था । प्रतिवादी के विरुद्ध दावा उसकी व्यक्तिगत हैसियत में था । भागीदारी की आस्तियों के विरुद्ध कोई दावा नहीं था । किंतु फिर वादी की ओर से कहा यह गया कि भागीदारी सम्पत्ति में प्रतिवादी का हिस्सा उक्त राशि से भारित है । प्रतिवादी का यह भी कहना था कि रुपया भागीदारी को दिया गया, न कि उनको । यदि प्रतिवादी का हिस्सा भारित था तो रुपए की वसूली उससे होगी, किंतु यदि राशि प्रतिवादी को व्यक्तिगत रूप में दी गई तो भागीदारी सम्पत्ति पर भार का प्रश्न नहीं उठता । रूप नारायण के दिवालिया हो जाने पर रिसीवर को पक्षकार बनाया गया और भागीदारी भी विघटित कर दी गई । दिल्ली की सम्पत्ति 3/4 प्रतिवादी के पास रही और 1/4 वादी के पास । हिसाब लेने पर वादी को 1,66,570/- रु. देय पाए गए । उच्च न्यायालय ने यह बात नहीं मानी कि ऋण भागीदारी को दिया गया था । उनके अनुसार ऋण रूप नारायण को दिया गया था और उसकी अदायगी उनकी व्यक्तिगत जिम्मेदारी थी । हम इससे पूर्णतः सहमत हैं । अतः अपील खारिज की जानी चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जानी चाहिए । खर्चे के विषय में कोई आदेश नहीं दिया जाता ।

अपील खारिज की गई ।

श्रीमती प्रमीला देवी और अन्य......................अपीलार्थी

बनाम

पीपिल्स बैंक ऑफ नार्दर्न इंडिया लि. (समापनाधीन)....प्रत्यर्थी

(लाहौर उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 84 सन् 1937)

निर्णीत : 17.10.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, लार्ड पोर्टर, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

भारतीय कंपनी अधिनियम, 1913 – धारा 153 – जब समापनाधीन बैंक के लेनदारों और अभिदाताओं की सहमति से एक स्कीम बनाई गई और वह न्यायालय द्वारा अनुमोदित हो गई और इसमें वे तारीखें नियत कर दी गईं जब तक कि शेयर धारकों को अतिरिक्त अभिदाय करना है तो निदेशक बोर्ड उन तारीखों के पहले की तारीखें लगाकर शेयर समपहृत करने की कार्रवाई नहीं कर सकता – जिन शेयर धारकों के शेयर इस प्रकार गलत तौर पर समपहृत किए गए वे कंपनी के अभिदाता बने रहे माने जाएंगे ।

– **अनुसमर्थन** – निदेशक बोर्ड के शक्ति-वाह्य संकल्प का शेयर धारकों द्वारा अनुसमर्थन तभी माना जा सकता है जबकि शेयर धारकों को ज्ञात हो कि निदेशक बोर्ड का संकल्प शक्ति - वाह्य है ।

निर्णय संक्षेप (सार)

जस्टिस लार्ड रोमर – ये तीन समेकित अपीलें लाहौर उच्च न्यायालय के 10 मार्च, 1936 के एक आदेश के विरुद्ध हैं जो उन्होंने प्रत्यर्थी बैंक के शासकीय समापक के आवेदन पर दिया । निर्णयार्थ प्रश्न यह है इस तथ्य के होते हुए भी कि वर्ष 1933 में बैंक के संदेशकों ने आधी लार्भियों के शेयरों को समपह्त करने का तात्पर्य था और उनके नाम उसकी बाबत सदस्यों के रजिस्टर से हटा दिए गए थे कि क्या अपीलार्थी उनके शेयरों के तथाकथित समपहरण के बावजूद बैंक के अभिदाता बने रहे माने जाएंगे ।

2. इस बैंक का भारतीय कंपनी अधिनियम के अधीन निगमन 1925 में हुआ था जिसमें तब उसकी प्राधिकृत पूंजी 50 लाख रुपए थी, जो

100-100 रु. के 50,000 शेयरों से बनती थी । यह सब शेयर आबंटित हो गए और "क" शेयर कहलाए गए । वर्ष 1926 में 100-100 रु. के 50,000 शेयरों में विभाजित 50 लाख रुपए की वृद्धि पूंजी में और की गई । इसमें से 25,000 शेयर आवंटित किए गए और वे "ख" शेयर कहलाए गए । वर्ष 1929 में शेष 25,000 शेयर जारी किए गए जो "ग" शेयर कहलाएं गए । किंतु यहां उनसे हमारा संबंध नहीं है । "क" और "ख" शेयर जारी हाने पर प्रतिशेयर 50/- रु. की मांग की गई थी । मांग की अदायगी न होने पर शेयरों के समपहरण की व्यवस्था संगम अनुच्छेद 34,35,36 व 37 में हैं । अनुच्वेद 40 के अनुसार शेयर धन की मांग करने का अधिकार निदेशकों को स्वविवेकानुसार है और अनुच्छेद 44 मांगी गई राशि के संदाय में विलंब होने पर 9 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज की व्यवस्था करता है । अनुच्छेद 45 और 46 के अनुसार निदेशक मांग के पूर्व भी शेयर-धारकों से राशि प्राप्त कर सकते हैं और उस पर ब्याज दे सकते हैं । 29 सितंबर, 1931 को बैंक ने संदाय बंद कर दी । उसके तुरंत बाद बैंक को चलाने के लिए शेयरधारकों और लेनदारों की सहमति से एक स्कीम बनाई गई जो न्यायालय ने भारतीय कंपनी अधिनियम की धारा 153 के अधीन 22 दिसंबर, 1931 को अनुमोदित कर दी । इन स्कीमों के ब्यौरे अपीलार्थियों के लिए सुसंगत नहीं है । 25 जुलाई, 1932 तक यह स्पष्ट हो गया था कि उक्त स्कीम के अनुसार कार्य करने पर बैंक नहीं चल सकता । अतः उस तारीख को बैंक के शयरधारकों और लेनदारों ने एक संशोधित स्कीम बनाई, जो न्यायालय के समक्ष पेश कर दी गई । इस बीच निदेशक बोर्ड ने 15 मार्च, 1932 को "क" और "ख" शेयरों पर 20/- रुपए प्रति शेयर की दर से मांग कर दी थी, जिसमें 10/- रु. 30 अप्रैल, 1932 तक और शेष 10/- रु. 20 मई, 1932 तक दिए जाने थे । संशोधित स्कीम में इन 20/- रु. के अतिरिक्त 5/- रु. की और मांग की गई और इस संशोधित स्कीम के अनुसार संपूर्ण 25 प्रतिशत का पुनः वितरण किया गया तथा 1 जुलाई, 1932 से प्रारंभ करके 5 छमाही किस्तों में की जानी थी । उक्त 25/- रु. में से 20/- रु. की मांग निदेशक बोर्ड पहले ही कर चुका था । अब केवल 5/- रु. की मांग उसे करनी थी । प्रत्येक किस्त की अदायगी की तारीख स्कीम में नियत कर दी गई थी । विधितः बोर्ड न्यायालय की अनुमति से स्कीम में संशोधन कराए बिना उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता था । यह स्मरणीय है कि पहले 20/- रु. की अदायगी की बोर्ड द्वारा नियत तारीख स्कीम में परिवर्तित की जा चुकी थी । स्कीम की इस व्यवस्था की ओर ध्यान न देकर बोर्ड ने उक्त 20/- रु. की अदायगी के लिए अपने द्वारा

नियत तारीखें ही मानी और शेष 5/- रु. के लिए 26 जनवरी, 1933 नियत कर दी । इस प्रकार 18 जनवरी, 1933 को उन्होंने जो संकल्प पारित किया उसमें अपने द्वारा नियत तारीखों तक अदायगी न होने पर शेयरों के समपहरण के नोटिस की बात थी । साथ ही एक समझौता प्रस्ताव भी था कि शेयरधारक 15 जून, 1933, 15 दिसंबर, 1933, 15 जून, 1934 व 15 दिसंबर, 1934 तक प्रत्येक किस्त में सवा पांच प्रतिशत की दर से अदायगी कर सकते हैं ।

3. यह संकल्प स्कीम के खंड 6 की समझ का घोर अभाव व्यक्त करता है । स्कीम में जो तय हो गया था उसमें परिवर्तन निदेशक बोर्ड नहीं कर सकता था । अतः केवल अंतिम 5 प्रतिशत जमा किया जाना था और उसकी भी मांग 26 फरवरी, 1933 के पहले नहीं की जा सकती थी । उक्त संकल्प के अतिरिक्त उसी बैठक में उन्होंने यह भी पारित किया कि जिन शेयर धारकों ने पहली दो कालों वाली 20 प्रतिशत (प्रत्येक का 10 प्रतिशत) की राशि, जो क्रमशः 20 अप्रैल व 20 मई 1933 तक देय थी, 18 जनवरी, 1933 के पूर्व अदा कर दी है उन्हें अदायगी की तारीख से 31 जनवरी, 1933 तक 6 प्रतिशत की दर से और तत्पश्चात् अतिरिक्त अदा की गई राशि पर 6 प्रतिशत की दर से ब्याज अदा किया जाएगा क्योंकि अतिरिक्त राशि अग्रिम मानी जाएगी । प्रत्येक नोटिस के साथ संकल्प की प्रारूप प्रति संलग्न है । 23 मार्च, 1933 को बोर्ड की अन्य बैठक हुई । जिन शेयर धारकों ने न नोटिस के अनुसार अदायगी की थी, न समझौते के अनुसार उनके संबंधित शेयर समपहृत कर लिए गए । जिन सदस्यों ने 5 प्रतिशत की अदायगी 25 मार्च, 1933 तक कर दी थी और समझौता कर लिया था निदेशकों द्वारा 15 जून, 1933 को और 11 नवम्बर, 1933 तक उनके शेयर समपहृत नहीं किए गए । किंतु जब उन्होंने सवा पांच प्रतिशत के समझौते के अनुसार आगे अदायगी नहीं की तो उनके भी शेयर निदेशकों द्वारा समपहृत कर लिए गए ।

4. 22 मई, 1935 को बैंक के परिसमापन का आदेश हुआ और शासकीय समापक ही समापक हो गया । तब तक अपीलार्थियों के नाम अभिदाता रजिस्टर से कट चुके थे । कुछ मामलों में शेयर पुनः बिक जाने के कारण नए अभिदाताओं के नाम आ गए थे । किंतु शासकीय समापक ने सभी अपीलार्थियों को पुनः अभिदाता के रूप में प्रविष्ट कर लिया क्योंकि उनके अनुसार उनके शेयर उचित तौर पर समपात नहीं किए गए थे । उसके निर्णय के लिए उन्होंने लाहौर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को

आवेदन दिया कि अभिदाताओं की सूची निश्चित कर दी जाए । उच्च न्यायालय ने निर्णय किया कि 18 जनवरी, 1933 का संकल्प स्कीम के खंड 6 से असंगत होने के कारण अधिकारातीत है । यह तर्क भी नहीं माना गया कि निदेशकों के कार्य का अनुसमर्थन लेनदारों और शेयरधारकों ने कर दिया है उन्होंने शासकीय परिसमापक का आवेदन स्वीकार नहीं किया । यदि ऐसा अनुसमर्थन होता तब भी ऐसे कार्य को विधिमान्य नहीं बनाता । तदनुसार, अभिदाता रजिस्टर के संशोधन का निदेश दिया गया । उसी के विरुद्ध सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील की गई ।

5. हमारे विचार से उच्च न्यायालय का निर्णय सही है । संशोधित स्कीम की न्यायालय द्वारा पुष्टि होने पर वह कंपनी अधिनियम की धारा 153 के अनुसार लेनदारों, शेयर धारकों और बैंक पर समान रूप से आबद्धकर हो गई । तत्पश्चात् उसके निबंधनों में परिवर्तन लेनदारों और शेयर धारकों की बैठक में अनुमोदन के बाद न्यायालय के आदेश से ही हो सकता था । अतः बैंक या उसके निदेशकों या शेयरधारकों को संकल्प या अनुसमर्थन द्वारा यह अनुमत नहीं था कि स्कीम के खंड 6 में नियत तारीखों को बदलें । जिस प्रकार तारीख बदलना अधिकारातीत था उसी प्रकार नोटिस में समझौते की बात भी अमान्य थी क्योंकि उसमें भी स्कीम से विचलन था । 18 जनवरी, 1933 के संकल्प में 5 प्रतिशत वाली काल के अतिरिक्त बात तथा बाद में शेयरों का समपहरण शून्य था । बहस यह की गई कि 18 .1.1933 को भी दो किस्तें स्कीम के अनुसार देश हो चुकी थीं, अतः उनकी अदायगी का न होने पर समपहरण हो सकता था । किंतु यहां मामला दो किस्तों की अदायगी का न होकर 25 प्रतिशत की 26 फरवरी, 1933 तक अदायगी न होने पर समपहरण का था । यह बात संकल्पों तथा नोटिस में स्पष्ट है ।

6. यह भी बहस की गई कि जिन लोगों ने 25 मार्च, 1933 तक कम से कम 5 प्रतिशत तक दे दिया था उनके शेयर उस समय समपहृत नहीं किए गए और उन्हें समझौते के क्रियान्वयन के लिए और समय दिया गया । अतः समपहरण केवल 5 प्रतिशत की अदायगी न होने के कारण माना जाना चाहिए । किंतु इस मामले की परिस्थितियों में यह अमान्य है ।

7. यह स्मरणीय है कि शेयरों के समपहरण के मामले में लिए उन्हीं व्यक्तियों का नहीं होता जिनके शेयर समपहृत होते हैं, अपितु लेनदारों का भी होता है क्योंकि शेयर समपहृत हो जाने पर शेयरधारक आगे की मांग का देनदार नहीं रह जाता और इस प्रकार लेनदारों की हानि हो सकती है ।

अतः लेनदार भी हकदार हैं कि शेयरों के समपहरण की शक्ति का प्रयोग सही तौर पर किया जाए । समपहरण का अवसर आने पर नोटिस भेजने की व्यवस्था होती है । किंतु प्रत्येक शेयरधारक को नोटिस भेजने की मांग का शेयरधारक अधित्यजन भी कर सकता है । किंतु उससे कंपनी या उसके निदेशकों को उस दशा में समपहरण की शक्ति नहीं मिल जाती जबकि वह शक्ति विधितः नहीं हो ।

8. प्रस्तुत मामले में अनुसमर्थन की बात भी नहीं मानी जा सकती । कहा यह गया कि विभिन्न तुलनपत्रों और रिपोर्टों में समपहरण का उल्लेख था ; जो कुछ चर्चा लेनदारों और शेयरधारकों ने की उसमें किसी ने समपहरण को प्रश्नगत नहीं किया । किंतु स्कीम के आबद्धकर होने के कारण यह तर्क अमान्य है । फिर, यहां अनुसमर्थन के लिए अपेक्षित कानूनी साक्ष्य भी नहीं है । **स्पैकमैन** बनाम **ईवन्स**[1] में बताया गया कि निदेशकों का अधिकारातीत कार्य शेयरधारकों की उपमति से एक सीमा तक ही विधिमान्य हो सकता है और किसी भी दशा में उसके लिए सिद्ध होना चाहिए कि प्रत्येक शेयरधारक की जानकारी में वह बात लाई गई और वह उपमत हुआ । उसमें पृष्ठ 194 पर बताया गया कि निदेशकों का कार्य अवैध है । इसी आशय की उक्ति **इरविन** बनाम **यूनियन बैंक ऑफ आस्ट्रेलिया**[2] में की गई । वास्तव में अनुसमर्थन करने के आशय के बिना अनुसमर्थन नहीं हो सकता और अवैध कार्य के अनुसमर्थन का आशय केवल तब हो सकता है जब उस अवैधता का ज्ञान हो । प्रस्तुत मामले में कुछ नहीं है जो प्रकट करे कि शेयरधारकों का ध्यान समपहरण की अवैधता या अनियमितता की ओर आकर्षित किया गया और उनसे अपेक्षा की गई कि अनुसमर्थन करें ।

9. उपर्युक्त कारणों से हमारी राय है कि यह अपील खर्चे सहित खारिज की जानी चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तद्नुसार है ।

अपील खारिज की गई ।

---

[1] [1869] 3 हाऊस ऑफ लार्ड 171 (234).

[2] [1877] 2 अपील केसेज 366 (375).

मोहम्मद इस्माइल और अन्य.....................अपीलार्थी

बनाम

हनुमान प्रसाद और एक अन्य.......प्रत्यर्थी

(लाहौर उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 31 सन् 1937)

निर्णीत : 20 अक्तूबर, 1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, लार्ड पोर्टर, सर जार्ज लाउन्ड्स, सर जार्ज रैंकिन

मुस्लिम विधि – वक्फ की विधि – मान्यता – बंधकार द्वारा बंधक राशि की मांग के शीघ्र पश्चात्, बन्धककर्ता द्वारा ऐसा वक्फ जिसके अधीन वक्फ सम्पत्ति की आय पर अपने जीवन पर्यन्त उसका पूरा नियंत्रण और उसकी मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति के सारे लाभ मुस्लिम विधि के अनुसार उसके वारिसों में विभाज्य तथा अंतिम, किंतु किंचित् दूरस्थ, अवशेष पूर्त कार्यों हेतु – साथ ही साथ बंधककर्ता द्वारा लगभग अपनी सब अन्य सम्पत्ति का नाममात्र के प्रतिफल के बदले अपनी पत्नी के संबंधी और पत्नी की बहन के पक्ष में विक्रय और दानबंधककर्ता का एकमात्र उद्देश्य लेनदार से अपनी सम्पत्ति बचाना – वक्फ अवधिमान्य ठहराया गया ।

निर्णय

जस्टिस सर जार्ज लाउन्ड्स – इस निर्णय के प्रयोजनार्थ तथ्य नितांत संक्षेप में कहे जा सकते हैं । मुख्य तथ्य विवादग्रस्त नहीं हैं । (संव्यवहारों के पूर्व, जिनका यहां बाद में उल्लेख किया जाएगा) अपीलार्थियों का पिता मोहम्मद सादिक दिल्ली में विभिन्न स्थावर सम्पत्तियों का स्वामी था । 27 फरवरी, 1922 को उसने नगर में स्थित कई छोटी इमारतों में दो तिहाई हिस्सा प्रत्यर्थी के पिता, चुन्नी लाल के पास 25,000/- रु. में बंधक रख दिया । बंधकककर्ता ने कोई अदायगी नहीं की । अतः 5 मार्च, 1926 को चुन्नी लाल ने उस पर एक नोटिस की तामील की, जिसमें बंधक ऋण 10 दिन के भीतर अदा करने की मांग की गई थी । ऐसा प्रतीत होता है कि बंधककर्ता ने इस मांग का कोई उत्तर नहीं दिया, बल्कि इस पर वह वस्तुतः अपनी सब अन्य सम्पत्तियों का व्ययन करने के लिए अग्रसर हुआ । 23.3.1926 को उसने अपनी पत्नी के एक संबंधी के पक्ष में 1500/- रुपए के नाममात्र के प्रतिफल के बदले एक विक्रय-विलेख निष्पादित कर दिया । 29 अप्रैल, 1926 को उसने (1) अपनी पत्नी की

बहन के पक्ष में एक अन्य भवन का दान-विलेख निष्पादित कर दिया, जिसका मूल्य 15,000/- रु. था । (2) उसी दिन उसने एक वक्फ़-अलल-औलाद भी निष्पादित किया, जिससे अंतिमतः लगभग 12,000/- रुपए की अन्य सम्पत्ति का किंचित् दूरस्थ अवशेष के पूर्तकार्य हेतु व्यवस्थापन सहित अपने, अपनी संतान और उनके वंशजों के पक्ष में व्यवस्थापन तात्पर्यित था । प्रस्तुत अपील में इसी वक्फ़ की विधिमान्यता विवादग्रस्त है ।

2. 9 अगस्त, 1926 को चुन्नी लाल ने अपने बंधक के संबंध में एक वाद संस्थित किया जिसमें उसने मूलधन और उस दिन तब ब्याज के 41,968/- रु. का दावा किया । 28 मार्च, 1927 को सामान्य प्ररूप में प्रारंभिक डिक्री पारित की गई । उसी वर्ष 28 अप्रैल को अंतिम डिक्री पारित की गई । सम्यक् अनुक्रम में बंधक सम्पत्ति का विक्रय किया गया जिससे अंततः केवल 14,000/- रु. मिले और इस रकम का बड़ा भाग शेष रहा, जिसके लिए बंधकदार ने जुलाई, 1928 में मोहम्मद सादिक के विरुद्ध व्यक्तिगत डिक्री प्राप्त की । उसके निष्पादन में बंधकदार ने वक्फ में समाविष्ट इन सम्पत्तियों सहित सभी सम्पत्ति कुर्क करा ली । अंतरितियों ने आपत्ति की और कुर्की उठाने के लिए आवेदन किया, किंतु प्रत्येक मामले में उनकी आपत्ति अननुज्ञात कर दी गई । न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि संव्यवहार कपटपूर्ण थे । तत्पश्चात् दावेदारों ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 63 के अधीन वाद संस्थित किए, जो सभी अंततः लाहौर उच्च न्यायालय द्वारा खारिज कर दिए गए । उनमें से एक में, जो वक्फ से संबंधित था, सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील की गई है । अपीलार्थी, मोहम्मद सादिक के, जिसकी अब मृत्यु हो गई है, पुत्र और पुत्रियां हैं । भारत में कार्यवाहियों के दौरान चुन्नी लाल की भी मृत्यु हो गई और उस का पुत्र प्रत्यर्थी उसका प्रतिनिधित्व कर रहा है ।

3. दिल्ली के अपर अधीनस्थ न्यायाधीशों ने वक्फ़ का वाद सुना जिससे प्रस्तुत अपील उत्पन्न हुई है । उन्होंने 31 अक्तूबर, 1930 को अपना निर्णय दिया । उन्होंने अभिनिर्धारित किया कि वक्फ विधिमान्य था और अपीलार्थियों के पक्ष में डिक्री पारित की । उनका निष्कर्ष था कि जिस समय वक्फ़ निष्पादित किया गया था उस समय बंधकदार का दावा पूरा करने के लिए बंधक सम्पत्ति भलीभांति पर्याप्त थी । इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए उन्होंने मुख्यतया इस तथ्य पर निर्भर रहे कि बंधक वाद में कतिपय अंतर्वर्ती कार्यवाहियों में न्यायालय द्वारा नियुक्त कमिश्नर ने सम्पत्ति का मूल्य 50,000/- रु. से अधिक आंका, जो स्वीकृत रूप से पूरा बंधक-ऋण चुकाने हेतु पर्याप्त था । उच्च न्यायालय में अपील कोल्डस्ट्रीम और जय

लाल ने सुनी । निर्णय न्यायमूर्ति जय लाल ने सुनाया । उनके विद्वान् सहयोगी उससे सहमत हुए ।

4. विद्वान् न्यायमूर्तियों ने ऊपर उल्लिखित मूल्यांकन पर अधिक भरोसा नहीं किया और हम सहमत हैं कि वह सरसरी तौर पर किया गया था । निर्णय में कहा गया है कि अभिलेख से यह साबित है, और वास्तव में यह सामान्य जानकारी की बात है, कि 1921 के दौरान जब मोहम्मद सादिक ने बंधक सम्पत्ति खरीदी और 1928 के बीच जब निष्पादन विक्रय किया गया ; दिल्ली में सम्पत्तियों का मूल्य घट रहा था और अपीलार्थी के काउंसेल ने इसे विवादस्पद नहीं किया । विद्वान जस्टिस ने 14,000/- रु. के नीलाम-मूल्य को तत्समय बंधक सम्पत्ति के मूल्य का उत्कृष्ट सबूत माना, और इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि एक अन्य पक्षकार ने सम्पत्ति को 15,000/- रु. में खरीदने की प्रस्थापना की, जो बंधककर्ता स्वीकार करने के लिए तैयार था, किंतु भावी क्रेता पीछे हट गया । उनका विचार था कि वक्फ़ के उपबंध, जिनसे व्यवस्थापक का जीवनपर्यन्त आय पर पूरा नियंत्रण था और उसकी मृत्यु के पश्चात् आय मुस्लिम विधि के अनुसार उसके वारिसों में विभाज्य थी, इन तारीखों के साथ स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं कि व्यवस्थापक का उद्देश्य अपनी अन्य सम्पत्ति लेनदार से बचाना था, अर्थात् (1) बंधकदार की संदाय के लिए मांग ; (2) अन्य सम्पत्तियों के अंतरण की और (3) वक्फ नामे के निष्पादन की तारीखें । उनके विचार में यह भी महत्वपूर्ण है कि उसके वक्फ़ के सद्भाव के समर्थन में कोई साक्ष्य नहीं दिया । हमारी राय में इन विचारों में निस्संदेह बड़ा वजन है और इनसे समुचित रूप से वही निष्कर्ष निकलता है जो न्यायमूर्तियों ने निकाला । हम उससे सहमत हैं ।

5. वास्तविक प्रश्न यह है कि अपनी सम्पत्ति के इन व्ययनों को करते समय मोहम्मद सादिक के मस्तिष्क में क्या था । जिस मूल्यांकन का अपीलार्थियों ने इतना अधिक आश्रय लिया वह तब तक फलीभूत नहीं हुआ था और हमारा विचार है कि मोहम्मद सादिक यह अवश्य जानता था कि कम से कम यह संदेहास्पद है कि बंधक सम्पत्ति का मूल्य पूरा ऋण चुकाने के लिए पर्याप्त है । उसके द्वारा किए गए व्ययनों की प्रकृति से तथा इस तथ्य से कि वह अपने द्वारा किए गए व्ययनों को स्पष्ट करने के लिए अथवा अपने कार्य की लगभग स्पष्ट विवक्षा का खण्डन करने के लिए साक्षी के रूप में आने को तैयार नहीं था, हमारी राय में अनिवार्यतः वही निष्कर्ष निकलता है जो उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायमूर्तियों ने निकाला ।

6. सबूत के भार के प्रश्न पर भी बहुत बहस की गई है । स्पष्टतः भारतीय न्यायालयों की यह स्थापित प्रणाली रही है कि जब निष्पादन में कुर्की के विरुद्ध आक्षेप खारिज कर दिया गया और आक्षेपकर्ता ने संहिता के आदेश 21 के नियम 63 के अधीन वाद संस्थित किया, तो वादी की हैसियत से यह साबित करने का भार आक्षेपकर्ता पर होता है कि संव्यवहार सद्भावपूर्वक किया गया था । जब सबूत के भार का प्रश्न वास्तव में महत्वपूर्ण है, तो इस पर सम्भवतः और विचार करने की अपेक्षा हो सकती है । प्रस्तुत मामले में तथ्य पूर्णतया साबित हैं और उनसे निकाला गया निष्कर्ष स्पष्ट है । अतः हमारी राय है कि हमारे समक्ष जिन निर्णयों का हवाला दिया गया है उन को समीक्षा करने से कोई लाभ नहीं होगा । उपर्युक्त कारणों से हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जानी चाहिए और अपीलार्थी प्रत्यर्थियों का खर्चे का संदाय करें ।

अपील खारिज की गई ।

फर्म गोकल चन्द जगन्नाथ..............................अपीलार्थी

बनाम

फर्म नन्दराम दास आत्माराम.............प्रत्यर्थी

(लाहौर उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 133 सन् 1936)

निर्णीत : 17 अक्तूबर, 1938

उपस्थित – जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, लार्ड पोर्टर, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

भारतीय संविदा अधिनियम, 1972 – धारा 188, 211 व 212 – आढ़तिया का सदैव यह कर्तव्य नहीं होता कि वह व्यवहारियों से नकद व्यवहार करे – जब व्यवहारी आर्थिक कठिनाई में हो तो आढ़तिया का कर्तव्य है कि इस प्रकार व्यवहार करे कि उससे अधिकतम राशि वसूल हो जाए – एकदम सारी नकद राशि का आग्रह अपेक्षित नहीं ।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – आदेश 41, नियम 31 – न्यायाधीश का निर्णय सुनाने के बाद उस पर हस्ताक्षर किए बिना छुट्टी पर चले जाना उचित नहीं – किंतु यह ऐसी अनियमितता नहीं है जिससे

कि निर्णय ही दूषित हो जाए ।

निर्णय संक्षेप (सार)

जस्टिस लार्ड राइट – अपीलार्थी स्यालकोट की एक व्यापारी फर्म है । प्रत्यर्थी कलकत्ता की एक अढ़तिया फर्म है जो 1919 से 1922 तक अपीलार्थियों की ओर से चीनी के क्रय-विक्रय का और बोरियों की खरीद का कार्य करती थी । इस अपील में प्रश्न इस प्रक्रम में प्रत्यर्थियों ने अपीलार्थियों की ओर से तीन संव्यवहार किए । इनके परिणामस्वरूप दीवान चन्द अमर चन्द से 1,275/- रु., चतुर्भुज दास से 8,670/- रु. और कालूराम कन्हैया लाल से 510/- रु. वसूलनीय हुए । यह स्थिति तब थी जब संव्यवहार अक्तूबर, 1920 में बंद कर दिए । यह तीनों बड़ी आर्थिक कठिनाई में थे और प्रत्यर्थी राशियां अंशतः ही वसूल कर सके । उनकी बकाया राशि का अंतर वसूलने के लिए अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी पर वाद कर दिया ।

2. ऋणियों में चतुर्भज दास की फर्म मई, 1922 में दिवालिया हो गई जबकि उस पर काफी रुपया बकाया था । प्रत्यर्थी ने उनसे केवल 764/- रु. 15. आ. 3 पा. नकद प्राप्त किए और शेष के लिए मार्च, 1921 में हुंडियां प्राप्त कीं और अक्तूबर, 1921 में उनका नवीकरण प्राप्त किया । प्राप्त की गई हुंडियां प्रत्यर्थियों के पक्ष में थीं और उनमें अभीलार्थियों के लिए किया गया संव्यवहार की बाबत देय रकम से भिन्न रकम शामिल थी । प्रत्यर्थियों के आढ़ती के रूप में प्रत्येक मामले में संव्यवहार सम्यक् अनुक्रम में अपने नाम में किए थे । उनके और इस पक्षकार के बीच सम्पूर्ण तुलन खाते के संबंध में तीसरे पक्षकार से व्यवस्थापन लिया था और जिसमें स्वयं उन्होंने उनके विभिन्न घटकों, जिसमें अपीलार्थी भी है, के बीच कुल राशि प्रभाजित की । अपीलार्थी, जिनसे इस बाबत हुन्डियां प्राप्त की थीं, हुंडियां लेने से पहले परामर्श नहीं किया था । न ही हुंडियां स्वीकार करने के लिए प्रत्यर्थियों को कोई स्पष्ट प्राधिकार दिया था । वाद में दावा तीसरे पक्षकार से अपीलार्थियों को बकाया अतिशेष वसूल करने के लिए था । इन हुंडियों में स्वयं प्रत्यर्थियों को ऋणी फर्म द्वारा देय राशि भी शामिल थी, किंतु उसके हिसाब में कठिनाई नहीं थी । अपीलार्थी का कहना है कि प्रत्यर्थी ने हुंडियां उसकी अनुमति के बिना प्राप्त कीं और उन्हें उधार नहीं मानना चाहिए था । अन्य दो फर्मों की स्थिति वैसी ही थी बल्कि उनके मामलों में शेष के लिए दावा अंत में परिसीमा-वर्जित हो गया ।

अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी इस आधार पर तीसरे पक्षकार से वसूल न की गई रकम अपीलार्थियों को संदाय

करने के लिए दायी थे कि प्रत्यर्थी अभिकर्ताओं के रूप में उनसे रकम वसूल करने की बजाए तीसरे पक्षकार को प्रत्यय दे रहे थे, वह भी अपने जोखिम पर, तीसरे पक्षकार की वित्तीय स्थिति गड़बड़ाई हुई थी और अपीलार्थी अंततः वसूल न किए गए ऋण की रकम के अपनी सिद्धांतों के अनुसार जवाबदार थे । अन्य शब्दों में, उन्होंने अभिनिर्धारित किया कि आढ़ती उस ऋणी व्यक्ति के जिसको उसने काफी बड़ी उधार रकम दी थी दिवालियापन से सिद्धांत को हुई हानि के लिए जिम्मेदार था । उन्होंने इस संबंध में ब्याज और अन्य विषयों पर विचार किया । इस निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की गई उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय के निर्णय को उलट दिया ।

उच्च न्यायालय सिद्धांत के उस कथन को स्वीकार नहीं कर सका जिसके आधार पर अधीनस्थ न्यायाधीश ने विनिश्चय किया था । उनकी राय में असली सिद्धांत वह कर्तव्य था जिसे प्रत्यर्थी अभिकर्ता के रूप में अपीलार्थी को देने के दायी थे । न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि वर्तमान मामले में वादी के रूप में अपीलार्थी यह साबित करे कि प्रत्यर्थी प्रतिवादी के रूप में उस कर्तव्य को करने में असफल रहे और उपेक्षा के दोषी है । इसके विपरीत न्यायालय साक्ष्य में आधार पर माना कि यह साबित हो गया था कि प्रतिवादियों ने वह सब कुछ, जो संभव था, किया और दूसरों की गलती नहीं है कि वसूली की गई रकम उस रकम से ज्यादा नहीं थी । उन्होंने अधीनस्थ न्यायाधीश के निर्णय को 5919.8 रु. अ पा.रु. की रकम की डिक्री कर दी और इस रकम को 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से संदाय किए जाने तक वाद संस्थित करने की तारीख से ब्याज सहित ऋण उधार लेने वाले तीन व्यक्तियों की बाबत प्रत्यर्थियों द्वारा वास्तविक रूप से एकत्रित की जाने वाली रकम के रूप में दर्शित है ।

3. हम उच्च न्यायालय से सिद्धांत के विषय में सहमत हैं और तथ्यों के निष्कर्ष के विषय में भी जहां तक सिद्धांत का संबंध है । निर्णय इस बात पर निर्भर करता है कि उस दशा में अभिकर्ता का क्या कर्तव्य होता है जबकि उसके प्रधान का ऋणी अन्य व्यक्ति वित्तीय कठिनाई में हो । हमारे विचार से तब उसका कर्तव्य यह होता है कि उन परिस्थितियों में जो कुछ भी प्राप्त किया जा सके उसे प्राप्त करने का पूरा प्रयत्न करे । यह हो सकता है कि यह अधिक बुद्धिमानी की बात हो कि ऋणी पर अधिक दबाव डालकर उसे दिवालिया न बना दिया जाए और उस समय जो वह नकद दे सकता है वह ले लिया जाए और शेष के लिए समय दे दिया जाए । प्रत्यर्थियों ने इस मामले में यही किया । उन्होंने ऋण की पर्याप्त राशि

वसूल कर ली और इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि वे और भी वसूल कर सकते थे । बल्कि साक्ष्य तो यह है कि वे और वसूल नहीं कर सकते थे । अपीलार्थियों के अधिवक्ता ने जोरदार बहस की कि प्रत्यर्थी उस पूरी राशि का देनदार है जो अंत में बकया रही क्योंकि अभिकर्ता सामान्यतः आबद्ध होता है कि प्रधान को देय ऋण चुकाने के लिए नकद प्राप्त करे ; उसे अपने प्रधान के अभिव्यक्त अनुदेशों के बिना उधार करने का अधिकार नहीं होता ; प्रस्तुत मामले में ऐसे कोई अनुदेश नहीं दिए गए थे ; बल्कि प्रत्यर्थियों ने कोई अनुदेश हुंडियां प्राप्त करने के पूर्व मांगा भी नहीं । यह दृष्टिकोण सही नहीं है । बहुधा अभिकर्ता को प्रधान के अनुदेशों अथवा रूढ़ि के अभाव में नकद व्यवहार करना होता है । इस प्रकार **ब्लम्बर्स** बनाम **लाइफ इंटरेस्ट आदि**[1] द्वारा अदायगी को उचित निविदा नहीं माना गया । इसी प्रकार से **विलियम्स** बनाम **ईवंस**[2] में नीलामकर्ता को खरीदार द्वारा विनिमय-पत्र द्वारा अदायगी विक्रेता के विरुद्ध प्रभावी नहीं मानी गई । **प्रेप** बनाम **वेस्टाकाट**[3] में अभिकर्ता को इस कारण देनदार ठहराया गया कि उसने अन्य व्यक्ति को लाइसेंस ऐसी चेक के बदले में दे दिया था जो भुनी नहीं । किंतु यहां स्थिति बहुत भिन्न है । यहां तो ऋणी वित्तीय कठिनाई में था । अभिकर्ता जितना भी नकद प्राप्त कर सकता था उसने अपना पूरा प्रयत्न करके उसने प्राप्त किया और शेष के लिए उसने ऋणी को कुछ समय देना बेहतर समझा । यहां अभिकर्ता कोई मूल्यवान अधिकार नहीं छोड़ रहा था । यह साबित करने का भार वादी पर था कि अभिकर्ता ने अपना कर्तव्य नहीं किया । वादी तभी सफल हो सकता है जब वह साबित करे कि परिस्थिति ऐसी थी कि अभिकर्ता और वसूल कर सकता था । इस सिद्धांत का दृष्टांत **रसेल** बनाम **पामर**[4] में मिलता है जिसमें कि निर्णीत-ऋणी को उपेक्षावश बिना अदायगी किए छूट जाने दिया गया । अतः अभिकर्ता को उतनी राशि का देनदार ठहराया गया जो निष्पादन में वसूल की जा सकती थी । यहां प्रत्यर्थी ऋण का गारंटीकर्ता नहीं था । वह उसी सीमा तक देनदार हो सकता था जहां तक कि साबित होता कि उसने वसूली करने में उपेक्षा की, जैसे कि **विलियम्स** बनाम **ईवंस**[2] में उपेक्षा के कारण अपीलार्थियों की हानि हुई । अपीलार्थी से ऐसा कुछ साबित नहीं कर पाया ।

---

[1] [1897] 1 चोसरर 171.

[2] [1866] क्वीलस बेंच 352.

[3] [1894] क्वीन्स बचें 272.

[4] [1742-74] 2 विल्स के. बी. 325..

4. एक अन्य बहस यह की गई कि उच्च न्यायालय का निर्णय विधिमान्य नहीं है क्योंकि निर्णय सुनाने वाले न्यायाधीश उस पर हस्ताक्षर किए बिना छुट्टी पर चले गए और उप रजिस्ट्रार को उस पर उस आशय का पृष्ठांकन करना पड़ा । सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 41, नियम 31 अपेक्षा करता है कि अपील न्यायालय का निर्णय लिखित रूप में होगा और सुनाए जाने के समय न्यायाधीश या न्यायाधीशों द्वारा हस्ताक्षर करके तारीख डाली जाएगी । यह नहीं कहा गया है कि इसका अनुपालन न होने पर निर्णय शून्य हो जाएगा । ऐसे असाधारण परिणाम के लिए स्पष्ट व्यवस्था होनी चाहिए थी । इसमें यह भी नहीं बताया गया है कि कितने समय के भीतर हस्ताक्षर हो जाने चाहिए । यह व्यवस्था पक्षकारों के अधिकारों को प्रभावित करने के लिए आशयित नहीं है । सामान्यतः न्यायाधीश हस्ताक्षर कर ही देते हैं । दुर्घटना भी हो सकती है । हो सकता है कि निर्णय सुनाने के बाद और उस पर हस्ताक्षर करने के पूर्व न्यायाधीश का देहावसान हो जाए । न्यायालय को ऐसी त्रुटि के निराकरण का अंतर्निहित अधिकार होना चाहिए । निस्संदेह न्यायाधीश को हस्ताक्षर किए बिना छुट्टी पर नहीं जाना चाहिए था । किंतु यह त्रुटि मात्र अनियमितता है । सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 99 और 108 में उपचार की व्यवस्था है । धारा 99 के अनुसार कोई डिक्री ऐसी अनियमितता से दूषित नहीं होती जो मामले के गुणागुण या न्यायालय की अधिकारिता को दुष्प्रभावित न करे । धारा 108 की वही व्यवस्था अपीली डिक्री को लागू होती है । यह बोर्ड भी यहां की गई हिज मैजेस्टी सपरिषद् की अपीलों को उक्त व्यवस्था स्वविवेकानुसार लागू कर सकता है । अतः, उक्त त्रुटि से निर्णय दूषित नहीं हुआ ।

5. हमारी राय में अपील असफल होनी चाहिए और खर्चे सहित खारिज की जानी चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तद्नुसार है ।

अपील खारिज की गई ।

एस. एन. बनर्जी और एक अन्य......................अपीलार्थी

बनाम

कछवार लाइन एंड स्टोन कंपनी लि. और अन्य.........प्रत्यर्थी

(पटना उच्च न्यायालय के निर्णय[1] के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 82 सन् 1937)

निर्णीत : 31 अक्तूबर,1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, लार्ड पोर्टर, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – धारा 109 – व्यादेश के भंग द्वारा अवमान का दोषी ठहराने के आदेश के विरुद्ध अपील की इजाजत इस धारा के अधीन दी जा सकती है – ऐसा अवमान आपराधिक प्रकृति का नहीं होता ।

प्रक्रिया – प्रिवी कौंसिल – प्रिवी कौंसिल समुद्र पार के न्यायालयों के अवमान का दोषी ठहराने के आदेश के विरुद्ध अपील की इजाजत स्वविवेकानुसार दे सकती है – इस शक्ति का प्रयोग बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए ।

अवमान – "क" के विरुद्ध व्यादेश कि वह "ख" के कब्जे में हस्तक्षेप न करे – "ग" उस कार्यवाही का पक्षकार नहीं – "क" ने भूमि "ग" को पट्टे पर उठा दी – "ग" द्वारा हस्तक्षेप – यहां "क" द्वारा स्वयं अवमान नहीं बनता कहा यह जाना चाहिए कि "क" ने अवमान किया और "ग" ने उसका दुष्प्रेरण किया ।

निर्णय संक्षेप (सार)

जस्टिस लार्ड पोर्टर – ये समेकित अपीलें पटना उच्च न्यायालय के 9 अक्तूबर, 1936 के एक आदेश के विरुद्ध है, जिसमें उन्होंने प्रत्यर्थी कछवार लाइम एंड स्टोन कंपनी के आवेदन पर (1) भारत सचिव, (2) एस. एन. घोष और (3) एस. एन. बनर्जी को अवमान का दोषी ठहराते हुए अर्जीदार आवेदक को खर्चा देने का निदेश दिया है ।

---

[1] आ. इं. रि. 1937 पटना 65.

2. मामले के तथ्य इस प्रकार हैं – 1 अप्रैल, 1928 को भारत सचिव ने कछवार लाइन एंड स्टोन कंपनी को एक पट्टा निचली मुरली पहाड़ी में खनिज अधिकारों का और दूसरा पट्टा उपरली मुरली पहाड़ी में खनिज अधिकारों और भूतल अधिकारों का 20 वर्ष की अवधि के लिए दिया। पट्टे की एक यह शर्त अनुबंधित थी कि पट्टेदार बिहार-उड़ीसा के राजस्व बोर्ड की पूर्व अनुमति के बिना अपने अधिकार अंतरित या समनुदिष्ट नहीं करेगा। 23 सितंबर, 1928 को पट्टेदार ने स्थानीय जमींदार से निचली मुरली पहाड़ी के भूतल अधिकार भी खरीद लिए। जनवरी, 1933 में उक्त कंपनी स्वैच्छिक परिसमापनाधीन हो गई। 20 सितंबर, 1933 को उसने एक एस.जी. घोष से अपने दो पट्टों के अधिकारों की विक्रय संविदा की 6 अक्तूबर, 1933 को उसने उसे जमींदार से खरीदे गए निचली मुरली पहाड़ी के भूतल अधिकार बेच भी दिए। फिर उसने 9 अक्तूबर, 1933 को शाहबाद के कलेक्टर को पट्टे के समनुशेदन की अनुज्ञा के लिए आवेदन दिया। उसी दिन से उक्त घोष ने वहां खुदाई कार्य प्रारंभ कर दिया। 6 दिसम्बर, 1933 को सासाराम के उप मंडल अधिकारी ने उक्त अनुज्ञा देने से इंकार कर दिया और घोष को निदेश दिया कि काम रोक दे। 24 अप्रैल, 1934 को मण्डल आयुक्त ने प्रत्यर्थियों के सालिसिटर को सूचित किया कि सरकार ने 27 मार्च, 1934 के आदेश द्वारा पट्टे समपहृत कर लिए हैं। 18 जुलाई, 1934 को इसकी औपचारिक संपुष्टि हो गई।

3. इसी बीच कल्याणपुर लाइम वर्क्स लि. के प्रबंध निदेशक ने उक्त खदानों के पट्टों के लिए शाहाबाद के कलेक्टर से संपर्क किया। 31 मार्च, 1934 के पत्र द्वारा राजस्व बोर्ड के सचिव ने आयुक्त को सूचित किया कि उक्त कंपनी को पट्टे दे दिए गए हैं। इस पत्र की प्रति उस कंपनी के प्रबंधक एस. एन. बनर्जी को भेजी गई। इस पर कल्याणपुर कंपनी ने अप्रैल, 1934 में खदान का कब्जा ले लिया और इसका अनुमोदन कलेक्टर ने अपने 13 मई, 1934 के पत्र द्वारा कर दिया। 21 अप्रैल, 1934 को एस. एन. बनर्जी ने प्रत्यर्थी कंपनी को सूचित किया कि राजस्व बोर्ड कल्याणपुर कंपनी को पट्टा मंजूर कर दिया है। कंपनी और बोस के बीच खदानों में आने और जाने संबंधी कुछ अधिकार विवादग्रस्त रहे किंतु कंपनी ने अपना खुदाई कार्य चालू रखा। 24 सितंबर, 1934 को प्रत्यर्थी कंपनी ने आरा के अधीनस्थ न्यायाधीश न्यायालय में भारत राज्य सचिव के विरुद्ध एक वाद लाया जिसमें यह घोषित किया जाए कि उसके पट्टों का समपहरण अवैध है तथा एक व्यादेश दिया जाए जो भारत राज्य सचिव और

उनके सेवकों तथा अभिकर्ताओं को रोके कि कल्याणपुर कंपनी को या अन्य किसी को पट्टा न दें और प्रत्यर्थियों के अधिकारों में हस्तक्षेप न करें । अधीनस्थ न्यायाधीश ने वाद 7 मार्च, 1935 को खारिज कर दिया । उस पर प्रत्यर्थी कंपनी ने उच्च न्यायालय में अपील की और 25 अप्रैल, 1935 को उसे भारत राज्य सचिव के विरुद्ध अपर वर्णित निबंधनों के अनुसार एकपक्षीय अंतरिम व्यादेश मिल गया, जिसकी प्रति एस.एन. बनर्जी को 20 मई, 1935 को मिली । तभी उन्होंने काम रोक दिया । 7 फरवरी, 1936 को उच्च न्यायालय ने अपील मंजूर करके वाद डिक्री कर दिया । उस निर्णय के विरुद्ध भारत राज्य सचिव की अपील इस बोर्ड ने 19 नवम्बर, 1937 को खारिज कर दी ।

4. इस बीच कल्याणपुर कंपनी ने अपने को व्यादेश से आबद्ध न मानकर 2 मार्च, 1936 को खुदाई पुनः प्रारंभ कर दी और उस आशय की सूचना अगले दिन कलेक्टर को भी भेज दी । कलेक्टर ने उन्हें 16 मार्च, 1936 को उत्तर दिया कि वे यह कार्य अपनी जोखिम पर कर रहे हैं । 9 मार्च को प्रत्यर्थी कंपनी के सालिसिटरों ने कल्याणुपर कंपनी के कार्य पर आपत्ति करते हुए कलेक्टर को लिखा कि निर्णय मुवक्किल के पक्ष में है और कुछ पत्र व्यवहार भी हुआ । 28 मार्च, 1936 को ही कलेक्टर ने प्रत्यर्थी कंपनी को लिखा कि कल्याणपुर कंपनी को पहले ही पट्टा दे दिया गया था और उसने कब्जा ले लिया था तथा वह 15 मई, 1934 से खदान चला रही है ; वह प्रत्यर्थी कंपनी के वाद में पक्षकार नहीं थी ; अतः वह उच्च न्यायालय द्वारा पारित व्यादेश से आबद्ध नहीं हैं तथा प्रत्यर्थी कंपनी कल्याणपुर कंपनी के विरुद्ध जो उचित समझे कार्यवाही कर सकती है । इस पत्र की प्राप्ति पर प्रत्यर्थी कंपनी ने उच्च न्यायालय में व्यादेश के उल्लंघन द्वारा अवमान के लिए इन सबको दण्डित करने के लिए अर्जी दी । 19 नवम्बर, 1936 के आदेश द्वारा उच्च न्यायालय ने भारत राज्य सचिव, एस.एन.बनर्जी और घोष को अवमान का दोषी ठहराकर आवेदन का खर्चा देने का निदेश दिया । बनर्जी और घोष कल्याणपुर कंपनी के अधिकारी थे ; अतः उसके कार्यों के लिए उत्तरदायी थे । ऐसी दशा में उच्च न्यायालय ने **सीवर्ड** बनाम **पेटर्सन**[1] का अनुसारण करते हुए निर्णय दिया कि उन्हें व्यादेश की जानकारी थी फिर भी व्यादेश का भंग करके उन्होंने न्यायालय का अवमान किया । तीनों अपीलार्थियों ने 20 अप्रैल, 1987 को सिविल प्रक्रिया

[1] [1997] चांसरी 545.

संहिता की धारा 109 (ग) के अधीन प्रमाणपत्र प्राप्त करके यहां अपीलें कीं । बाद में ये अपीलें उक्त संहिता के आदेश 45 के अधीन ग्रहण की गई और बाद में समेकित हुई ।

5. प्रत्यर्थियों की ओर से प्रारंभिक आपत्ति यह की गई कि यह मामला या कम से कम घोष और बनर्जी का मामला दाण्डिक मामला था, अतः सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन इस बोर्ड को अपील की इजाजत नहीं दी जा सकती थी ; अतः **राधा कृष्ण दास** बनाम **राय कृष्ण चन्द्र**[1] का अनुसरण करते हुए इस बोर्ड को निर्णय करना चाहिए कि अपील की इजाजत यथाविधि नहीं दी गई । आक्षेप पूर्णतः तकनीकी है और जहां तक भारत सचिव का संबंध है यह विधि स्थापित है कि व्यादेश के भंग के लिए दोषसिद्धि दाण्डिक प्रकृति की नहीं होती, देखिए – **स्काट** बनाम **स्काट**[2] ।

6. प्रश्न उठता है कि उस व्यक्ति द्वारा भंग की स्थिति क्या होगी जो व्यादेश द्वारा आबद्ध नहीं है । प्रत्यर्थी कंपनी ने उच्च न्यायालय में दी गई अपनी अर्जी पर दोनों प्रत्यर्थियों पर व्यादेश के भंग द्वारा न्यायालय का अवमान करने का आक्षेप किया था । वस्तुतः यह गलत रूप में था । घोष और बनर्जी पर व्यादेश आबद्धकर नहीं था । अतः उनके द्वारा व्यादेश के भंग का प्रश्न ही नहीं उठता । कहा यह जाना चाहिए था कि उन्होंने भारत राज्य सचिव द्वारा भंग में सहायता की । वस्तुतः **बेलेजली** बनाम **अर्ल आफ मार्निंग्टन**[3] वाले निर्णय का अनुसरण करके उच्च न्यायालय इन दो अपीलार्थियों के विरुद्ध अर्जी खारिज भी कर सकता था कि उचित रूप में अर्जी दी जाए । किंतु उच्च न्यायालय ने उस अर्जी को उसमें लिखित रूप में लिया कि अन्य दो अपीलार्थियों द्वारा भारत राज्य सचिव की सहायता करके अवमान किया गया । ऐसी दशा में प्रत्यर्थी कंपनी को इस अपील की इजाजत में आपत्ति का कोई अवसर नहीं है ।

7. और यह बहस की गई कि जब अवमान के लिए शास्ति अधिरोपित की जाए तो उसके विरुद्ध अपील ग्रहण नहीं की जानी चाहिए । हाल में ही **एम्बर्ड** बनाम **एटार्नी जनरल, निदाद**[4] में लार्ड ऐटकिन ने स्पष्ट राय दी है कि सपरिषद् हिज मैजेस्टी सक्षम है कि विदेशी न्यायालय के

---

[1] [1901] 28 इंडियन अपील्स 182.
[2] [1913] अपील केसेज 417.
[3] [1848] 11 बीव 180.
[4] [1936] अपील केसेज 322.

अवमान के लिए शास्ति अधिरोपित करने के आदेश के विरुद्ध अपील ग्रहण करें । यह वैवेविक शक्ति है और इसका प्रयोग बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए । अतः प्रत्यर्थी की उक्त आपत्ति अमान्य की जाती है ।

8. सारवान प्रश्न के संबंध में हम उच्च न्यायालय के मत से असहमत हैं । भारत राज्य सचिव को दोषी उस पत्र के आधार पर ठहराया गया जो कलेक्टर ने मार्च, 1936 में कल्याणपुर कंपनी के कार्य के समर्थन में लिखा । भारत राज्य सचिव की ओर से पहली आपत्ति यह की गई कि किसी भी दशा में उनका कार्य लोक हैसियत से था और उसके लिए उनकी कुर्की तो की जा सकती थी, किंतु उन्हें अवमान के लिए कोई आदेश नहीं किया जा सकता था । दूसरी आपत्ति यह है कि भारत के अधिकारियों द्वारा आदेश किए गए अवमान के लिए भारत राज्य सचिव को किसी भी दशा में दोषी नहीं ठहराया जा सकता । इस अपील में बहस के प्रयोजन के लिए वे यह मानकर चलें कि उनके विरुद्ध अवमान की उचित कार्यवाही की जा सकती थी । किंतु यह मानकर आगे बहस की गई कि भारत राज्य सचिव या उनके अधिकारी ने व्यादेश का भंग नहीं किया है । कलेक्टर ने अपने पत्र में मात्र वस्तुस्थिति बता दी थी । यह प्रतिवादी के लिए था जो न्यायालय के आदेश से कब्जा लिए हुए थे कि वह कल्याणपुर कंपनी की बेदखली का वाद करती । भारत राज्य सचिव वैसा करने को आबद्ध नहीं थे । वे पक्षकारों को अपना निर्णय कराने के लिए छोड़ सकते थे । प्रत्यर्थी कम्पनी की ओर से कहा गया कि सरकार ने प्रत्यर्थी कंपनी के विरुद्ध कार्य किया और कल्याणपुर कंपनी को कब्जा लेने या प्रतिधारित करने और न्यायालय के आदेश का उल्लंघन करके कब्जे में बने रहने को प्रेरित किया । इसके समर्थन में कोई सही साक्ष्य या परिस्थिति नहीं है । प्रथमतः यह देखा जाए कि कलेक्टर का 28 मार्च का पत्र कंपनी को न होकर उनके सालिसिटर को लिखा है । ऐसा कुछ नहीं है कि घोष या बनर्जी ने उसे पढ़ा और उससे दुष्प्रेरित हुए । वैसे भी पत्र में कोई दुष्प्रेरण वाली बात नहीं है और न कल्याणपुर कंपनी का स्पष्ट समर्थन है । केवल वस्तुस्थिति बताई गई है । सरकारी अधिकारियों के उद्देश्य में शंका के लिए कोई अवसर नहीं है । इस प्रकार भारत राज्य सचिव प्रत्यक्ष अवमान के दोषी नहीं हैं ।

9. जहां तक दो अन्य अपीलार्थियों का संबंध है, उनके लिए कहा गया कि वे **एवरी** बनाम **एण्ड्रूज**[1] और **सीवर्ड** बनाम **पेटर्सन**[2] में दिए गए

---

[1] [1882] 5 ला. ज. चां. 414.

[2] [1897] चांसरी 545.

निर्णयों के अनुसार अवमान के दोषी हैं । किंतु वे निर्णय उस मामले को लागू होते हैं जिसमें कि व्यादेश से आबद्ध न होने वाला पक्षकार व्यादेश से आबद्ध पक्षकार को उस व्यादेश के भंग में सहायता करे । यहां भारत राज्य सचिव ने भंग ही नहीं किया होता तो सहायता असंभव थी । प्रत्यर्थी कंपनी की ओर से बहस की गई कि प्रतिषिद्ध काम का किसी भी व्यक्ति द्वारा किया जाना अपराध होगा ; किंतु इसके लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया । ऐसा उल्लेख किसी निर्णय में नहीं है । व्यादेश में प्रतिवादियों और उसके सेवकों को ही रोका गया था । घोष और बनर्जी भारत राज्य सचिव की सेवा में नहीं थे । अतः उन्होंने ऐसा कोई कार्य नहीं किया जिससे उन्हें व्यादेश ने प्रतिषिद्ध किया हो । यह कहा जा सकता है कि क्योंकि कल्याणपुर कंपनी को अधिकार भारत राज्य सचिव से मिले, जो व्यादेश द्वारा प्रतिषिद्ध थे, अतः व्यादेश की भावना का उल्लंघन किया गया । किंतु घोष और बनर्जी का दावा सही हो या गलत, वे हक का दावा करते थे और प्रतिषेघ उन्हें लागू नहीं होता था । उसका निर्णय कंपनी के विरुद्ध मामले में ही हो सकता है । ऐसी दशा में घोष और बनर्जी अवमान के दुष्प्रेरण के भी दोषी नहीं ठहराए जा सकते ।

10. अतः हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि दोनों अपीलें मंजूर की जानी चाहिएं और अपीलार्थियों को अवमान का दोषी घोषित करने और खर्चा अदा करने का आदेश देने का आदेश अपास्त किया जाना चाहिए और प्रत्यर्थियों को आदेश दिया जाए कि दोनों अपीलों में अपीलार्थियों का इस बात में और निचले न्यायालय में कार्यवाही का खर्चे का संदाय करें ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

चौधरी महबूब सिंह और अन्य........................अपीलार्थी

बनाम

हाजी अब्दुल अजीज खां............प्रत्यर्थी

(इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 5 सन् 1938)

निर्णीत : 31 अक्तूबर, 1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, लार्ड पोर्टर व सर जार्ज रैंकिन

प्रक्रिया – निचले न्यायालय की आलोचना – अपील न्यायालय को निचले न्यायालय के निष्कर्ष से असहमत होकर इस प्रकार की आलोचना नहीं करनी चाहिए जो निचले न्यायाधीश की सत्यनिष्ठा पर आक्षेप करे – ऐसी आलोचना से न्यायालय के न्यायाधीश स्वतंत्र राय कायम करने में निरुत्साहित होंगे ।

प्रक्रिया – प्रिवी कौंसिल – निचले नयायालयों में केवल यह प्रश्न उठाया गया कि मृतक हिंदू बना रहा था या मुसलमान हो गया था, किंतु यह प्रश्न नहीं उठाया गया कि हिंदू से मुसलमान बनने के लिए क्या कृत्य आवश्यक हैं – यह प्रश्न पहली बार प्रिवी कौंसिल में नहीं उठाया जा सकता ।

निर्णय

जस्टिस लार्ड पोर्टर – इस वाद में अपीलार्थी ही वादी है । वे अपने चाचा चौधरी मंगल सिंह के निकटतम उत्तरभोगी हैं । चौधरी मंगल सिंह का देहावसान 29 अक्तूबर, 1928 को हुआ । यह सामान्य आधार है कि यदि वह मृत्यु के समय मुसलमान न होकर हिंदू था तो वे उसकी सम्पदा विरासत में पाने के हकदार हैं ; किंतु यदि वह मृत्यु के समय मुसलमान था तो अन्य जो भी उसकी सम्पदा के लिए हकदार हो, अपीलार्थी विरासत का दावा नहीं कर सकते । अपीलार्थियों का कहना है कि मृतक जन्म से हिंदू था, वह कभी धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बना ही नहीं, दूसरी ओर प्रर्त्यियों का कहना है कि वह मृत्यु के समय ही मुसलमान नहीं था, अपितु लगभग 30 वर्ष पूर्व मुसलमान हो गया था और फिर उसी धर्म का अनुयायी रहा । मंगल सिंह की मृत्यु प्रत्यर्थी के घर में हुई और बताया यह

गया था कि 22 वर्ष पूर्व उसने अपनी सम्पत्ति का मौखिक वक्फ कर दिया था जो कि सारतः 25 अक्तूबर, 1928 की एक औपचारिक दस्तावेज में लेखबद्ध किया गया और उसने अपने आपको ही मुतवल्ली नियुक्त किया था । मंगल सिंह की मृत्यु के बाद, प्रथम प्रत्यर्थी को पक्षकार बनाया गया था (अन्य प्रतिवादी केवल प्ररूपी तौर पर पक्षकार बनाए गए थे ।) सम्पदा का दावा मुतवल्ली के रूप में करता है । अपीलार्थियों ने वारिस के रूप में मृतक द्वारा छोड़ी गई भू-सम्पत्ति की बाबत नामान्तरण का दावा किया । सम्यक् क्रम में दावा सहायक कलेक्टर को निर्दिष्ट किया गया । उनका विचार था कि वाद का उचित तौर पर निर्णय कब्जे के आधार पर नहीं हो सकता और उन्होंने संक्षिप्ततः विनिश्चय किया कि प्रथमदृष्ट्या प्रत्यर्थी ही सम्पत्ति का हकदार है । उनहोंने अपीलार्थियों को, यदि वे चाहें तो, न्यायालय में वाद लाने के लिए छोड़ दिया । तदनुसार 21 जुलाई, 1930 को वर्तमान अपीलार्थियों प्रत्यर्थी के विरुद्ध एक वाद मुजफ्फरनगर के अधीनस्थ न्यायाधीश न्यायालय में लाए । इस बोर्ड के समक्ष सारवान विवाद इस प्रश्न पर है कि क्या मंगल सिंह ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था और मृत्यु पर्यन्त उसी धर्म का पालन करता रहा । अधीनस्थ न्यायाधीश के समक्ष वाद में अपीलार्थियों ने उत्तरभोगी के रूप में अपने हक का आश्रय लिया । उन्होंने अभिकथन किया था कि मंगल सिंह सदैव हिंदू था और रहा, और उसने कोई वक्फ़ नहीं किया और यह प्रकथन किया कि मृतक या तो यह नहीं समझ रहा था कि वह क्या कर रहा है, या यदि वह समझ रहा था कि क्या कर रहा है तो उसने कार्य ऐसे समय पर असम्यक् अवसर के कारण किया जबकि वह मर्ज-उल-मौल से पीड़ित था । उत्तर में प्रत्यर्थियों का कहना था कि मंगल सिंह वाद प्रारंभ हाने के 30 वर्ष से अधिक पहले मुसलमान हो गया था और उसने मुस्लिम विधि के अनुसार अपनी सब सम्पत्ति का मौखिक वक्फ़ उस दिन के 22 वर्ष पूर्व कर दिया था । उन्होंने यह और अभिकथन किया कि उसने दो दस्तावेजें लिखीं जिनमें वक्फ़ आवश्यक अनुबंध थे – एक मृत्यु के बहुत पहले और एक स्वच्छ प्रति उस समय के थोड़ा पहले, तथा उसने अपनी मृत्यु के 4 दिन पहले उसी आशय की एक औपचारिक दस्तावेज लिखा । किसी भी दशा में, उनका अभिवचन था कि वह मुसलमान के रूप में मरा, और इस प्रकार अपीलार्थियों को उसकी सम्पदा पर कोई हक नहीं है ।

2. प्रकट यह होता है कि मंगल सिंह 1928 के अक्तूबर के मध्य तक गंभीर रूप से बीमार हो गया था और उस मास की 18 तारीख से उसकी मृत्यु तक डा. वर्मा ने उसका उपचार किया । वे उस समय मुजफ्फरनगर

के सिविल सर्जन थे । 20 अक्तूबर को, डा. वर्मा, अपने कहे अनुसार, मंगल सिंह के अनुरोध पर कलेक्टर और जिला मजिस्ट्रेट श्री आर. मिलनर व्हाइट को मंगल सिंह के पलंग के पास लाए । श्री मिलनर व्हाइट विचारण के समय छुट्टी पर थे । किंतु नामांतरण कार्यवाहियों में प्रयुक्त उनका बयान साक्ष्य में ग्रहण किया गया । उन्होंने बयान दिया कि मंगल सिंह ने उन्हें तुरंत सूचित किया कि वह मुसलमान है और बहुत समय से रहे हैं और उसने उन्हें एक दस्तावेज का प्रारूप और स्वच्छ प्रति दी जो उसकी सम्पत्ति के व्ययन के संबंध में थी । श्री मिलनर व्हाइट ने बातचीत का एक संक्षेप लेखबद्ध किया, जिससे यह प्रकट होता है कि दस्तावेज मंगल सिंह को पढ़कर सुनाया गया और उसने उस पर तथा कच्चे प्रारूप पर हस्ताक्षर यह कहते हुए किए कि उसने इन दस्तावेजों को अंतर्वस्तु 15-20 वर्ष पहले तैयार की थी और हाल में स्वच्छ प्रति बनाई और यह पूरी दस्तावेज उनके हाथ का लिखा है और पूर्णतः उसकी इच्छाओं को अभिव्यक्ति करता है । उस पर हस्ताक्षर होने के बाद, वह दस्तावेज श्री मिलनर व्हाइट को दे दिया गया और वे ही ले गए । उल्लिखित दस्तावेज न्यायालय में पेश किए गए । वे थीं तथाकथित दान-विलेख का (i) एक कच्चा प्रारूप और (ii) एक स्वच्छ प्रति, जिनसे प्रकट होता था कि मंगल सिंह अपनी संपूर्ण सम्पत्ति का व्ययन अनेक वर्षों पूर्व वक्फ़ के रूप में कर चुका था । दुर्भाग्यवश, दस्तावेज (i) व (ii) न्यायालय के कब्जे से खो गए । यह मानने के लिए कोई कारण नहीं है कि वे किसी पक्षकार के कारण खो गए और न हमारी राय में उनके खोने से किसी पक्षकार को कोई लाभ हुआ । वाद के विचारण के दौरान प्रत्यर्थियों ने इन दस्तावेजों में से एक की प्रमाणित प्रति पेश की । प्रथम न्यायालय और अपील न्यायालय के बीच इस विषय में कुछ मतभेद उत्पन्न हुआ कि यह प्रतिलिपि उनमें से किस दस्तावेज की है । इस मतभेद के अलावा हमारे विचार से यह प्रश्न महत्वहीन है । किंतु हम इस निर्णय में अगले प्रक्रम पर दोनों न्यायालयों के विरोधी मतों पर विचार करते समय उनका उल्लेख करेंगे और आगे विचार करने पर, श्री मिलनर वहाइट का यह विचार था कि यह मृतक के लिए उचित होगा कि वह अपनी सम्पत्ति का निपटारा वसीयत द्वारा कर दे और 23 अक्तूबर को मंगल सिंह को लिखे गए एक पत्र में, जो प्रत्यर्थी के पते पर था, उन्होंने उक्त सुझाव दिया । इस पत्र का उत्तर मंगल सिंह से प्राप्त हुआ जिसमें उसने बताया कि क्योंकि मैंने सम्पत्ति को पहले वक्फ़ कर दिया है अतः अब मैं उसका वसीयत द्वारा निपटान नहीं कर सकता और मैंने निर्णय कर लिया है कि जैसे ही न्यायालय खुलेगा उस दस्तावेज को

रजिस्ट्रीकृत करा दूंगा । उसने यह भी मांग की कि दस्तावेज उसे, वकील के हाथ, जो वह पत्र ले गया था, भेज दिया जाए । प्रकट यह होता है कि इस अनुरोध के उत्तर में श्री मिलनर व्हाइट ने अपने को सौंपी गई एक या दोनों दसतावेजों को वापस भेज दिया था ।

3. उसी दिन मंगल सिंह द्वारा दिए गए प्रारूप के आधार पर एक वक्फ़ विलेख लिखा गया प्रतीत होता है । इस विलेख का स्वरूप और शब्दावली पूर्ववर्ती दस्तावेज से कुछ भिन्न है किंतु सारतः अधिक भिन्न नहीं है । उसके तैयार किए जाने के बाद, 25 अक्तूबर, 1928 को श्री मिलनर व्हाइट से पुनः अनुरोध किया गया कि मृतक व्यक्ति के पास पधारें । उस औपचारिक विलेख पर मंगल सिंह ने हस्ताक्षर या तो पहले किए थे या उनकी उपस्थित में और उसके तथा पार्श्व साक्षियों के रूप में हस्ताक्षर करने के बाद वह उप रजिस्ट्रार को दे दी गई, जिन्होंने अंत में रजिस्ट्रीकृत कर दिया । यह स्पष्ट है कि यदि मंगल सिंह दस्तावेजों की अंतर्वस्तु समझता था और वह उन्हें तैयार करने या हस्ताक्षर करने में असम्यक् असर के अधीन कार्य नहीं कर रहा था और यदि श्री मिलनर व्हाइट से किया गया उनका मौखिक कथन सत्य माना जाए तो अपीलार्थी सफल नहीं हो सकते । जहां तक असम्यक् अवसर का संबंध है, यह दायित्व अपीलार्थियों पर है कि वे यह साबित करें कि मंगल सिंह द्वारा हस्ताक्षर किए गए दस्तावेज पर अर्थात् (1) एक कच्चा प्रारूप ; (2) स्वच्छ प्रति, जो श्री मिलनर व्हाइट को 20 अक्तूबर को दी गई थीं और जो उन्होंने 23 तारीख को लौटाई तथा (3) 25 अक्तूबर की औपचारिक दस्तावेज पर हस्ताक्षर प्रत्यर्थियों या मुस्लिम समुदाय की ओर से कार्य करने वाले अन्य व्यक्तियों के असम्यक् असर से किए गए । ऐसे किसी असर का साक्ष्य नगण्य है । मृतक का खाना बनाने वाले छोटो तथा उसके दो रिश्तेदारों ने उस बाबत बयान दिया है, किंतु श्रीमती छोटो का अभिकथन है कि डा. वर्मा वक्फ़ करने को प्रेरित करने वाले मुख्य व्यक्तियों में थे, जिससे डाक्टर सीधे-सीधे इंकार करते हैं और रिश्तेदारों के साक्ष्य से यह संकेत मिलता है कि मंगल सिंह यह स्वीकार करने को रजामंद था कि वह मुसलमान है किंतु उसने इस कथन पर आपत्ति की कि वह अनेक वर्षों पूर्व इस धर्म का सदस्य हो गया था । हमारे विचार से अपील न्यायालय का यह अवधारित करना सही है कि असम्यक् असर साबित नहीं हुआ ।

4. जहां तक मृतक की मनः स्थिति का संबंध है, डा. वर्मा तथा मिलनर व्हाइट तथा अन्य साक्षियों ने साक्ष्य दिया । इसमें संदेह नहीं है कि

18 अक्तूबर से, जब डा. वर्मा उसे पहली बार देखने आए और मृत्यु पर्यन्त मंगल सिंह गंभीर रूप से बीमार था । कभी-कभी वह बेहोश हो जाता था और इसमें भी संदेह नहीं है कि जैसा परिस्थितियों से प्रकट होता था कि वह मारक रोग से ग्रस्त था । किंतु दोनों नामित साक्षी कहते हैं कि वह स्वस्थ चित्त था और बिल्कुल सामान्य था और डाक्टर ने यहां तक कहा है कि वह रजिस्ट्रीकरण के दिन अर्थात् 25 अक्तूबर को, जो कुछ भी कर रहा था उसे समझ सकता था । इसके अतिरिक्त, डाक्टर ने उसी आशय का लिखित प्रमाण पत्र उसी दिन दिया । हमारे विचार से यह साक्ष्य सिद्ध करता है कि मंगल सिंह से जब श्री मिलनर व्हाइट मिले तो वह दोनों अवसरों पर स्वस्थ चित्त था और भलीभांति समझता था कि वह क्या कर रहा है और उसका यह कथन कि वह मुसलमान है विश्वसनीय है ।

5. इन निष्कर्षों को देखते हुए, अपीलार्थी असफल होने चाहिएं, मंगल सिंह ने मुस्लिम धर्म कभी भी ग्रहण किया हो और वक्फ़ सिद्ध हो या नहीं । यदि वक्फ मंगल सिंह की मारक बीमारी के दौरान किया गया तो यह माना गया है कि प्रत्यर्थी वर्तमान दावे में ही असफल नहीं होते हैं, अपितु एक तिहाई संपत्ति का अपना अधिकार भी सिद्ध कर देते हैं और यदि वह अंतिम बीमारी के पहले किया गया तो प्रत्यर्थी संपूर्ण सम्पदा के हकदार होंगे । किंतु, बाद वाले दोनों प्रश्न, वर्तमान कार्यवाहियों में प्रत्यक्षतः नहीं उठते और यह कहने के अलावा कि हमारे विचार से मंगल सिंह का धर्म परिवर्तन डा. वर्मा के उसे अक्तूबर, 1928 में पहली बार देखने के पहले कभी हुआ, हम उन पर कोई अंतिम निर्णय नहीं देते । बहुत सा मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्य दिया गया, एक ओर तो यह दिखाने के लिए कि किसी भी दशा में अपनी अंतिम बीमारी तक वह हिंदू रहा और दूसरी ओर कि वह उस तारीख के लगभग 30 वर्ष पूर्व मुसलमान हो गया था और अपने धर्म-परिवर्तन के लगभग 8 वर्ष बाद उसने मौखिक वक्फ किया । अधीनस्थ न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश ने इस साक्ष्य का सावधानी से और विस्तृत विश्लेषण किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि प्रत्यर्थियों का साक्ष्य विश्वसनीय नहीं है और उन्होंने यह भी पाया कि मृतक व्यक्ति हिंदू रहा और हिंदू ही मरा और उसने अपनी मारक बीमारी के दौरान असम्यक् असर के बिना वक्फ नहीं किया । यह उत्तरोक्त निष्कर्ष, जैसा उनहोंने बताया, स्वीकार नहीं कर सकते । अपील न्यायालय ने अपीलार्थियों के मामले और साक्ष्य को अमान्य करने के लिए उतने ही विस्तृत कारण दिए हैं ।

6. यद्यपि हम मुख्य प्रश्न पर अपील न्यायालय का निष्कर्ष मानते हैं,

हमें खेद है कि न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायाधीश के हेतु (motive) और तर्कों पर आक्षेप किया । वस्तुतः, यदि हमें इस पर विचार करना आवश्यक होता कि मंगल सिंह द्वारा श्री मिलनर व्हाइट को 20 अक्तूबर को पेश की गई दो खोए हुए दस्तावेजों में से किसकी प्रति न्यायालय में पेश की गई तो हम आंतरिक और बाह्य साक्ष्य दोनों से अपील न्यायालय की अपेक्षा अधीनस्थ न्यायाधीश से सहमत होते । जहां तक मौखिक साक्ष्य का संबंध है, हमारे विचार से दोनों पक्षकारों की ओर से साक्ष्य में दी गई सामग्री में बहुत कुछ आलोचना योग्य है, यद्यपि हमारे विचार में प्रत्यर्थियों की ओर से दिया गया साक्ष्य अधिक विश्वसनीय है । हमारी दृष्टि में, न्यायाधीश ईमानदारी से तत्प्रतिकूल दृष्टिकोण अपना सकता था और हम निचले न्यायालय की ईमानदारी की आलोचना और उस पर आक्षेप की निंदा करते हैं, जो ऐसी भाषा में है जिससे कि न्यायालय अपने समक्ष पेश किए गए साक्ष्य के निष्कर्ष के विषय में अपना स्वतंत्र मत कायम करने और उसे व्यक्त करने से निवारित हो ।

7. निष्कर्ष पहुचने में, हमारे विचार से यह अवधारित करना आवश्यक नहीं है कि क्या धर्म-परिवर्तन करने वाले के लिए मुस्लिम धर्म अपनाए जाने के पूर्व कोई अनुष्ठान करना आवश्यक है । निचले न्यायालयों में अनुष्ठान के विषय में कोई प्रश्न नहीं उठाया गया और हमारे विचार से अपीलार्थी कार्यवाही के इस प्रक्रम पर वह प्रश्न उठा भी सकते । हमारे उपर्युक्त दृष्टिकोण से हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील खारिज की जानी चाहिए और अपीलार्थी अपील का खर्चा वहन करें ।

अपील खारिज की गई ।

आई. एल. एम. कडीजा उम्मा और एक अन्य.........अपीलार्थी

बनाम

एस. डॉन मैनिस अप्पू.................प्रत्यर्थी

(श्रीलंका के उच्चतम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 9 सन् 1937)

निर्णीत : 17 नवम्बर, 1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड ऐटकिन, लार्ड मेकमिलन, लार्ड पोर्टर, सर लांसलाट सेंडरसन व सर जार्ज रैंकिन

निर्वचन – जब कोई पद स्वयं अधिनियम में परिभाषित हो तो सामान्यतः उसकी परिभाषा वाला अर्थ ही लिया जाना चाहिए – किंतु पहले परिभाषा का अर्थ निश्चित कर लिया जाना चाहिए और संदेह की दशा में वह अर्थ लिया जाना चाहिए जो परिभाषित पद के तथा अधिनियम के उद्देश्य के अनुरूप हो ।

प्रतिकूल कब्जा – व्यक्ति के अभिकर्ता का कब्जा उस व्यक्ति के प्रतिकूल नहीं माना जा सकता ।

निर्णय

जस्टिस सर जार्ज रैंकिन – अपीलार्थियों ने कोलम्बो के जिला न्यायालय में 16 और 25 अप्रैल, 1930 को दो वाद लाए जो दो मिले हुए भू-खंडों के कब्जे के लिए थे जिसका कुल क्षेत्रफल दो एकड़ 38 पर्च[1] था, जो एक त्रिकोण के रूप में है तथा स्वीकृत रूप से वादियों की भूमि के उत्तर में है । विवादित भूमि महा एट्टम्बगाहा कुम्बुरा कहलाती है । पहले वाद में, उन्होंने चार प्रतिवादियों पर मुकदमा चलाया कि वे सदोष कब्जा किए हुए हैं । इनमें एस. डॉन मैनिस अप्पू प्रत्यर्थी सं. 1 था । दूसरे वाद में एकमात्र प्रतिवादी था । जिला न्यायाधीश ने दोनों वाद 23 मार्च, 1933 को खारिज कर दिए । उन्होंने हक के प्रश्न पर निष्कर्ष अपीलार्थियों के विरुद्ध निकाला और इस प्रश्न पर भी कि क्या प्रतिवादी सं. 1 ने सन् 1871 के अध्यादेश सं. 22 के अधीन चिरभोग द्वारा हक अर्जित कर लिया है । उच्चतम न्यायालय ने 22 जनवरी, 1936 को जिला न्यायाधीश की डिक्री की पुष्टि कर दी । अपीलार्थी के हक के प्रश्न का उत्तर दिए बिना उच्चतम

---

[1] एक पर्च 30¼ वर्ग गज का होता है ।

न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश ने अकेले ही अध्यादेश के अधीन चिरभोगाधिकार के आधार पर कार्यवाही की । बोर्ड द्वारा की गई इस अपील की सुनवाई में प्रतिवादी उपस्थित नहीं हुए ।

2. अब विवादित दो एकड़ (या उसके लगभग) भूमि, जिला न्यायाधीश के अनुसार अधिकांशतः दलदल है, जिसमें कमल उगते हैं । उनका कहना है कि जो भाग दलदल नहीं है है उसमें कुछ जंगली घास है तथा कुछ इमारतें हैं जो समय-समय पर बनाई गई हैं । जस्टिस अकबर (जिनके निर्णय से जस्टिस पायसर सहमत हुए) कहते हैं कि वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि किसी समय में विवादित भाग बाढ़ग्रस्त और जलप्लावित हो जाता था, किंतु अब सरकार द्वारा बांध बना दिए जाने के कारण ऐसा लगता है कि बाढ़ विवादित भाग को प्रभावित नहीं करती । सन् 1871 के अध्यादेश सं. 22 की धारा 3, जहां तक वह इस मामले को लागू होती है, इस प्रकार है :–

> "किसी वाद में प्रतवादी द्वारा अथवा उनके द्वारा, जिनसे व्युत्पन्न अधिकार के अधीन वह दावा करता है, भूमि या स्थावर सम्पत्ति का, उस वाद के दावेदार या वादी के हक के प्रतिकूल या उससे स्वतंत्र हक से (अर्थात् कब्जे के साथ कब्जेदार द्वारा न किराया दिया जाता हो, न उत्पादन और न कोई सेवा या कर्तव्य का पालन किया जाता हो न कोई अन्य कार्य किया जाता हो, जिससे कि दूसरे व्यक्ति के विद्यमान अधिकार की अभिस्वीकृति का निष्कर्ष उचित और स्वाभाविक रूप से निकल सके) ऐसा वाद लाए जाने के पूर्व 10 वर्ष पर्यन्त अविवादित और व्यवधान-रहित कब्जे का सबूत प्रतिवादी को अपने पक्ष में खर्चे सहित डिक्री का हकदार बना देगा और वैसी ही रीति में जब कोई वादी अपना वाद लाएगा या कोई अन्य व्यक्ति किसी वाद में मध्यक्षेप इस प्रयोजनार्थ करे कि भूमि या स्थावर सम्पत्ति पर उसका कब्जा शांतिपूर्ण रहे या उस पर अतिक्रमण या उसे हथियाना रोका जाए या उस भूमि या अन्य सम्पत्ति पर अपना दावा किसी अन्य रीति से साबित करे तो ऐसे वादी या मध्यक्षेपी द्वारा या उनके द्वारा जिनसे व्युत्पन्न अधिकार के अधीन वह दावा करता है ऐसे निर्विध्न और व्यवधानरहित कब्जे का, जैसा पहले स्पष्ट कया गया है, सबूत उस वादी या मध्यक्षेपी को अपने पक्ष में खर्चे सहित डिक्री का हकदार बना देगा । परंतु 10 वर्ष की उक्त अवधि शेष सम्पदा या उत्तरभोग में सम्पदा का दावा करने वाले पक्षकारों के विरुद्ध केवल उस समय से प्रारंभ होगी जब इस प्रकार दावा करने वाले पक्षकारों

को विवादग्रस्त सम्पत्ति के कब्जे का अधिकार मिला ।"

3. दोनों न्यायालय इस धारा के लागू होने को प्रभावित करने वाले कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों के विषय में सहमत हैं । विशिष्टतः दोनों पोदी सिंह नामक एक साक्षी का साक्ष्य मानते हैं जिसने यह अभिसाक्ष्य दिया कि 1911 से वह विवादित भूमि की घास अपने नोकरों से कटवाता रहा है और उसके लिए प्रतिवादी सं. 1 की माता गेतोहामी को प्रति बोरी घास के लिए 10 सेण्ट की दर से संदाय करता रहा है । उसके कथनों के अनुसार, यह स्थिति 1911 से 5-6 वर्ष तक चली, जब तक कि गेतोहामी को कुष्ठ आश्रम ले जाया गया ; और तत्पश्चात्, राशि उसने प्रतिवादी सं0. 1 को 1930 या उसके आसपास तक दी, जब तक कि भूमि पर और अधिक अधिभोग हो गया और काटने के लिए घास नहीं बची । इसी प्रकार, दोनों न्यायालयों ने, प्रतिवादी सं. 2 अब्राहम के साक्ष्य को सत्य माना है कि पिछले दस या ग्याहर वर्ष से (अर्थात् 1922-23 से) वह विवादित भूमि पर गेतोहामी की अनुज्ञा से रह रहा था और उसने उस पर रहने के लिए एक मकान बनाया था जिसके लिए भूमि भाटक वह पहले गेतोहामी को देता था और बाद में प्रतिवादी सं. 1 को । इस साक्षी ने आगे कहा कि वादगत भूमि पर उसके मकान के अतिरिक्त आठ मकान और हैं जिनमें से तीन उसने स्वयं गेतोहामी के अनुरोध पर लगभग 1925 में और तीन मकान प्रतिवादी सं. 1 द्वारा लगभग 1929-30 में बनाए थे । जिला न्यायाधीश ने इन बयानों को अभिव्यक्त रूप से सही माना है । इन तथ्यों को देखते हुए, उच्चतम न्यायालय का विचार था कि यह कहना असंभव था कि जिला न्यायाधीश ने यह अवधारित करने में गलत निष्कर्ष निकला कि प्रतिवादी सं. 1 और उसकी माता का प्रतिकूल कब्जा विधि द्वारा अपेक्षित अवधि पर्यन्त रहा । हमारे समक्ष बहस की गई कि क्योंकि भवन 1922-1923 के पहले बने नहीं दिखाए गए, अतः साक्ष्य के इस भाग के वाद के पूर्व के 10 वर्ष पूरे नहीं होते हैं और अध्यादेश की पूर्ति के लिए यह अवधि 1920 तक जाएगी । इसके अतिरिक्त, जंगली घास लेना ऐसा कार्य है जिसका विरोध करने का विचार भूमि का स्वामी आवश्यक रूप से नहीं करेगा वह पूर्व वर्षों में कब्जे के निष्कर्ष के लिए अपर्याप्त है, विशेषतः क्योंकि घास पूरे वर्ष नहीं काटी जा सकती, बल्कि जैसा कि (प्रतिवादी सं. 2 का कथन है), मौसम के अनुसार छह या आठ मास तक ही काटी जा सकती हे । अपीलार्थियों की ओर से श्री डी. सिल्वा ने बहुत युक्तियुक्त रूप से इन तथ्यों पर जोर देना चाहा कि उनके मुवक्किलों का अपनी सम्पूर्ण धृति के भागरूप विवादित भूमि का 1929 तक नगरपालिका रेट देना प्रकट होता है और 1912 में

उन्होंने विवादित भूमि में अपने अधिभोग के अधिकार का प्रयोग एक अन्य व्यक्ति के विरुद्ध बेदखली की डिक्री सम्मति के आधार पर प्राप्त करके किया ।

4. यह मानते हुए भी कि 1920 के बाद के पहले 2-3 वर्ष पर्यन्त प्रतिवादी के कब्जे के साक्ष्य की पर्याप्तता विवाद्य है, हमारी यह राय नहीं है कि प्रस्तुत मामले में निचले न्यायालयों के समवर्ती निष्कर्षों से विचलन किया जाए । घास काटने के विषय में साक्ष्य केवल यही नहीं है कि प्रतिवादी सं. 1 और उसकी मां को कुछ घास लेने दिया गया, अपितु यह भी है कि उन्हें घास पशु पृथक्करण केम्प के प्रभारी ओवरसियरों को बेचने भी दिया गया और यह अनेक वर्षों तक चला और यह उस समय तक जबकि घास ही इस भूमि से प्रोदभूत होने वाला एकमात्र या मुख्य लाभ थी । इस भूमि पर 1923 के बाद भवन बनाने का साक्ष्य पर यदि विश्वास किया जाए तो वह कब्जा दर्शाने के लिए बहुत प्रबल है और उसका पूर्व वर्षों पर भी प्रभाव पड़ता है तथा प्रतिवादी सं. 1 और उसकी मां का घास के विषय में कार्यों का भाव भी प्रकट करता है, भले ही अन्यथा वे संदिग्ध समझे जाएं । साक्ष्य पर उचित तौर से और समग्र रूप से विचार करने पर हमें यह विचार करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि श्रीलंका के न्यायालयों ने उसका गलत अर्थ लगाया है । वस्तुतः, घास लेने का कब्जे के साक्ष्य के रूप में महत्व का प्रश्न ऐसा है जिस पर स्थानीय न्यायालयों की राय विशेष महत्व की पात्र है क्योंकि वे लोगों के जीवन की दशाओं, उनकी आदतों और विचारों से सुपरिचित हैं । यह अवधारित नहीं किया जा सकता कि श्रीलंका के न्यायालय इस बात के लिए आबद्ध थे कि साक्ष्य से पहले के वर्षों की बाबत इससे अधिक सिद्ध होना नहीं मानते कि प्रतिवादी सं. 1 और उसकी मां द्वारा या उनकी ओर से घास अनुज्ञा लेकर ली गई है । अतः, वाद के पूर्व 10 वर्ष पर्यन्त कब्जे का निष्कर्ष कायम रखा जाना चाहिए । अतः, वाद के पूर्व 10 वर्ष पर्यन्त कब्जे का निष्कर्ष कायम रखा जाना चाहिए । अतः, हमारी राय में निष्कर्ष यही निकलता है कि अपीलार्थियों का वाद खारिज होना चाहिए । क्योंकि प्रत्यर्थी सं. 1 और उसकी मां द्वारा कब्जे की प्रकृति स्पष्टतः अपीलार्थियों के विरुद्ध थी और उससे अध्यादेश की धारा 3 का समाधान हो जाता है ।

5. किंतु श्री डी सिल्वा ने प्रतिवाद किया कि धारा का अर्थान्वयन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि वह उस अपेक्षा का समावेश करती है जो रोमन विधि में "जसटस टिटुलस" या "जस्टा काजा" कही जाती है । "दावेदार या वादी के प्रतिकूल या उससे स्वतंत्र हक से" शब्दों का अर्थ यह

है कि वे अपेक्षा करते हैं कि प्रतिवादी साबित करे कि उसका कब्जा किसी हक के आधार पर था, वह चाहे जितना अपूर्ण हो, किंतु पूर्णतः अधिकार-विहीन न हो। किंतु विद्वान् अभिवक्ता को स्वीकार करना पड़ा कि अध्यादेश के पारित किए जाने की तारीख को ऐसा कोई सिद्धांत श्रीलंका की विधि में मान्यता प्राप्त नहीं था और हम यह अर्थ लगाना असंभव पाते हैं कि धारा उक्त अपेक्षा का समावेश करती है।

6. यह राय केवल उन शब्दों पर आधारित नहीं है जो स्पष्टीकरण या परिभाषा के रूप में कोष्ठकों में बंद हैं "(अर्थात्... निकल सकें)" किंतु उसको समर्थन ऐसे कोई शब्द न होने से भी मिलता है जो "जस्टा काजा" के विशेष सिद्धांत का वर्णन या कथन करने वाले हों। **कोरिया** बनाम **अप्पूहामी**[1] में लार्ड मैकनाटन द्वारा सुनाए गए बोर्ड के निर्णय में एक पैरा है जो (विषय की चर्चा किए बिना) इस राय का समर्थन करता है कि उपर्युक्त कोष्ठकों में बंद खण्ड का आशय इन शब्दों के स्पष्टीकरण का है – "निर्विघ्न और व्यवधान-रहित कब्जे" और वह उसका कथन नहीं है जो कि प्रयुक्त पूर्ण पद "प्रतिवादी द्वासरा कब्जे का सबूत" से अभिप्रेत है। प्रकट या होता है कि दिवंगत न्यायमूर्ति श्री वाल्टर पेरीरा ने अपनी पुस्तक "लाज ऑफ सीलोन" में यह उसी मत का सुझाव दिया कि कोष्ठक में शब्द केवल शब्द "कब्जे" के स्पष्टीकरण के रूप में हैं, किंतु स्वयं उनकी राय थी उनमें कोई दृष्टांत नहीं हैं बल्कि वे शब्द "दावेदार या वादी के हक के प्रतिकूल या उससे स्वतंत्र हक से" पद की पूर्ण और स्वतः पूर्ण परिभाषा के रूप में हैं। (द्वितीय संस्करण पृष्ठ 388, 390)।

7. इन विद्वान् लेखक की राय से बहुत भिन्न मुख्य न्यायमूर्ति श्री बरट्रान ने **तिलक रत्ने** बनाम **बेशियन**[2] में उक्त कोरिया वाले मामले में लार्ड मेकनाटन की भाषा का आश्रय लेते हुए अवधारित किया कि कोष्ठक वाला अंश "प्रतिकूल हक" शब्दों के अर्थ को प्रभावित नहीं करता ; इसे आगे के लिए इस प्रश्न की चर्चा में छोड़ा जाए।

8. हम विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति की यह उक्ति नहीं मान सकते। धारा का द्वितीय आधा हिस्सा प्रारूपकार का दृष्टिकोण प्रकट करता है जिस पर लार्ड मेकनाटन के शब्द आधारित हैं : "ऐसे वादी या मध्यक्षेपी द्वारा इसमें इसके पूर्व स्पष्ट किया ऐसा निर्विघ्न तथा व्यवधान रहित खर्च सहित डिक्री

---

[1] (1912) अपील केसेज 230 = [आ. इ. रि. 1914 प्रि. कौ. 243].

[2] [1918] । सीलोन न्यू लारि 12 प. 17.

का हकदार बना देगा ।"

9. इस प्रकार बताया गया स्पष्टीकरण केवल प्रतिकूल या स्वतंत्र हक की ही अपेक्षा नहीं करता है अपितु 10 वर्ष की अवधि की भी अपेक्षा करता है । "निर्विघ्न और व्यवधान-रहित" शब्द दोहराए गए हैं । वस्तुतः कोष्ठकों के अंदर वाले खंड में ऐसा कोई सीधा निर्देश प्रतीत नहीं होता जो कब्जेदार के उन कार्यों से भिन्न कार्यों के प्रति हो जो उसके द्वारा की गई अभिस्वीकृति के प्रश्न पर प्रभाव डालें । हमें इसमें संदेह नहीं प्रतीत होता कि कोष्ठकों वाले खंड का प्रयोजन-संभवतः कुछ महत्वाकांक्षी प्रयोजन-उस कब्जे की प्रकृति को स्पष्ट करने का है जो विघ्न और व्यवधान के बिना 10 वर्ष तक रहने पर भोगाधिकार में परिणत हो जाएगा । यद्यपि यह खंड केवल दृष्टांत नहीं है, फिर भी, वह पूर्ण और स्वतः पूर्ण परिभाषा देने का उतना सफल प्रयास नहीं है जितना कि वांछित होता । पहले पद समाविष्ट करके फिर परिभाषा देने पर प्रथमदृष्टया वह परिभाषा लागू किए जाने के पूर्व स्वयं उसका निर्वचन किया जाना चाहिए और संदेह की दशा में उसका ऐसा अर्थ किया जाना चाहिए जो परिभाषित पद के लिए और अधिनियमिति के सामान्य प्रयोजन के लिए उपयुक्त हो । अतः जहां "क" का कब्जा "ख" की ओर से रहा है या वह "ख" का कब्जा रहा है – चाहे अभिकरण के कारण या सह-स्वामित्व के कारण – यह असंभव लगता है कि परिभाषा खंड "ख" और "क" के बीच इस प्रकार लागू किया जाए जिससे "ख" के अधिकार निष्फल हो जाएं । उसका प्रयोग कब्जेदार व्यक्ति के अधिकारों को निष्फल करने के लिए नहीं हो सकता । किन दशाओं में, अभिकर्ता या सह-स्वामी को यह कहने दिया जा सकता है कि उसका कब्जा उसके स्वामी या हिससेदार के निष्कासन (आउस्टर) के रूप में रहा है, ऐसा विषय है जिसकी यहां समीक्षा की आवश्यकता नहीं है । निष्कासन के मामले को छोड़कर, व्यक्ति का अभिकर्ता के माध्यम से कब्जा अभिकर्ता द्वारा बेदखली नहीं है । वही बात श्रीलंका में सहस्वामियों के बीच सत्य है और कोरिया वाले विनिश्चय (1912) ए.सी. 230 का आधार है । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह समेकित अपील असफल होती है और खारिज की जानी चाहिए । प्रत्यर्थी उपस्थित नहीं हुए । अतः खर्चे के विषय में कोई आदेश नहीं दिया जाता ।

अपील खारिज की गई ।

राम किंकर बनर्जी और अन्य......................अपीलार्थी

बनाम

सत्याचरण श्रीमणि और अन्य............प्रत्यर्थी

(कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय[1] के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 51 सन् 1937)

निर्णीत : 31 अक्तूबर, 1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड रोमर, लार्ड पोर्टर, लार्ड साल्वेसेन, सर लांसलाट सेंडरसन व सर फ्रैंक मेकिनान

संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 – धारा 58 – इस धारा के अधीन बंधक का स्वरूप कुछ भी हो, उससे बंधकदार का संपूर्ण विधिक हित अंतरित नहीं होता – अतः पट्टेदार द्वारा बंधक के मामले में बंधकदार और पट्टाकर्ता के बीच संपदात्मक संबंध (privity of estate) स्थापित नहीं होता और बंधकदार पर पट्टे वाला दायित्व या भार नहीं आता – यह स्थिति उस दशा में भी होगी जब कि बंधक इस धारा के अनुसार "अंग्रेजी" बंधक हो ।

– पट्टे के बंधकदार व पट्टाकर्ता के बीच संपदात्मक-संबंध तभी स्थापित होगा जबकि पट्टाकर्ता का पूर्ण हित बंधकदार को समनुदिष्ट हो जाए ।

– इस विषय में भारतीय विधि अंग्रेजी विधि से भिन्न है – अंग्रेजी विधि में मोचनाधिकार की नियत अवधि निकल जाने पर बंधककर्ता को जो मोचनाधिकार रहता है वह विधिक न होकर साम्याश्रित होता है और बंधककर्ता के सब विधिक अधिकार बंधकदार में निहित हो जाते हैं, अतः वहां पट्टेदार के बंधकदार व पट्टाकर्ता के बीच संपदात्मक संबंध माना गया ।

निर्णय

लार्ड पोर्टर – प्रस्तुत मामले में मूल वादी की वाद संस्थित किए जाने के बाद मृत्यु हो गई और उसके हित का प्रतिनिधित्व अब श्रीमती शैवालिनी देवी तथा अन्य कर रहे हैं । आगे उन्हें अपीलार्थी कहा जाएगा । मूलतः

---

[1] आ. इं. रि. 1935 कलकत्ता 659.

प्रतिवादी असंख्य थे ; किंतु केवल तीन को ही इस अपील में प्रत्यर्थी बनाया गया है और केवल उन्हीं के हित पर विचार करना शेष है । अन्य ने या तो अपने विरुद्ध दिए गए निर्णय मान लिए हैं या वे वाद से खारिज कर दिए गए हैं । ये तीन शेष व्यक्ति हैं, कृपा शंकर बोराह और जटाशंकर दास, जो पक्षकारों द्वारा प्रस्तुत पक्षवाद में 2 और 3 के रूप में संख्यांकित हैं और सत्याचरण श्रीमणि जो उन पक्षवाद में प्रत्यर्थी सं. 1 है । तथ्य संक्षेप में बताए जा सकते हैं । अपीलार्थी उन व्यक्तियों के हक उत्तराधिकारी हैं जिन्हें वर्दवान जिले की कतिपय अधोभूमि अधिकारों की बाबत 26 मई, 1908 के 999 वर्षीय पट्टे द्वारा दिए गए थे । इस पट्टे में, अन्य बातों के साथ-साथ, इनके लिए उपबंध अंतर्विष्ट थे – (क) पट्टेदार पट्टादाताओं को वह सब उपकर अदा करेंगे जो सरकार कोयला खान की आय के मद्दे उद्गृहीत करें ; (ख) न्यूनतम स्वामित्व का संदाय ; (ग) कोयला की कतिपय मात्राओं का उपबंध । पट्टे में अंतर्विष्ट एक खंड था जो पट्टेदार को यह स्वतंत्रता देता था कि सम्पत्ति के रूप में दान, विक्रय उप-पट्टे द्वारा या किसी अन्य प्रकार से अंतरण द्वारा किंही सम्मानित व्यक्तियों या कंपनी को अंतरण कर दें ।

2. पट्टेदारों ने इस उपबंध का लाभ उठाकर 3 जून, 1908 को इस संपत्ति को जे.सी. मार्टिन को अंतरित कर दी । इस दस्तावेज के निबंध वैसे हैं जैसे कि 28 मई के पट्टे के थे, सिवाय इसके कि पट्टेदारों पर अधिरोपित भारों में कतिपय वृद्धि कर दी गई थी । जहां तक प्ररूप का संबंध है यह अनुदान जो "व्यवस्थापन" के रूप में वर्णित है, मूल पट्टेदारों की सम्पूर्ण अवधि बल्कि उससे भी अधिक उप-पट्टेदारों को अंतरित करता है और अंग्रेजी विधि के अधीन यह मुख्य पट्टे के समनुदेशन की कोटि में आएगा । किंतु भारतीय विधि द्वारा यह सुस्थापित है और जो वर्तमान मामले में उभयपक्ष के लिए सामान्य आधार है कि ऐसा अंतरण उप पट्टे के रूप में प्रवर्तित होता है, न कि समनुदेशन के रूप में, देखिए **हंसराज** बनाम **विजय लाल**[1] ।

3. अनेक अंतर्वर्ती समनुदेशनों के पश्चात् मार्टिन का पट्टेदारी हित आर्दशीर के पटेल में निहित हुआ जो इस वर्तमान अपील में प्रत्यर्थी सं. 7 है । 18 मई 1923 को पटेल ने अपने पट्टेदारी हित के दो बंधक निष्पादित किए । (1) अधेभूमि अधिकारों या कोयला खान में अविभाजित आधे भाग का ; (2) सम्पूर्ण कोयला खान का, किंतु अभिवाजित आधे भाग के पूर्ववर्ती

---

[1] 57 इंडियन अपील्स 110 = आ. इं. रि. 1930 प्रि. कौ. 59.

बंधक के अधीन रहते हुए । दोनों ही उस रूप में हैं जिसमें कि इंग्लैंड में उप पट्टे का समनुदेशन होता है क्योंकि उनमें ये बातें हैं – (1) बंधककर्ता द्वारा प्रतिसंदाय का वचन, (2) बंधकित सम्पत्ति का अभि हस्तान्तरण, (3) बंधक करने पर बंधकदार द्वारा बंधककर्ता की पुनः अभि हस्तांतरण की व्यवस्था । प्रथम बंधक का प्रतिफल 49,500/- रु. का ऋण दिखाया गया है और बंधककर्ता वचन देता है कि इस राशि में से 15,000/- रु. बंधक की तारीख से 9 कलेण्डर मासों में संदाय कर देगा ; और शेष 8,625/- रु. – 8,625/- रु. की चार समान वार्षिक किस्तों में संदाय कर देगा ; पहली किस्त 1 अप्रैल 1925 से आरंभ होकर और अंतिम किस्त 1.4.1928 को देय होगी । द्वितीय बंधक का प्रतिफल 50,500 रु0 दिखाया गया है जो 18 मई, 1928 को ब्याज सहित प्रतिसंदेय है ।

4. प्रत्येक बंधक की दशा में, मासिक ब्याज अनुबंधित है और अभिहस्तान्तरण पट्टे के निबंधनों के अधीन रहते हुए और स्वयं बंधक में दिए गए मोचन के परन्तुक के अधीन रहते हुए है । बंधककर्ता प्रसंविदा करता है कि पट्टे के अधीन देय प्रभारों और रायल्टी का संदाय करेगा और उसकी अन्य बाध्यताओं का पालन करेगा ; किंतु बंधकदार को अनुमत है कि यदि बंधककर्ता इन राशियों का संदाय न करे तो इनका संदाय करके बंधककर्ता से वसूल कर ले और संदाय होने तक वे बंधक प्रतिभूति में जोड़ ले । यदि प्रतिभूत धन के संदाय में व्युतिक्रम हो तो बंधकदार को शक्ति प्राप्त है कि बंधकित सम्पत्ति का कब्जा ले ले । यदि बंधकों के निबंधन पूरे हो जाएं तो प्रत्येक मामले में बंधककर्ता हकदार है कि बंधककित परिसरों पर कब्जा बनाए रखे और उनमें कोयला खान का कारबार चलाता रहे । किंतु बंधकों में यह अंतर है कि पहले की दशा में उपबंध है कि प्रतिभूत धन के संदाय में चूक होने पर बंधकदार तीन मास का लिखित नोटिस देकर कब्जा ले सकता है और खानें चला सकता है जबकि दूसरे में वह यद्यपि मूलधन की 18 मई, 1927 को संदाय न होने पर कब्जा ले सकता है, फिर भी यदि बंधककर्ता ब्याज का सम्यक् रूप से संदाय कर दे तो बंधकदार वचन देता है कि बंधक धन की मांग 18 मई, 1933 के पूर्व नहीं करेगा, सिवाय उस दशा के जबकि 37 मास के ब्याज के संदाय में चूक की जाए ।

5. पहला बंधक प्रत्यर्थियों घोरा और दास को 17 अप्रैल, 1928 को सम्यक् रूप से अंतरित कर दिया गया और प्रत्यर्थी श्रीमणि, इस वाद के संस्थित किए जाने के समय भी, द्वितीय बंधक का बंधकदार था । किसी बंधकदार ने कभी कब्जा ही नहीं लिया । किंतु जे. सी. मार्टिन के उप-पट्टे

का भाटक बकाया हो गया और प्रसंविदाओं और शर्तों का पालन नहीं किया गया । तब अपीलार्थी ने 15 जुलाई, 1929 को यह वाद आसनसोल के अधीनस्थ न्यायाधीश न्यायालय में संस्थित किया जिसमें कि सभी प्रतिवादियों के विरुद्ध यह मांग की कि वे उक्त पट्टे के निबंधनों का पालन कम से कम ऐसी अवधि के दौरान करें जिसमें कि उनका उसमें हित हो । उस वाद में, उक्त उप-पट्टेदारों के प्रतिनिधि और अनेक समनुदेशिती भी प्रतिवादी बनाए गए और निर्णय पूरी राशि के लिए सबके विरुद्ध दिया गया प्रतीत होता है, सिवाय दो प्रतिवादियों के जिनमें से एक पटेल द्वारा 1 दिसंबर, 1925 को किए गए दान विलेख के अधीन हितबद्ध था और दूसरा इस प्रकार हितबद्ध व्यक्ति का प्रबंधक था । एक अन्य प्रतिवादी था जो बंधकदारों द्वारा बंधककर्ता के विरुद्ध किए गए बंधक वाद में न्यायालय द्वारा रिसीवर नियुक्त किया गया था और वह उस अवधि से आगे के लिए था जिसके लिए भाटक का दावा किया गया था । वह अपील न्यायालय द्वारा वाद से निकाल दिया गया ।

6. अब इन पक्षकारों के बारे में कोई प्रश्न नहीं उठता । एकमात्र अपीलार्थी बंधकदारों के वे दो संवर्ग है जिन्हें अधीनस्थ न्यायाधीश ने अंग्रेजी विधि में **विलियम** बनाम **बोसांके**[1] वाले निर्णय के समय से लागू किए गए सिद्धांत के आधार पर देनदार ठहराया । उस विनिश्चय के आधार ये थे कि यदि किसी अवधि के बंधकदार बंधक विलेख की निबंधनों के अधीन बंधकित सम्पत्ति के समनुदेशिती हो जाते हैं तो वे तब तक देनदार होते हैं जब तक कि वे सम्पत्ति को पुनः समनुदेशित नहीं कर देते और वह ऐसे किराए के जो उप-पट्टे में दी गई प्रसंविदाओं द्वारा या उसके आधार पर आरक्षित है, क्योंकि समनुदेशन के कारण उनके और पट्टाकर्ता के बीच सम्पदात्मक संबंध स्थापित हो गया है । न्यायालय ने वर्तमान मामले में यह विनिश्चित नहीं किया कि भारत में यह दायित्व सभी मामलों में होता है किंतु केवल उनमें होता है जिनमें कि “अंग्रेजी बंधक” नाम से ज्ञात प्ररूप का प्रयोग होता है। उन्होंने प्रश्नगत बंधकों को अंग्रेजी बंधक ठहराया । अपील न्यायालय ने यह निर्णय इस आधार पर उलट दिया कि प्रश्नगत बंधक अंग्रेजी बंधक नहीं हैं और यदि वे हैं भी तब भी सम्पत्ति में बंधककर्ता का सम्पूर्ण अधिकार, हक और हत निबंधनों के आधार पर बंधकदार को अंतरित नहीं हुआ । उसी निर्णय से अपीलार्थियों ने सपरिषद् हिज मैजेस्टी को यह अपील की ।

---

[1] [1819] 1 बांड एंड बी. 238.

7. अंग्रेजी विधि के अनुसार और भारतीय विधि के अनुसार भी किसी पट्टे का समनुदेशिती संपदात्मक संबंध के कारण पट्टे के उन सभी भारों के दायित्वाधीन हो जाता है जो मात्र उस पर समनुदेशन के कारण अधिरोपित हो जाते हैं, चाहे कब्जा ले या न ले, देखिए **कुन्हानुजन** बनाम **अंजलु**[1] इं. ला. रि. और **मोनिका किठेरिया** बनाम **सुब्राया हेब्बर**[2] वह आधार जिस पर वह दायित्वाधीन ठहराया जाता है वह यही है कि समनुदेशन विलेख से समनुदेशक का सम्पूर्ण हित उसको मिल गया है और क्योंकि समनुदेशक का अब कोई हित नहीं रह गया, अतः वह संपदात्मक संबंध के कारण दायित्वाधीन नहीं हो सकता, यद्यपि वह उस दशा में संविदा के आधार पर फिर भी दायित्वाधी रहता है जबकि वह मूल पट्टे का पक्षकार रहा हो । अंग्रेजी विधि पद्धति के अधीन **विलियम्स** बनाम **बोसांके**[3] में विनिश्चय किया गया कि जहां 1925 के लॉ ऑफ प्रापर्टी ऐक्ट के पारित होने के पूर्व इस देश में प्रयुक्त बंधक का सामान्य प्ररूप अपनाया जाए, वहां पट्टाकर्ता का सम्पूर्ण हित उसके बंधकदार को अंतरित हो जाता है, यद्यपि बंधककर्ता को मोचन करने का अधिकार हरता है । यदि यह भारत में भी सही होता तो यहां भी वही परिणाम निकलेगा । अतः हमें यह अवधारित करना है कि क्या भारतीय विधि पद्धति के अधीन पट्टे के बंधककर्ता का सम्पूर्ण हित किसी परिस्थिति में बंधकदार को अंतरित हो जाता है और यदि हो जाता है तो किन परिस्थितियों में ।

8. 1925 तक इंग्लैंड में बंधक का प्रायिक प्ररूप, चाहे वह फी सिम्पल का मामला हो या पट्टे का, बंधककर्ता के सम्पत्ति में हित के समनुदेशन द्वारा अंतरण का था, जिसमें एक परंतुक जुड़ा रहता था कि विशिष्ट तारीख तक बंधक धन का संदाय कर देने पर वह पुनः समनुदेशित कर दिया जाएगा । उस तारीख के निकल जाने के पश्चात् बंधककर्ता के विधिक अधिकार अवधारित हो जाते थे और बंधकदार संपूर्ण संपत्ति का विधितः पूर्ण स्वामी हो जाता था । किंतु साम्या में बंधककर्ता का मोचनाधिकार बना रहता था और फिर भी ऋण तथा ब्याज का संदाय करके संपत्ति अभिहस्तांतरित कराने का अधिकार उसे रहता था । यह अधिकार उसे तब तक रहता था जब तक कि पुरोबंध के निर्णय द्वारा अथवा (संभवतः) परिसीमा विषयक कानून के प्रवर्तन द्वारा लेनदार की हैसियत परिवर्तित होकर स्वामी की न हो जाए या जब तक कि बंधकदार

---

[1] [1894] 17 मद्रास 296.

[2] [1907] 30 मद्रास 410.

[3] (1819) 1 ब्राड एण्ड बी. 238.

(बंधककर्ता) का हित न्यायालय की आदेशिका के अधीन अथवा स्वयं बंधक में अंतर्विष्ट शक्ति के अनुसार विक्रय द्वारा नष्ट न हो जाए यह अधिकार साम्यिक अधिकार था और अंग्रेजी विधि के अधीन वह बंधककर्ता का संपूर्ण विधिक हित उसके मोचनाधिकार के प्रतिधारण के बावजूद भी बंधकदार को अंतरित होने से नहीं रोकता था, संपूर्ण विधिक सम्पदा अंतरित हो जाती थी, किंतु फिर भी उसके पास बना रहने वाला अधिकार केवल साम्यिक होने पर भी भूमि में एक सम्पदा था और न कि अंतरक की ओर से एक व्यक्तिगत संविदा मात्र ।

9. सम्पत्ति अंतरण अधिनियम पारित होने के समय तक, भारत में भूमि के बंधककर्ताओं और बंधकदारों के अधिकारों के विषय में बहुत विवाद था, यद्यपि, ऐसे उपांतरणों के अधीन रहते हुए जिनकी न्याय, साम्या और शुद्ध अंतःकरण अपेक्षा करें, इंग्लैंड की विधि सामान्यतः भारत की विधि के रूप में भी मानी जाती थी । किंतु यह निश्चित नहीं था कि ऐसे मामलों को साम्या के अंग्रेजी नियम भी लागू होंगे । किंतु उक्त अधिनियम के पारित होने के समय से, भारत में वह भेद नहीं रह गया जो इंग्लैंड में ऐसे मामलों में विधि और साम्या में किया जाता है । जैसा कि **सर जार्ज रैंकिनबंगाल नेशनल बैंक** बनाम **जानकी नाथ**[1] में पृष्ट 822 पर कहते हैं, "सम्पत्ति अंतरण अधिनियम ने ऐसे भेद के लिए कोइ स्थान नहीं छोड़ा है ।"

10. यद्यपि, साम्या के अंग्रेजी नियम यहां लागू नहीं हो फिर भी भारतीय बंधकदार के कुछ अधिकार बने रहते हैं । उसका सम्पत्ति हस्तांतरित कराने का अधिकार बना रहता है और उस अधिकार का विक्रय या द्वितीय बंधक द्वारा अंतरण का अधिकार भी – (देखिए धाराएं 81,82,91 व 94) और भारत में यह अधिकार विधिक अधिकार है । अतः, जब बंधककर्ता अपनी सम्पत्ति बंधक द्वारा अंतरित करता है तो क्या उसे यह कहा जा सकता है कि वह अपना सम्पूर्ण अधिकार अंतरित करता है । **विट्ठल नारायण** बनाम **राजे बहादुर श्रीराम सावंत**[2] में न्यायमूर्ति रसेल ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया :–

> "भारत में पट्टेदार (बंधककर्ता) में मोचनाधिकार साम्यिक नहीं होता क्योंकि यहां विधिक और साम्यिक सम्पदा में कोई अंतर नहीं होता । उसकी सम्पूर्ण सम्पदा बंधक द्वारा अंतरित नहीं की जाती ।"

11. यह संप्रेक्षण सामान्य प्रकृति का है यद्यपि उस विशिष्ट मामले में

---

[1] इं. ला. रि. 54 कलकत्ता 813 = आ. इं. रि. 1927 कलकत्ता (725) 1.

[2] इं. ला. रि. (1905) 29बाम्बे 391.

जस्टिस रसेल ऐसे बंधक पर विचार कर रहे थे जिसका प्ररूप इंग्लैंड में प्रयुक्त बंधक से विस्तृत रूप से भिन्न था । अपर निर्दिष्ट दो निर्णयों के अलावा, भारतीय निर्णय यह सिद्धांत मानते हैं कि भारतीय विधि में विधि और साम्या में अंतर के लिए कोई स्थान नहीं है । इस प्रतिपादना के लिए उन दो निर्णयों का हवाला दिया जा सकता है जिनका उल्लेख अपीलार्थियों ने अपनी बहस में किया, अर्थात् **तीतलन** बनाम **एरलपोड राजा**[1] व **फल कृष्ट पाल** बनाम **जगन्नाथ मारवाड़ी**[2] ।

12. वैसा ही मत सामान्यतः भारतीय पाठ्यपुस्तकों में अपनाया गया है, देखिए – घोष का लॉ ऑफ मार्गेज इन इंडिया (पंचम संस्करण, 1922) पृष्ठ 335 पर, और मुल्ला का "ट्रांसफर ऑफ प्रापर्टी ऐक्ट" (द्वितीय संस्करण, 1936) पृष्ठ 345 पर । और वर्तमान मामले में अपीलार्थियों ने भी अपनी बहस में वही अपनाया । उनका तर्क था कि अधिनियम स्वतः पूर्ण संहिता है जिसके द्वारा बंधककर्ता और बंधकदार के अधिकारों का अभिनिश्चय होना है और उससे कानूनी अधिकार, न कि साम्यिक अधिकार, अस्तित्व में लाए गए । हम इस तर्क से सहमत हैं और तदनुसार अधिनियम की उन धाराओं पर विचार करने को अग्रसर होते हैं जो बंधकों के संबंध में हैं । अधिनियम की धारा 58(क) में यह अधिनियम है कि बंधक विनिर्दिष्ट स्थावर सम्पत्ति में एक हित का अंतरण है । इस परिभाषा के आधार पर, अधिनियम में, जैसा कि वह सुसंगत तारीख को प्रवृत्त था, चार प्रकार के बंधक गिनाए गए हैं, अथात् (क) साधारण बंधक, (2) सशर्त विक्रय द्वारा बंधक, (3) भोग बंधक, (4) अंग्रेजी बंधक । जो अन्य प्रकार के बंधक भी माने गए हैं : साम्यिक बंधक और विलक्षण बंधक और उनकी चर्चा क्रमशः धारा 59 व 98 में है । बहस यह की गई कि इन छह प्रकारों में से अंग्रेजी बंधक से उसके निबंधनों के अनुसार बंधककर्ता के सम्पूर्ण हित का अंतरण हो जाता है और विलक्षण बंधक से उसके निबंधनों के अनुसार ऐसा अंतरण हो सकता है ; अतः जब विषयवस्तु पट्टा हो तो उससे पट्टाकर्ता तथा पट्टे के बंधकदार के बीच सम्पदात्मक संबंध (privity of estate) सृजित हो जाता है ।

13. निःसंदेह, अंग्रेजी विधि में वे ऐसा ही करेंगे । किंतु उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ऐसी पद्धति के अधीन जिसमें उन्हीं शब्दों का, जिनसे कि अंग्रेजी विधि के अधीन बंधककर्ता का सम्पूर्ण हित अंतरित हो

---

[1] इं.ला.रि. 40 मद्रास 1111 = आ. इं. रि. 1918 मद्रास 425.

[2] इं. ला. रि. 59 कलकत्ता 1314 = आ. इं. रि. 1932 कलकत्ता 775.

जाता है, भारतीय विधि में जिसमें साम्या का कोई स्थान नहीं है, वहीं प्रभाव होगा । यहां दृष्टिकोण भिन्न है । भारतीय विधि के अनुसार, बंधककर्ता में जो हित रहता है वह विधिक हित है और उसके बने रहने के कारण बंधककर्ता का संपूर्ण हित बंधकदार को अंतरित नहीं होता, यदि केवल साम्यिक हित रहता तो यह परिणाम नहीं होता । इस अधिनियम में ही इस आशय के कुछ संकेत हैं । धारा 54 विक्रय के विषय में है । उसमें कहा गया है कि विक्रय स्वामित्व का अंतरण है जो उस हित के अंतरण से भिन्न है जो कि बंधक के मामले में धारा 58(क) में चर्चित है और भले ही हित आत्यंतिक हो, किंतु जब उस शब्द का प्रयोग स्वामित्व से भिन्नता के लिए किया जाए तो व सीमित हित के लिए अधिक उपयुक्त है । इस तर्क का अपीलार्थी उत्तर देते हैं कि अन्य प्रकार के बंधक से स्थिति कुछ भी हो, धारा 58(ङ) ने अंग्रेजी बंधक की परिभाषा देते समय बंधक सम्पत्ति के बंधकदार को आत्यंतिक अंतरण की बात कह दी है । इसके निबंधन प्रकार हैं :—

> "(ङ) जहां बंधककर्ता बंधक धन का प्रतिसंदाय निश्चित तारीख को करने के लिए अपने को आबद्ध करता है और बंधक सम्पत्ति को बंधकदार का आत्यंतिक रूप से, किंतु वह परंतुक के अध्यधीन, अंतरित करता है कि करार के अनुसार बंधक धन के संदाय पर बंधकदार उसे बंधककर्ता को प्रति अंतरित कर देगा वह संव्यवहार अंग्रेजी बंधक कहलाता है ।"

14. कहा गया है कि ऐसे बंधक द्वारा बंधककर्ता अधिनियम की धारा 60 द्वारा प्रदत्त अपने कानूनी मोचनाधिकार के अध्यधीन अपना संपूर्ण हित अंतरित कर देता है । निःसंदेह धारा 60(ङ) की शब्दावली कुछ कठिनाई उत्पन्न करती है किंतु उसके निर्वचन पर विचार करने के पूर्व अपीलार्थियों के सामान्य तर्क की शुद्धता पर विचार किया जाना चाहिए । 1925 के पूर्व अपनाई गई अंग्रेजी पद्धति में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती थी । बंधकदार अपनी सम्पूर्ण विधिक सम्पदा अंतरित कर देता था यद्यपि उसका भूमि में ही साम्यिक हित बना रहता था । तदनुसार, जिस बंधकदार को विधिक हित बंधक विलेख द्वारा अंतरित होता था उसके लिए यह माना जाता था कि उस अंतरण से उसका पट्टेदार से सम्पदात्मक संबंध द्वारा सीधा संबंध स्थापित हो गया है और वह भाटक का देनदार है ।

15. किंतु भारतीय अधिनियम के अधीन, कोई साम्यिक अधिकार नहीं होते । अतः, जब तक कि बंधककर्ता भूमि में कुछ विधिक हित अपने प्रतिधारित नहीं करे उसे केवल सम्पत्ति के प्रति अभिहस्तांतरण का

संविदाश्रित अधिकार होता है । यदि वह कुछ विधिक हित प्रतिधारित करता है तो यह कहना कठिन है कि उसने अपना सम्पूर्ण हित अंतरित कर दिया है । दूसरी ओर, इस निष्कर्ष के विरुद्ध प्रबल कारण हैं कि वह बंधकदार के विरुद्ध केवल संविदाश्रित अधिकार रखता है । यदि मामला इंग्लैंड में उठता तो यह कहना संभव होता कि प्रति हस्तांतरण को संविदा से बंधककर्ता को भूमि में साम्यिक हित मिल गया । किंतु यह तर्क भारत में असमर्थनीय है । प्रथमतः, जैसा कि पहले बताया गया, इस देश में साम्यिक संपदा नहीं होती और दूसरे सम्पत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 54 के अधीन स्थावर सम्पत्ति के विक्रय की संविदा से विक्रीत भूमि में किसी हित का अथवा उस पर किसी प्रभार का सृजन नहीं होता । इस उपबंध को देखते हुए यह समझना कठिन है कि प्रतिहस्तान्तरण की व्यक्तिगत संविदा से स्वयं भूमि में हित का सृजन किस प्रकार हो सकता है । किंतु बंधककर्ता के मोचनाधिकार को केवल संविदाश्रित मानना और भूमि में हित का सृजन न मानना उसके लिए यह असंभव बना देगा कि अपना मोचनाधिकार समनुदिष्ट करे अथवा द्वितीय बंधक सृजित करे जिससे भूमि पर आबद्धकर हो । निस्संदेह यह वस्तुस्थिति सैद्धांतिक दृष्टि से संभव है किंतु अधिनियम के उपबंधों से असंगत है (जिसकी धारा 81, 82, 91 और 94 द्वितीय बंधक को मान्यता देती हैं), और भारत में, स्थापित इस संभावना से भी कि मोचनाधिकार किसी खरीदार को अंतरित कर दिया जाए ।

16. इन बातों को ध्यान में रखते हुए अब अधिनियम की धारा 59(ङ) की शब्दावली के प्रभाव पर विचार करना बाकी रहता है । उस धारा में बंधकदार को बंधक सम्पत्ति आत्यंतिक रूप से अंतरित करने का उल्लेख है । इन शब्दों के प्रयोग से क्या उसका अभिप्राय यह है कि सम्पत्ति में कोई हित या विधिक हित बंधककर्ता के पास नहीं रहता है । हम ऐसा विचार नहीं कर सकते । यदि इस उपधारा में "किंतु इस परंतुक के अध्यधीन" आदि शब्द न होते तो उसका यह अर्थ निकालना आवश्यक हो सकता था । किंतु ऐसा नहीं है । वह एक परंतुक जोड़ती है कि बंधकदार करार के अनुसार बंधक धन के संदाय पर वह सम्पत्ति पुनः अंतरित कर देगा । हमारे विचार से यह शब्द जोड़ने के कारण यह उपधारा अपने सही अर्थों में यह घोषित नहीं करती कि अंग्रेजी बंधक सम्पत्ति का आत्यंतिक अंतरण है । यह केवल यह घोषित करती है कि यदि पुनः अंतरण वाला परंतुक न होता तो बंधक आत्यंतिक होता । इससे यह अवधारित नहीं होता कि इन शब्दों के प्रयोग का क्या विधिक प्रभाव है । वह केवल उन शब्दों का स्वरूप विहित करती हैं जो भारत में अंग्रेजी बंधक के नाम से ज्ञात बंधक करने के लिए

आवश्यक हैं । धारा 58(ङ) प्ररूप के विषय में है, न कि सार के विषय में । सारभूत अधिकार धारा 58(क) व 60 में हैं । किसी भी प्ररूप का उपयोग किया जाए, एक हित से अधिक कुछ अंतरित नहीं होता और वह हित मोचनाधिकार के अधीन रहता है ।

17. जैसा कि पहले बंधक के बारे में कहा गया, संदाय की संविदात्मक तारीख 18 मई, 1928 थी और वह तारीख यह वाद प्रारंभ होने के पूर्व निकल चुकी थी । द्वितीय बंधक के मामले में बंधकदार ने वचन दिया था कि यदि ब्याज का सम्यक् रूप से संदाय दिया गया होता तो वह बंधक धन 18 मई 1933 के पूर्व नहीं मांगता । उस मामले में जिसमें कि संदाय की तारीख निकल गई है तथा उस मामले में जिसमें वह तारीख अभी तक नहीं आई है, अंतर का संकेत **विलियम्स** बनाम **बोसांके**[1] में दिया गया है और यह बताया गया कि पूर्व मामले में संदाय की शर्त पूरी न होने के कारण अंतरण निर्विवाद रूप से आत्यंतिक अंतरण हो गया । किंतु नयायालय का विचार था कि अंतरण तब भी आत्यंतिक होता जबकि संदाय की तारीख न आई होती ।

18. उस मामले की भांति इस मामले में, हमारा विचार है कि सिद्धांततः कोई अंतर विद्यमान नहीं है । इंग्लैंड में बंधकदार को तारीख निकलने के पहले और बाद में दोनों ही समयों पर सम्पत्ति में साम्यिक हित रहता है, पहले इस कारण कि उसको संविदाश्रित अधिकार है कि सम्पत्ति को प्रति-हस्तांतरित कराए ; बाद में इस कारण कि साम्या की दृष्टि में समय, संव्यवहार का मर्म नहीं होता । प्रत्येक मामले में उसे साम्यश्रित सम्पदा प्राप्त होती है यद्यपि पूर्व में उसे मोचनाधिकार अभी प्राप्त नहीं है, देखिए **क्रेगलिंगर** बनाम **न्यू पेरागोनियामीट आदि**[2] में लार्ड पारक के निर्णय का पृष्ठ 49 । भारत में वही अंतर संदाय के पहले और बाद में होता है । उस तारीख के पहले बंधककर्ता का भूमि में जो हित होता है वह उपर्युक्त कारणों से विधिक है, न कि साम्यिक । उस तारीख के बाद कानून की धारा 60 द्वारा उसे प्रदत्त मोचनाधिकार होता है । ऐसी प्रत्येक दशा में, उसका सम्पत्ति में विधिक हित बना रहता है ।

19. अतः, हमारा विचार है कि भारत में जब कोई बंधककर्ता पट्टे के अधीन अपना हित किसी बंधकदार को समनुदिष्ट करता है तो वह अधिनियम की धारा 58 में विनिर्दिष्ट किसी भी प्ररूप में आत्यंतिक हित

---

[1] (1819) 1 ब्राड एण्ड बी 338.

[2] (1914) अपील केसेज 25.

उस अर्थ में अंतरण नहीं करता जो **विलिसम्स** बनाम **बोसांके**[1] में प्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार इंग्लैंड में है और परिणामतः बंधकदार पर पट्टे का दायित्व सम्पदात्मक संबंध के कारण नहीं होता । गत समय में इस प्रश्न पर भारतीय न्यायालयों में विरोध रहा है । **फल कृष्ट पाल** वाला उपर्युक्त निर्णय उन तर्कों के अनुसरण का उदाहरण है जो हमें ठीक लगे । **कन्हैया लाल सेठ** बनाम **निरस्तारिणी दासी**[2], **ऑफ अपर इंडिया** बनाम **महाधिवक्ता, बंगाल**[3] में भिन्न दृष्टिकोण का सुझाव दिया गया है 1 उनमें से कोई इस प्रश्न का विनिश्चय नहीं करता । **बंगाल नेशनल बैंक** बनाम **जतानकी नाथ**[4] में सीधा विनिश्चय है कि बंधकदार अंग्रेजी बंधक के मामले में निश्चय ही और विलक्षण बंधक के मामले में संभवतः दायी है । किंतु इस निर्णय में वह कठिनाई मानी गई जो अंग्रेजी और भारतीय विधि के दृष्टिकोणों में अंतर के कारण है और उस अंतर को देखते हुए हम उस विनिश्चय का अनुसरण करने में अपने को असमर्थ पाते हैं ।

20. इस निष्कर्ष पर पहुंचने पर हम इसकी चर्चा या इसका अवधारण करना अनावश्यक समझते हैं कि पक्षकारों के उस दशा में क्या अधिकार होते यदि बंधकदारों ने सम्पत्ति का कब्जा ले लिया होता या प्रत्यर्थियों को या उनके हित पूर्वाधिकारियों को किए गए बंधक अंग्रेजी बंधक थे या नहीं । हमारी दृष्टि में पट्टे का ऊपरनिर्दिष्ट छह प्ररूपों में से किसी में भी बंधक भारतीय विधि के अधीन आत्यंतिक समनुदेशन नहीं होता और उससे पट्टाकर्ता और बंधकदार के बीच संपदात्मक संबंध स्थापित नहीं होता । प्रत्यर्थियों की ओर से बहस के दौरान हमारे समक्ष कहा गया कि सम्पत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 108(ज) की शब्दावली इस मत को समर्थन प्रदान करती है कि बंधक के रूप में समनुदेशन आत्यंतिक नहीं होता । उस उपधारा में अधिनियमित है :–

> "पट्टेदार सम्पत्ति में के अपने पूर्ण हित को या उसके किसी भाग को आत्यंतिक रूप से अथवा बंधक या उप-पट्टे द्वारा अंतरित कर सकेगा ।"

21. कहा यह गया कि यह शब्दावली आत्यंतिक अंतरणों और बंधक द्वारा अंतरण में विभेद करती है और इस प्रकार प्रकट करती है कि अधिनियम

---

[1] [1819] 1 ब्राड ऐण्ड बी 338.

[2] इंग्लैण्ड ला रिर्पोट (1884) 10 कलकत्ता 443.

[3] इंग्लैंड ला रिर्पोट 45 कलकत्ता 853 = ए. आई. आर. 1919 कलकत्ता 908.

[4] इं. ला. रि. 54 कलकत्ता 813 = आ. इं. रि. 1927 कलकत्ता 725.

उत्तरोक्त को आत्यंतिक नहीं मानता । किंतु हम यह अभिनिर्धारित करने को तैयार नहीं हैं कि ये तीन प्रकार के अंतरण परस्पर अपवर्जनकारी हैं । उनका ऐसा होना अनिवार्य नहीं है । उदाहरणार्थ, किसी पट्टे का बंधक उप-पट्टे के रूप में किया जा सकता है, किंतु इस तर्क के अलावा, जैसा कि हमने बताया, हमारी राय है कि प्रत्यर्थियों का कथन सही है । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील खर्चे सहित खारिज की जाए और क्योंकि हमारा विचार है कि प्रत्यर्थी अलग से प्रतिनिधित्व करने के हकदार थे, अतः अपीलार्थी बंधकदारों के दोनों संवर्गों में से प्रत्येक "क" के खर्चे का संदाय करें ।

अपील खारिज की गई ।

पायरमाण्ट लि. लौर एक अन्य......................अपीलार्थी

बनाम

लूसीला स्काट......................प्रत्यर्थी

(जिब्राल्टर प्रि. कौ. अपील सं. 43 सन् 1937 के विरुद्ध)

निर्णीत : 1.12.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड एटकिन, लार्ड पोर्टर, व सर लांसलाट सेंडरसन

संविदा – विदेशी मुद्रा में संदाय का वचन – संदाय किस रूप में किया जाए इसका निर्णय उस देश की विधि पर निर्भर करेगा जिसकी मुद्रा में संदाय किया जाना है – किसे वैध निविदा माना जाए – यह भी उसी से शासित होगा – स्पेनी मुद्रा पेसेटा में अदायगी के वचन का पालन वहां की विधि के अनुसार होगा ।

निर्णय संक्षेप (सार)

जस्टिस लार्ड पोर्टर – अपीलार्थी कंपनी जिब्राल्टर में निगमित है और विनिधान कंपनी के रूप में कारबार करती है । जॉन मेकिंटोश उस कंपनी के निदेशक हैं । मई, 1935 में कंपनी को बड़ी मात्रा में पेसेटाओं की आवश्यकता हुई । उस समय प्रत्यर्थी के पास जिब्राल्टर में बार्कले बैंक में पांच लाख पेसेटा से अधिक जमा थे । उसके दिवंगत पति की सम्पदा के एक न्यासी प्रत्यर्थी 82 वर्षीय वृद्ध व्यक्ति है और उसका कारबार उसके

भतीजे द्वारा चलाया जाता है । श्री कांग श्री और मेकिण्टाश के भी मित्र थे और उनके माध्यम से अपीलार्थी कंपनी ने पांच लाख पेसेटा साढ़े तीन प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज पर उधार लिए और 22 मई, 1935 को बंधपत्र निष्पादित किया जिसके अनुसार उन्होंने स्वयं को 22 मई, 1936 को प्रत्यर्थी को 50,000,00 पेसेटा वापस कर देगा, और इस बीच ब्याज साढ़े तीन प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज का संदाय छः माही किस्तों के साथ 22 नवम्बर, 1935 से 22 मई, 1956 को करेगा । वंध पत्र निष्पादित किए जाने पर, मिस्टर पांस जो न्यासियों द्वारा लेखाकार नियोजित किया गया था बार्कले बैंक सिब्रालटर के नाम में लिखा गया 50,0000 पैसेटा के लिए चैक तैयार करके फाइल किया और चैक पर इन न्यासियों ने हस्ताक्षर कर दिए थे जिनके नाम में पैसा जमा था । तत्पश्चात् चैक मैकिंटोश या उसके सचिव कैस्टान को सौंप दिया था ब्रकिले बैंक में अपीलार्थी के खाते में संदत्त किया गया था । समय-समय पर इस खाते से अपीलार्थी ने 60,000 से 70,000 पेसेटा के बीच के मूल्य चैक आहरित किए थे और सम्पूर्ण रकम अपीलार्थियों ने वर्ष, 1935 समाप्त होने से पूर्व निकाल ली थी । इस बीच 22 नवम्बर, 1935 को छः माही ब्याज का संदाय सम्यक्‌तः कर दिया गया था । उक्त ऋण मंजूर हो जाने पर ऋणदाता ने पांच लाख पेसेटा का बार्कले बैंक पर लिखा गया चेक दिया । अपीलार्थी कंपनी ने बार्कले बैंक के अपने ही खाते में वह चेक जमा कर दिया और समय-समय पर अपने चेक काटकर पेसेटा निकालती रही ।

2. स्पेनी पेसेटा, 1898 तक जिब्राल्ट का भी वैध मुद्रा था । किंतु 9 अगस्त 1898 के सपरिषद के आदेश द्वारा कतिपय अपवादों के अध्यधीन जो इस वाद से संगत नहीं है वहां की मुद्रा अंग्रेजी पौण्ड स्टर्लिंग हो गया । फिर भी पेसेटाओं का लेनदेन चलता रहा । किंतु वह स्पेन की मुद्रा बराबर रहा । वहां भी पेसेटाओं के सोने के सिक्के और पांच पेसेटा के चांदी के सिक्के बराबर वैध मुद्रा रहे । बैंक ऑफ स्पेन को पेसेटाओं के नोट जारी करने का भी अधिकार था और वह नोट जारी कर देता था और वह सरकारी कामकाज में बराबर स्वीकार किए जाते थे । अन्य लोगों की स्वेच्छा पर निर्भर करता था कि वे इन नोटों को स्वीकार करें या न करें । किंतु व्यवहार में वे चलते थे क्योंकि बैंक ऑफ स्पेन इस बात के लिए आबद्ध था कि अपने नोटों के बदले सोने व चांदी के सिक्के दे । जिब्राल्टर में सोने के सिक्के भी वैध मुद्रा नहीं रह गए थे । वे वस्तु मात्र थे जो किसी भी अन्य व्यापारिक वस्तु की भांति खरीदे और बेचे जा सकते थे । 1936 तक पेसेटा नोट स्पेन और जिब्राल्टर दोनों में सम्पूर्ण मूल्य पर चलते रहे ।

1930 में स्पेन ने अपने यहां से चांदी का निर्यात प्रतिषिद्ध कर दिया ।

3. 1936 में स्पेन की सरकार ने यह कानून बना दिया कि कोई भी यात्री करेन्सी नोट भी बैंक ऑफ स्पेन से प्राधिकार प्रापत किए बिना स्पेन से बाहर नहीं ले जा सकता । यह प्राधिकार पत्र "गुइया" कहलाता था जिसमें नोटों का मूल्य लिखा रहता था । गुइया युक्त नोट तो संपूर्ण मूल्य पर चलते थे, किंतु गुइया के बिना नोट कुछ कम मूल्य पर चलते थे । इस प्रकार गुइया के बिना बहुत से नोट जिब्राल्टर में हो गए । किंतु यह स्पष्ट है कि गुइया वाले नोटों का मूल्य बिना गुइया वाले नोटों से अधिक रहा । अतः ऋणदाता की ओर से अपीलार्थी कंपनी को सूचित किया गया कि वे संदाय यदि नोटों में करें तो गुइया वाले नोटों में करें । आपस में बहुत पत्र-व्यवहार हुआ, किंतु कुछ तय नहीं हो सका । अंत में अपीलार्थी कम्पनी ने क्रेडट फोंसिए नामक एक बैंक में पांच लाख पेसेटा जमा करा कर अपने नाम उक्त राशि का चेक ऋणदाता को दिया, जो स्वीकार नहीं किया गया । तब अपीलार्थी कंपनी ने बिना गुइया के पेसेटा नोट निवेदित किए । वे भी स्वीकार नहीं किए गए । तब कम्पनी ने न्यायालय में वाद किया और पेसेटा नोटों का बंडल भी वहां जमा करा दिया । यह संभवतः इस आशय से किया गया कि अब ब्याज नहीं पड़ेगा । किंतु यह गलत था क्योंकि पेसेटा जिब्राल्टर की वैध मुद्रा न होने के कारण वे नोट न्यायालय में जमा नहीं हो सकते थे ।

4. यह उभयपक्ष को स्वीकार है कि पेसेटा जिब्राल्टर का वैध मुद्रा नहीं था । किंतु संविदा पेसेटा में ही अदायगी की थी । अतः प्रश्न उठता है कि यह अदायगी किस प्रकार की जानी चाहिए थी । पेसेटा स्पेनी मुद्रा की एक इकाई था । संविदा ऐसी पांच लाख इकाइयों में अदायगी की थी तो संदाय किस प्रकार की जाए । ऐसे प्रश्न का निर्णय पहले ही **इन री चेस्टरमैन्स ट्रस्ट्स ; माट** बनाम **ब्राउनिंग**[1] में किया जा चुका है । उसमें निर्णय किया गया कि संदाय उस देश की वैध मुद्रा में किया जाना चाहिए जिसकी बाबत करार किया गया । यह निर्णय हमारे ऊपर आबद्धकर नहीं है । किंतु हम उससे सहमत हैं । हमारी दृष्टि में, अपीलार्थी कंपनी ने स्पेन की मुद्रा में पांच लाख इकाई उधार ली, न कि उतनी राशि के नोट । उसी के लिए उन्होंने बार्कले बैंक का चेक स्वीकार किया और उसका दायित्व उन्हीं इकाइयों को लौटाने का था । उसका निर्वाह नोटों में संदाय से नहीं होता । निःसंदेह वयवहार में नोट भी स्वीकार कर लिए जाते थे । किंतु किसी के

---

[1] (1923) 2 चांसरी 466.

लिए ऐसा करना आबद्धकर नहीं था । जैसा उपर्युक्त निर्ण के पृष्ठ 483 पर कहा गया । दूसरी ओर से **ब्रिटिश बैंक फार फारेन ट्रेड लि.** बनाम **रशियन कामर्शियल ऐण्ड इंडस्ट्रियल बैंक नं. 2**[1] का आश्रय लेकर बहस की गई कि उसमें भिन्न दृष्टिकोण अपनाया गया है और वही माना जाना चाहिए । किंतु हमारी राय में इन दोनों निर्णयों में कोई सैद्धांतिक अंतर नहीं है । इस मामले में राशि का निर्णय करना आवश्यक नहीं है । मुख्य न्यायमूर्ति ने जो राशि निश्चित की है उसके विषय में कोई विवाद नहीं है । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जानी चाहिए और अपीलार्थी प्रत्यर्थी का इस बोर्ड का खर्चा अदा करे ।

अपील खारिज की गई ।

चुंग ची च्युंग.................................अपीलार्थी

बनाम

राजा......................प्रत्यर्थी

(हांगकांग के सम्पूर्ण न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 26 सन् 1938)

निर्णीत : 2 दिसंबर, 1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड ऐटकिन, लार्ड मेकमिलन, लार्ड पोर्टर, सर लांसलाट सेंडरसन व सर जार्ज रैंकिन

अंतर्राष्ट्रीय विधि – ची के पोत के हांगकांग के राज्य क्षेत्रीय जल में होने के समय पोत के कर्मीदल के एक सदस्य ने अपने ही पोत के एक अधिकारी की हत्या कर दी और दूसरे की हत्या करने का प्रयत्न किया – अपराधी स्वयं भी घायल हो गया और उसे हांगकांग के अस्पताल में ले जाया गया – अपराध के उपकरण भी वहां की पुलिस के कब्जे में – हांगकांग में विचारण हुआ जिसमें चीन के अधिकारियों ने स्वयं जाकर साक्ष्य दिया – चीन की ओर से कभी हांगकांग के न्यायालय की अधिकारिता को प्रश्नगत नहीं किया गया और न अपराधी के प्रत्यर्पण के लिए अनुरोध किया गया – निर्णय किया गया कि इस संबंध में अपराधी के

---

[1] (1922) 38 टी. एल. आर. 65.

विचारण की अधिकारिता चीन के न्यायालय को थी – यह अधिकारिता उस उन्मुक्ति के आधार पर थी जो कि अंतर्राष्ट्रीय विधि के अंतर्गत मानी जाती है कि जब एक राज्य का पोत दूसरे राज्य के राज्यक्षेत्र में होता है और उस पोत के कर्मीदल एक-दूसरे के प्रति वहां पोत पर अपराध करते हैं तो उस राज्य क्षेत्र की प्रभुसत्ता उनको अपनी अधिकारिता से उन्मुक्ति दिए रहती है, किंतु दूसरे राज्य की प्रभुसत्ता इस उन्मुक्ति को अधित्यक्त दिए रहती है, किंतु दूसरे राज्य की प्रभुसत्ता इस उन्मुक्ति को अधित्यक्त भी कर सकती है और प्रस्तुत मामले में यही माना जाएगा कि चीन ने अपनी उन्मुक्ति अधित्यक्त कर दी – ऐसी दशा में, हांगकांग के न्यायालय की अधिकारिता पुनः निःसृत हो गई और अपराधी का विचारण करके उसे दण्डित करना अधिकारिता-शून्य नहीं है ।

एक राज्य के पोत के दूसरे राज्य के राज्यक्षेत्र में होने पर उस पोत पर किए गए अपराध के विषय में अधिकारिता का विवेचन किया गया – राज्य क्षेत्रातीतता (exterritoriality) के सिद्धांत का खण्डन किया गया ।

निर्णय

जस्टिस लार्ड ऐटकिन – यह अपील हांगकांग के सम्पूर्ण न्यायालय (फुल कोर्ट) के निर्णय से है । उन्होंने हांगकांग के उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) में मुख्य न्यायमूर्ति श्री मैकग्रेगर व जूरी के समक्ष विचारण में दोषसिद्धि और दंडादेश के विरुद्ध अपीलार्थी की अपील खारिज कर दी है । अपीलार्थी को डगलस लार्न कैम्पवेल की हत्या के लिए दोषसिद्ध करके मृत्युदण्ड दिया गया था । हत्या एक चीनी युद्ध पोत (मेरीटाइम कस्टम्म, क्रूजर) "च्युंग केंग" के बोर्ड पर उस समय की गई थी जबकि वह पोत हांगकांग के राज्यक्षेत्रीय जल में था । मारा गया व्यक्ति और अपीलार्थी दोनों उस पोत के अधिकारी और कर्मीदल के सदस्य के रूप में चीनी सरकार की सेवा में थे । मृतक कप्तान था और अपीलार्थी एक केबिन ब्वाय था । दोनों ब्रिटिश राष्ट्रिक थे । विचारण में, यह तर्क किया गया कि कार्य विदेशी सरकार के एक सशस्त्र सरकारी पोत पर किया जाने के कारण ब्रिटिश न्यायालय को इस संबंध में कोई अधिकारिता नहीं है । यह दलील विचारण में मुख्य न्यायमूर्ति ने अमान्य कर दी । अपील किए जाने पर उस विनिश्चय की पुष्टि सम्पूर्ण न्यायालय में कर दी गई जिसमें वही अध्यक्ष थे ।

2. विधिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि तात्विक तथ्यों को संक्षिप्त बनाया जाए । 11 जनवरी, 1937 को अभियुक्त

ने कप्तान पर गोली चलाकर उसे मार डाला । तत्पश्चात् वह सीढ़ी चढ़कर ब्रिज पर गया और वहां उसने कार्यकारी मुख्य अधिकारी पर गोली चलाकर उसने स्वयं को घायल कर लिया । कार्यकारी मुख्य अधिकारी ने घायल होते ही मुख्य कर्मी (बोट्सवेल) को निदेश दिया कि पूरी गति से हांगकांग की ओर बढ़े और पुलिस नौका को बुलाए । उसका कहना था कि वह अभियुक्त को गिरफ्तार करने में हांगकांग पुलिस की एक नौका दो घंटे के भीतर पोत के पास आ गई । पुलिस घायल अधिकारी और अभियुक्त को अस्पताल ले गई । उसने वे दो रिवाल्वर अपने कब्जे में ले लिए जो अभियुक्त के पास थे । साथ ही उसने रिवाल्वरों से चली गोलियां, उनके खाली कारतूस और बिना चले कारतूस अपने कब्जे में ले लिए । 25 फरवरी को क्वांगतुग की प्रांतीय सरकार ने अध्यक्ष की अध्यपेक्षा पर अभियुक्त के विरुद्ध प्रत्यर्पण की कार्यवाही प्रारंभ की गई । उक्त अध्यपेक्षा में कहा गया था कि चीनी युद्धपोत पर हत्या तथा हत्या का प्रयत्न चीन की अधिकारिता में उस समय किया गया जब कि उक्त पोत फूटामन (ब्रिटिश जल) से लगभग एक मील दूर था । इससे यह कथन प्रतीत होता है तब तक पोत ब्रिटिश राज्यक्षेत्रीय जल में नहीं पहुंचा था । अब यह तथ्य विवादित नहीं है कि अपराध वस्तुतः ब्रिटिश जल में किया गया । अनेक स्थगनों के बाद, मजिस्ट्रेट ने अभियुक्त की ओर से दिए गए साक्ष्य के आधार पर विनिश्चय किया कि अभियुक्त एक ब्रिटिश राष्ट्रिक है, अतः कार्यवाही असफल हो गई । अभियुक्त को तुरंत पुनः गिरफ्तार करके उस पर आरोप लगाया गया कि उसने इस कालोनी के जल में हत्या की है और उसे सम्यक्तः विचारण न्यायालय के सुपुर्द किया गया । मजिस्ट्रेट के समक्ष सुनवाई में और विचारण के दौरान, कार्यकारी मुख्य अधिकारी तथा चीनी पोत के कर्मीदल के तीन सदस्यों को अभियोजन की ओर से साक्षियों के रूप में बुलाया गया । पुलिस साक्षियों को पेश किया गया और उन्होंने रिवाल्वरों, खाली कारतूसों और गोलियों के बारे में साक्ष्य दिया । जैसाकि पहले बताया गया, अभियुक्त को दोषी ठहराकर मृत्युदण्ड दिया गया ।

3. अधिकारिता के प्रश्न पर, अंतर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धांतों का ज्ञान रखने का दावा करने वाले व्यक्तियों ने दो सिद्धांतों का पालन किया है । एक तो यह कि किसी राष्ट्र का सरकारी पोत सभी प्रयोजनों के लिए उस राष्ट्र के राज्यक्षेत्र का भाग है या अन्य राष्ट्रों द्वारा माना जाता है । इस धारणा से किसी देश की अपनी विधि भी मार्गदर्शित होगी, जिसके राज्यक्षेत्रीय जल में पोत हो । अतः वहां किसी ऐसे न्यायालय को वस्तुतः अधिकारिता नहीं होगी, जहां जिसकी अधिकारिता प्रश्नगत कार्य या किसी

स्थानीय राज्यक्षेत्र में किए जाने पर या कार्यवाही के पक्षकार या निवासी के किसी स्थानीय राज्यक्षेत्र में पाए जाने पर निर्भर हो । दूसरा सिद्धांत यह है कि विदेशी जल में सरकारी पोत अपने राष्ट्र का राज्यक्षेत्र नहीं माना जाता । देश के न्यायालय, अंतर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार, पोत को, उसके कर्मीदल को तथा उसकी सामग्री को कुछ उन्मुक्तियां प्रदान करते हैं, जिनमें से कुछ सुव्यवस्थित हैं और दूसरों के विषय में विवाद है । इस दृष्टि से उन्मुक्ति वस्तुनिष्ठ राज्यक्षेत्रातीतता पर निर्भर नहीं करती बल्कि देशीय विधि की विवक्षा पर निर्भर करती है । वह सशर्त होती है और किसी भी दशा में उस सरकारी पोत के राष्ट्र द्वारा अधित्यक्त की जा सकती है ।

4. इसमें संदेह नहीं है उत्तरोक्त ही सही निष्कर्ष है । उससे राष्ट्रों के अंतर्राष्ट्रीय विधि गठित करने वाले करार अधिक सही और तर्कसंगत तौर पर प्रकट होते हैं और वही इस सर्वोपरि आवश्यकता से संगत है जो सामान्य शब्दों में प्रत्येक राष्ट्र के लिए व्यक्त की जाती है कि वह आंतरिक अव्यवस्था से अपनी रक्षा अपनी सीमा के भीतर अपराधियों का विचारण करके और उन्हें दण्डित करके करे । यह सदैव स्मरणीय है कि किसी भी दशा में, जहां तक इस देश के न्यायालयों का संबंध है, अंतर्राष्ट्रीय विधि तब के सिवाय, मान्य नहीं होती जबकि उसके सिद्धांत हमारे अपने देश की विधि द्वारा माने जा कर अंगीकार किए गए हों । कोई वाह्य शक्ति नहीं है जो हमारी तत्वीय या प्रक्रियात्मक विधि संहिता पर अपने नियम अधिरोपित करे । न्यायालय उन नियमों के अस्तित्व को मानते हैं जो राष्ट्रों ने परस्पर अभिस्वीकार किए हैं । किसी भी न्यायिक मुद्दे पर वे यह अभिनिश्चित करने का प्रयत्न करते हैं कि सुसंगत नियम क्या है और उसका पता लगाकर उसे देशी विधि का भाग वहीं तक मानेंगे जहां तक वह उन नियमों से असंगत न हो जो कि कानूनों द्वारा अधिनियमित किए गए हैं या अपने अधिकरणों द्वारा अंतिम रूप से घोषित किए गए हैं । फिर, दूसरे राष्ट्रों के सरकारी पोतों की वे उन्मुक्तियां क्या हैं जो हमारे न्यायालयों द्वारा मानी गई हैं और वे किस सिद्धांत पर आधारित हैं ?

5. इस सिद्धांत की व्याख्या उस महान् न्यायशास्त्री मुख्य न्यायमूर्ति मार्शल ने **दि एक्सचेंज के मामले**[1] में अपने निर्णय में की जिस निर्णय से सारे संसार का न्यायशास्त्र प्रकाशित हुआ है :–

"न्यायालय की अधिकारिता उस शक्ति की एक शाखा है जो

---

[1] (1812) 7 क्रैंच 116.

किसी राष्ट्र को स्वतंत्र प्रभुसत्ता के रूप में प्राप्त होती है । राष्ट्र की अपने ही राज्यक्षेत्र में अधिकारिता अनिवार्यतः अनन्य और आत्यंतिक होती है । वह ऐसी किसी सीमा के अधीन नहीं होती जो उसने स्वयं नहीं लगाई हो .... अतः किसी राष्ट्र की अपने राज्यक्षेत्रों में संपूर्ण अधिकार के सभी अपवाद उस राष्ट्र की सम्मति पर आधारित होने चाहिएं । उनका कोई भी अन्य विधिसम्मत स्रोत नहीं हो सकता । यह सम्मति अभिव्यक्त या विवक्षित हो सकती है । उत्तरोक्त दशा में, यह कम निश्चित होती है और उसमें निर्वचन की अनिश्चितता अधिक रहती है, किंतु समझ में आ जाने पर वह कम आबद्धकर नहीं होती । यह सृष्टि अलग-अलग प्रभुसत्ताओं से बनी है जिनके समान अधिकार हैं और जो समान स्वतंत्रता सम्पन्न हैं, उनके पारस्परिक हित की अभिवृद्धि एक-दूसरे से समागम से होती है और उन सद्भावनाओं के आदान-प्रदान से जो मानवता प्रेरित होती हैं और जिनकी आवश्यकता होती है । अतः सभी प्रभुसत्ताओं ने व्यवहार में कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में कुछ मामलों में अपने-अपने राज्यक्षेत्र में आत्यांतिक और संपूर्ण अधिकारिता के शिथिलीकरण की सम्मति दी है जो प्रभुता से प्राप्त होती है । प्रभुसत्ताओं की इस सम्पूर्ण समानता और आत्यांतिक स्वतंत्रता ने और उनके हित की समानता ने, जिससे वे परस्पर समागम को और एक-दूसरे के प्रति सद्भाव रखने को प्रेरित होती हैं ; कुछ वर्गों के मामलों को जन्म दिया है जिनमें प्रत्येक प्रभुसत्ता के बारे में समझा जाता है कि उसने उस समय पूर्ण और अनन्य राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के एक भाग के प्रयोग को अधित्यक्त कर दिया है जो प्रत्येक राष्ट्र का लक्षण बताई गई है ।"

6. फिर मुख्य न्यायमूर्ति उन मामलों के वर्गों के उदाहरण देते हैं जिनका उन्होंने उल्लेख किया है । पहला उदाहरण वे लेते हैं विदेशी राज्यक्षेत्र में प्रभु के शरीर की गिरफ्तारी और निरोध से उन्मुक्ति । पहले वाले सिद्धांत पर ही आधारित दूसरा उदाहरण है उस उन्मुक्ति का जो सभी सभ्य राज्यों ने विदेशी मंत्रियों को अनुज्ञात की है :—

"यह उन्मुक्ति चाहे जिस सिद्धांत पर आधारित हो, चाहे हम यह विचार करें कि वह उस प्रभु के स्थान पर है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है या राजनैतिक कल्पना के आधार पर यह मानें कि वह राज्य क्षेत्रातीत है अतः, विधि की दृष्टि से उस प्रभुसत्ता की अधिकारिता में नहीं है जिसके न्यायालय के क्षेत्र में वह निवास करता है ; फिर भी,

> जहां तक उन्मुक्ति का संबंध है, वह उस राष्ट्र की शासनसत्ता द्वारा प्रदत्त की जाती है जिसमें वह मंत्री प्रतिनियुक्त किया जाए । राज्यक्षेत्रातीत होने की यह कल्पना उस राज्यक्षेत्र की प्रभुसत्ता की इच्छा के विरुद्ध स्थापित या समर्थित नहीं हो सकती । यह माना जाता है कि उसने उसकी अनुमति दी ।"

7. निर्णय में तीसरा उदाहरण वह दिया गया जिसमें कि किसी प्रभुसत्ता के बारे में समझा जाता है कि उसने अपनी राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता का एक भाग अध्यर्पित कर दिया है, अर्थात् जहां कि वह विदेशी सेवा को अपने क्षेत्र से होकर निकलने की अनुमति देती है । मुख्य न्यायमूर्ति यह अधिकथित करते हैं :–

> "उन्मुक्त मार्ग प्रदत्त करने में उस यात्रा के दौरान उस सेना पर समग्र अधिकारिता का अधित्याग विवक्षित है और वह विदेशी जनरल को अनुमति देता है कि वह उस अनुशासन का प्रयोग करे और वह दंड दे जो उसकी सेना के शासन के लिए अपेक्षित हो ।"

8. वे बताते हैं कि सशस्त्र बलों के विषय में विदेशी राज्यक्षेत्र में प्रवेश की अभिव्यक्त अनुमति की उपधारणा नहीं की जाएगी, किंतु मित्र राष्ट्र के प्राइवेट और पब्लिक यानों की उनसे भिन्न स्थिति होती है । उनके बारे में यह विवक्षित होता है कि उन्हें अपने पड़ोसियों के पत्तनों में प्रवेश करने की अनुज्ञा है, सिवाय उस दशा के जबकि वह अनुज्ञा अभिव्यक्त रूप से वापस ले ली जाए । विदेशी जल में प्राइवेट यान राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के अधीन होते हैं :–

> "किंतु सरकारी सशस्त्र पोत की स्थिति सभी बाबतों में भिन्न होती है । वह अपने राष्ट्र के सैन्य बल का एक भाग बनी रहती है ; वह अपने प्रभु के सीधे और प्रत्यक्ष समादेश के अधीन कार्य करता है, तथा प्रभु उसका उपयोग राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए करता है । उसके पास अनेक सबल हेतु होते हैं कि इन उद्देश्यों को विदेशी राज्य के हस्तक्षेप द्वारा निष्फल न किया जाए । ऐसा हस्तक्षेप उसकी शक्ति और गरिमा को प्रभावित किए बिना नहीं किया जा सकता । अतः, जिस विवक्षित अनुज्ञा के अधीन ऐसा जलयान मित्र राष्ट्र के पत्तन में प्रवेश करता है उसका भाव उचित रूप से समझा जाना चाहिए और न्यायालय को यह प्रतीत होता है कि उससे यह समझा जाना चाहिए कि वह उस प्रभु की अधिकारिता के बाहर है जिसके राज्यक्षेत्र में वह

आतिथ्य के अधिकार का दावा करता है । अतः, इस न्यायालय को यह पब्लिक विधि का सिद्धांत प्रतीत होता है कि जब कोई राष्ट्रीय युद्धपोत मित्र राष्ट्र के पत्तन में, जो उनके स्वागत के लिए खुला है, प्रवेश करे तो यह माना जाना चाहिए कि वे उस राष्ट्र की सम्मति से उसकी अधिकारिता से छूट प्राप्त हैं ।"

9. यह निष्कर्ष उन सिद्धांतों पर आधारित है जो उन उद्धरणों में प्रतिपादित किए गए जिनका संक्षेप मुख्य न्यायमूर्ति ने रिपोर्ट के पृष्ठ 143 पर किया है :–

"पूर्वोक्त तर्क ने इस प्रतिपादना का समर्थन किया कि राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता से सभी छूटें उस राज्यक्षेत्र के प्रभु की सम्मति से व्युत्पन्न होनी चाहिए । यह सम्मति अभिव्यक्त हो सकती है या विवक्षित, और जब वह विवक्षित हो तो उसकी सीमा मामले की प्रकृति से विनियमित होनी चाहिए और उन दृष्टिकोणों से भी जिनसे कि सम्मति चाहने और देने वाले पक्षकार कार्य करते माने जाएंगे ।"

10. फिर, निर्णय में कथित सिद्धांत उस न्यायालय के समक्ष के मामले को लागू करके उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया कि "दि एक्सचेंज" पोत की फ्रांसीसियों ने पकड़ा था और जो मौसम के दबाव के कारण फिलेडेल्फिया के पत्तन में प्रवेश कर गया उसके पूर्व स्वामियों को जलयान वापस लेने की डिक्री नहीं मिलेगी । वह फ्रांसीसी सम्राट् का सशस्त्र सरकारी जलयान माना जाना चाहिए, जिसके हक का खंडन अमरीकी न्यायालय में नहीं किया जा सकता ।

11. राज्यक्षेत्रातीतता को चरम सिद्धांत उपर्युक्त[1] में प्रश्नगत नहीं था और न ही मुख्य न्यायमूर्ति मार्शल द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों या उनके द्वारा उनके लागू किए जाने से उसे समर्थन मिलता है । हमारे देश में यह प्रश्न 1875 में तीव्र रूप से उन अनुदेशों के संबंध में उठा जो नावाधिकरण से हर मैजेस्टी के पोतों के कमाण्डरों को भगोड़े दासों के प्रति व्यवहार के संबंध में थे । उन पर सर विलियम वरनान हारकोर्ट ने आपत्ति की, जो तब केम्ब्रिज में अंतर्राष्ट्रीय विधि के व्हैवेल प्रोफेसर थे और आक्सफोर्ड के लिबरल संसद सदस्य थे । उन्होंने "हिस्टोरिक्स" शीर्षक से टाइम्स को दो पत्र लिखे । उन्होंने 4 नवम्बर 1875 को लिखा :–

[1] [1812] 7 क्रेन्च 116.

> "हमें यह देखकर अत्यंत आश्चर्य हुआ कि राज्यक्षेत्रीय जल में स्थित सरकारी पोतों को और उन पर के सभी व्यक्तियों और वस्तुओं को स्थानीय अधिकारिता तथा स्थानीय विधि के प्रवर्तन से पूर्ण उन्मुक्ति का सिद्धांत .... संदिग्ध प्रस्ताव माना गया । मेरी निश्चित रूप से धारणा थी कि संपूर्ण पब्लिक विधि में ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है जो प्रमाण ग्रन्थों द्वारा इससे अधिक स्थायी रूप से स्थापित हो, सर्वत्र सरकारों द्वारा इससे अधिक स्वीकृत हो या जो राज्यों के परस्पर व्यवहार में अधिक पूर्णता से निर्विवाद माना गया हो ।"

12. सरकार ने एक रायल कमीशन की नियुक्ति की जो भगोड़े दासों के ग्रहण के संबंध में संपूर्ण प्रश्न पर रिपोर्ट दे । उसमें इन जैसे प्रतिष्ठित विधिवेत्ता थे – मुख्य न्यायमूर्ति सर अलेक्जेंडर काकबर्न, सर रावर्ट फिलिमोर, श्री माटेग्यू बरनार्ड, न्यायमूर्ति आर्किवाल्ड, नाइट कमाण्डर श्री अल्फ्रेड थेसिजर, सर हेनरी मेन, नाइट कमाण्डर श्री जैम्स फिट्जजेम्स स्टीफन और एडमिरेल्टी के रजिस्ट्रार श्री हेनरी सी. रोथरी । विधिवेत्ता अंतरराष्ट्रीय विधि के सिद्धांत के विषय में एकमत नहीं हुए और आयोग ने अपनी रिपोर्ट उस विषय में कोई निश्चित राय व्यक्त किए बिना दे दी । किंतु, विधिवेत्ताओं ने अपने ज्ञापन लिखे, जो रिपोर्ट से उपाबद्ध किए गए । सर रावर्ट फिलिमोर, श्री बर्नार्ड और सर हेनरी मेन अधिक चरम सिद्धांत का समर्थन करते प्रतीत हुए, किंतु उन्होंने यह स्वीकार किया कि उसको विशेषित होना चाहिए । सर अलेग्जेंडर काकबर्न का ज्ञापन मुख्य न्यायमूर्ति मार्शल के निर्णय से तुलनीय है । उन्होंने सरकारी युद्धपोत की राज्यक्षेत्रातीतता के संपूर्ण प्रश्न की चर्चा 1740 से प्रारंभ करके विभिन्न प्रमाणों का हवाला देते हुए और सरकारी कार्रवाई के उदाहरण देते हुए की । वे इनके उद्धारण देते हैं – कसारेगिस (1740), "डिस्कर्सस डी कमर्शियो" हबनर – (1759), "द ला सैसी दे वातिमा न्यूत्र", लेम्प्रेदी, पिनहैरियों फेरीरा, एजुएरी ब्राउन के मामले में ब्रिटिश सरकार को 1820 में लार्ड स्टोवेल द्वारा दी गई सलाह व्हीटन, होतफोव्य, "दे दवा ए दे दव्वार दे नासियाँ न्यूत्र", आर्तोलन, "दिप्लोभाती द ला मैर फोव्य", ब्लंटशली हैफ्टर तथा काल्वो । उनकी दृष्टि में उनमें से हबनर होता, आर्तोलन और काल्वों राज्यक्षेत्रातीतता के उच्च सिद्धांत का समर्थन करते हैं, कसारेगिस और व्हीटन कोई निश्चित मत व्यक्त नहीं करते, तथा अन्य उक्त सिद्धांत के विरुद्ध हैं । उन मतों का खंडन करने के पश्चात् जो संपूर्ण राज्यक्षेत्रातीतता का समर्थन करते हैं तथा वे कठिनाइयां और वास्तविक विडम्बनाएं बताने

के पश्चात, जो उक्त सिद्धांत से उत्पन्न होंगी, वे कहते हैं :—

> "हमारे विचार से तर्क और सद्बुद्धि से जो नियम प्रकट होगा वह यह होगा कि विदेशी पोत पर अनुशासन और उस पोत पर उसके कर्मीदल द्वारा परस्पर किए गए अपराधों के विषय में मामला पूर्णतः उस पोत की विधि पर छोड़ा जाना चाहिए और यदि अपराधी भागकर किनारे आ जाए और पकड़ा जाए तो उसे पोत के समादेशक की मांग पर उसे दे देना चाहिए तथा उसका किनारे पर विचारण तभी किया जाना चाहिए जब उक्त प्रकार की मांग न की जाए । किंतु यदि किसी पोत पर अपराध किसी स्थानीय प्रजा के विरुद्ध किया जाए अथवा यदि किनारे पर अपराध करने के बाद अपराधी विदेशी पोत पर चला जाए तो वह स्थानीय प्राधिकारियों को दे दिया जाना चाहिए । अंतरराष्ट्रीय विधि के इस महत्वपूर्ण सिद्धांत पर नियम कुछ भी निश्चित किया जाए, उसे वर्तमान अनिश्चितता की स्थिति में नहीं रहने देना चाहिए ।"

13. इस पैरा में जो हांगकांग के पूर्ण न्यायालय के अनुमोदन से प्रस्तुत मामले में उद्धृत किया, यह संप्रेक्षण किया जाना चाहिए कि लार्ड चीफ जस्टिस यह मान लेते हैं कि यदि पोत पर अपराध कर्मीदल के एक सदस्य द्वारा दूसरे सदस्य के विरुद्ध किया जाए और यदि अपराधी बचकर किनारे चला जाए और उसकी वापसी की कोई मांग न की जाए तो उस राज्यक्षेत्रीय न्यायालय को अधिकारिता होगी । हमें इसमें संदेह है कि जब उन्होंने स्थानीय प्रजा द्वारा पोत पर किए गए अपराध की चर्चा की तो उनके मस्तिष्क में यह संभावना थी कि वह स्थानीय प्रजा भी कर्मीदल की सदस्य हो सकती है और जब वे यह कहते हैं कि अमुक मामलों में अपराधी स्थानीय प्राधिकारियों को दे दिया जाए तो वे यह नहीं कहते कि यदि अर्पित करने से इंकार कर दिया जाए तो क्या स्थानीय प्राधिकारी अपराधी की अभिरक्षा प्राप्त करने के लिए विदेशी पोत के कप्तान को न्यायिक आदेशिका भेज सकेगा । सर आलेक्जेण्डर काकवर्न के ज्ञापन से न्यायमूर्ति आर्किवाल्र्ड सहमत हुए । श्री स्टीफन ने उसी आशय का ज्ञापन अपनी तीक्ष्ण स्टीफनी शैली में लिखा । श्री रोथरी ने "हिस्टोरिकस" के सिद्धांतवादी कथन का तथा उनके द्वारा उद्धृत प्रमाणों का कठोर विश्लेषण किया, जैसा कि एक व्हेवैल प्रोफेसर के निष्कर्षों के संबंध में कभी हो सकता है । उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त हाल के इस मामले में सुप्रीम कोर्ट के निर्णय में उद्धृत अंशों का भी हवाला दिया जाना चाहिए — आठवां

संस्करण, 1924 प्रा. पियर्स हिगिनस द्वारा संपादित पैरा 55 । उसमें लेखक कहते हैं कि सरकारी जलयान राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के बाहर होता है किंतु उसके कर्मीदल और उस पर सवार व्यक्ति उस देश की विधि की उपेक्षा नहीं कर सकते जिसमें वह उस समय है, जैसे वह एक राज्यक्षेत्र के भीतर दूसरे राज्य का हिस्सा हो । उनकी बाध्यता के अपवाद उन कार्यों के मामले में होता है जो पोत पर प्रारंभ होकर पोत पर ही समाप्त हो जाएं और उनका वाह्य विषयों पर किसी प्रकार प्रभाव नहीं पड़े, और जो पोत की अर्थव्यवस्था अथवा पोत पर के व्यक्तियों के परस्पर संबंध से अनन्यतः संबद्ध हैं । लेखक ने एक टिप्पण जोड़ा है :–

> "किसी युद्धपोत पर ऐसा मामला बहुत विरला होगा कि उस राज्य के नागरिक द्वारा जिसमें पोत उस समय है अपने देश के दूसरे नागरिक के विरुद्ध कोई अपराध किया जाए । ऐसा मामला निस्संदेह इसका अपवाद होगा । कप्तान का कर्तव्य होगा कि अपराधी को अभ्यर्पित करे ।"

14. अन्य पैरा "ओपिनहायम", पंचम संस्करण, 1937 लाटरपेट द्वारा संपादित खंड 1 का पैरा 450 है । लेखक संपूर्ण राज्यक्षेत्रातीतता का दृष्टिकोण अपनाते हैं ।

> "विदेशी समुद्र में युद्धपोतों की स्थिति इस तथ्य द्वारा चरित्र चित्रित है कि वे उस राज्य के तैरते हुए भाग होते हैं जिसका झंडा उन पर लगा रहता है । इस समय अंतरराष्ट्रीय विधि का एक सर्वमान्य रूढ़िजन्य नियम है कि जिस राज्य का उस समुद्र पर स्वामित्व हो जिसमें विदेशी युद्धपोत प्रवेश करते हैं उसे उनके प्रति हर विषय में इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए कि मानो वे अपने झंड़े वाले राज्य के तैरते हुए टुकडे हों ।"

किंतु जब वे पैरा 389 में राजनयिकों के सदृश उन्मुक्ति की चर्चा करते हैं तो कहते हैं कि :–

> "इस मामले और प्रत्येक अन्य मामले में राज्यक्षेत्रातीतता केवल एक कल्पना होती है क्योंकि राजनयिक वस्तुतः इस राज्य के राज्यक्षेत्र के बाहर न होकर उसके भीतर होते हैं जहां वे जाते हैं ।"

15. इसमें एक टिप्पण जुड़ा हुआ है कि लेखकों की आधुनिक प्रवृत्ति राज्यक्षेत्रातीतता की कल्पना को अमान्य करने की ओर है । यह टिप्पण द्वितीय संस्करण में नहीं है जो लेखक द्वारा तैयार किए गए अंतिम संस्करण

में है, और पहली बार प्रो. मेकनायर द्वारा सम्पादित चतुर्थ संस्करण में है ।

16. हमें श्री ओपिनहायम के शब्दों में व्यक्त राज्यक्षेत्रातीतता के सिद्धांत को अस्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि वह पोत उस राज्य का तैरता हुआ टुकड़ा है जिसका झंडा उस पर लगा हुआ है । फिर भी राज्यक्षेत्रातीतता का सिद्धांत व्यक्त किया जाए, तो वह एक कल्पना है और विधिक कल्पनाओं की प्रवृत्ति अपनी नियत सीमाओं के आगे बढ़ जाने की होती है और वे खतरनाक तथ्यों का रूप ग्रहण कर लेती हैं । सत्य तो यह है कि तैरते हुए द्वीप के सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले उन बिल्कुल प्रत्यक्ष संभाव्यताओं का सामना करने में असफल रहे हैं जिससे कि वह सिद्धांत पोत पर के और किनारे पर के जीवन की वास्तविकताओं की दृष्टि से परखने पर बिल्कुल अव्यावहारिक हो जाता है । पोत के कर्मीदल के सदस्यों के पोत पर एक-दूसरे के प्रति व्यवहार के संबंध में अवश्य उन्मुक्तियां प्रदान की जा सकती हैं । यदि कर्मीदल का सदस्य पोत पर दूसरे कर्मी पर हमला करे तो इससे सार्वभौमिक रूप से सहमत होंगे कि स्थानीय न्यायालय अपनी अधिकारिता काक प्रयोग करने का प्रयत्न नहीं करेंगे, बल्कि वे उससे इंकार करेंगे, सिवाय उस दशा के जब कि पोत वाले राष्ट्र के सक्षम प्राधिकारी उनसे उस अधिकारिता के प्रयोग का अनुरोध करें । किंतु यदि उस राज्य का निवासी जिसमें वह सरकारी पोत आया है और उस पोत पर जाकर वहां चोरी करने के बाद किनारे पर लौट आए तो क्या यह कल्पनीय है कि जब उसे किनारे पर गिरफ्तार किया गया और किनारे के साक्षी चुराए गए माल के प्रति व्यवहार साबित करने और अपराधी को पहचानने के लिए आवश्यक हों तब भी स्थानीय न्यायालय को अधिकारिता नहीं होगी ? सरकारी पोत के कप्तान को क्या करना चाहिए ? क्या वह दावा कर सकता है कि स्थानीय राष्ट्रिक उसे अभ्यर्पित किया जाए ? उसका न तो साक्षियों पर कोई दावा होगा और न वह उन्हें परिसाक्ष्य देने के लिए पहले से या अन्यथा विवश कर सकेगा । वह स्वभावतः मामला स्थानीय न्यायालयों के लिए छोड़ देगा । किंतु इस परिकल्पना पर कि अपराध विदेशी राज्यक्षेत्र के एक भाग पर किया गया स्थानीय न्यायालय को अधिकारिता नहीं होगी और इस प्रकार से यह कल्पना अपराधी को अविचारित और अविचारणीय कहकर छोड़ देगी । क्योंकि यह बहुमान्य बात है कि कोई विदेशी राज्य सम्मति के आधार पर राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता प्रदान नहीं कर सकता । उसी प्रकार से किसी दूतावास के सदृश मामले में भी ऐसा ही है । क्या यह संभव है कि अंतरराष्ट्रीय विधि के सिद्धांत इतने अनम्य हों कि जो स्थानीय चोर विदेशी दूतावास में अतिचार करके घुसा

और अपना अपराध पूरा करने के बाद स्वयं अपने देश में गिरफ्तार किया गया उसका विचारण उस देश के न्यायालय नहीं कर सकते । इस प्रतिपादना की परख के लिए यह मानना केवल आवश्यक है कि दूसरे राज्य ने स्थानीय न्यायालय की अधिकारिता के लिए सम्मति दे दी है । फिर भी वस्तुनिष्ठ राज्यक्षेत्रातीतता उपर्युक्त कारणों से किसी भी दशा में हमारे न्यायालय को ऐसे मामले में अधिकारिता से वंचित कर देगी । ऐसी किसी सिद्धांत का परिणाम विदेशी प्रभु की शक्ति और गरिमा बढ़ाने का न होकर उनहें घटाने का होगा क्योंकि उसके सरकारी पोतों और दूतावासों में पहुंचाई गई क्षति अदण्डित रह जाएगी ।

17. इस विषय में हम प्रोफेसर ब्रियरले द्वारा दि लॉ ऑफ नेशंस (1928) पृष्ठ 110 पर व्यक्त टिप्पणियों से सहमत हैं :–

> "'राज्यक्षेत्रातीतता' शब्द का प्रयोग प्रायः ऐसे व्यक्ति या वस्तु की प्रास्थिति का वर्णन करने के लिए होता है जो वस्तुतः राज्य के राज्यक्षेत्र में होते हुए भी अंतरराष्ट्रीय विधि के नियम के कारण उस राज्य की अधिकारिता से संपूर्णतः या अंशतः निकल जाती है ; किंतु अनेक कारणों से यह पद आपत्तिजनक है । वह उस व्यक्ति या वस्तु के लिए एक कल्पना का समावेश करता है जो वस्तुतः राज्यक्षेत्र के भीतर है, न कि बाहर । उसमें यह विवक्षा है कि अधिकारिता और राज्यक्षेत्र सदैव समवर्ती होते हैं, जबकि ऐसा प्रायः ही होता है और यह भ्रामक भी है क्योंकि हम यह भूल जाते हैं कि यह केवल एक रूपक है और हम उससे असत्य विधिक परिणाम निकालते हैं जैसे कि वह शब्दशः सत्य हो । अधिक से अधिक उससे इससे अधिक कुछ अभिप्रेत नहीं होता है कि उस वस्तु को स्थानीय अधिकारिता से कुछ उन्मुक्ति प्राप्त है । उससे इस एकमात्र महत्वपूर्ण प्रश्न के अवधारण में हमें कोई सहायता नहीं मिली कि यह उन्मुक्ति कहां तक है ।"

18. सही दृष्टिकोण यह है कि अंतरराष्ट्रीय विधि की परिपाटियों के अनुसार, राज्यक्षेत्रीय प्रभु विदेशी प्रभुओं और उनके दूतों तथा सरकारी पोतों और उन पोतों द्वारा ले जाए जा रहे नौसैनिकों को कुछ उन्मुक्तियां प्रदान करता है । इनमें कुछ सुनिश्चित हैं तथा अन्य अनिश्चित हैं । जब स्थानीय न्यायालय के समक्ष ऐसी उन्मुक्ति का प्रश्न आता है तो उसे विनिश्चय करना होता है कि इस विशिष्ट मामले में उन्मुक्ति है या नहीं । यदि यह स्पष्ट है तो न्यायालय स्वप्रेरणा से उसे प्रभावी करेगा । स्वयं प्रभु, उसका दूत और उसकी सम्पत्ति, जिसमें उसके सरकारी सशस्त्र पोत भी हैं,

विधिक आदेशिका के अधीन नहीं किए जाने हैं । ये उन्मुक्तियां सुस्थापित हैं । प्रस्तुत विवाद के विशिष्ट विषय अर्थात् युद्धपोत के कर्मीदल के संबंध में यह स्पष्ट है कि उन्मुक्तियां कर्मीदल के आंतरिक विवादों को विस्तारित होती हैं । पोत के कर्मीदल के एक सदस्य द्वारा दूसरे सदस्य के विरुद्ध किए गए अपराध के विषय में, स्थानीय न्यायालय अधिकारिता का प्रयोग नहीं करेंगे । विदेशी प्रभु से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपने जलयान बाहर भेजेगा यदि उसके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किया जाए और उसके कर्मीदल के सदस्यों को स्थानीय अधिकारिता का प्रयोग करके उसकी सेवा से हटा लिया जाए । इस पर विचार करना आवश्यक नहीं है कि इन उन्मुक्तियों की ठीक-ठीक सीमा क्या है । विदेशी कर्मीदल के उन सदस्यों पर जो भूमि पर आकर अपराध करें अधिकारिता के प्रयोग के प्रश्न उठे हैं । हमारे लिए इन पर विचार करना आवश्यक नहीं है । प्रस्तुत मामले में प्रश्न है कर्मीदल के एक सदस्य द्वारा एक अधिकारी की हत्या और दूसरे की हत्या के प्रयत्न का । यदि और कुछ न होता तो चीनी सरकार को इस अपराध पर स्पष्ट अधिकारिता होती, और यद्यपि अपराधी मानवता के कारण स्थानीय अस्पताल ले जाया गया, उसके अभ्यर्पण का राजनयिक अनुरोध यथाविधि प्रतीत होता । यह समझ पाना कठिन है कि जब दोनों कर्मीदल के सदस्य हैं तो इससे क्यों अंतर पड़े कि पीड़ित व्यक्ति या अपराधी या दोनों स्थानीय राष्ट्रिक हैं । किंतु ऐसा अनुरोध कभी नहीं किया गया । एकमात्र अनुरोध प्रत्यर्पण के लिए था जो संधि और कानूनी अधिकारों पर आधारित होता है और इन परिस्थितियों में, उनका असफल होना अनिवार्य था । किंतु जिन सिद्धांतों की हमने चर्चा की है यदि वे मान लिए जाएं तो जो उन्मुक्तियां स्थानीय न्यायालय मानते हैं वे स्थानीय प्रभु के अपनी पूर्ण राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के अधित्यजन से उत्पन्न होती हैं और स्वयं उन्हें भी अधित्यक्त किया जा सकता है । ऐसे अधित्यजन के प्रबलतम उदाहरण बहुधा होते हैं और वे वहां जहां कि कोई प्रभु अपने सम्पत्ति के अधिकारों के विषय में विदेशी न्यायालय की अधिकारिता के प्रति समर्पण कर दे । यहां यह कहने का कोई प्रश्न नहीं है कि हमारे राज्यक्षेत्र में किए गए अपराध को आप अपने राज्यक्षेत्र में किया गया मान सकते हैं । किसी विदेशी प्रभु द्वारा किया गया ऐसा कथन हमारे न्याय-शास्त्र में व्यर्थ होगा । किंतु कोई प्रभु कह सकता है कि आप ने अपनी अधिकारिता कुछ मामलों में अधित्यक्त कर दी हैं ; किंतु हमें यह पसंद है कि प्रस्तुत मामले में आप उसका प्रयोग करें । ऐसे मामले में मूल अधिकारिता पुनः निःसृत होने लगती है ।

19. इन बातों को प्रस्तुत मामले में लागू करने पर हमें यह पूर्णतः स्पष्ट प्रतीत होता है कि जब एक बार प्रत्यर्पण की कार्यवाही समाप्त हो गई तो चीनी सरकार ने इस बात की सहमति दे दी कि ब्रिटिश न्यायालय अधिकारिता का प्रयोग करे । केवल यही नहीं है कि कार्यवाही की पूरी जानकारी रखते हुए भी उन्होंने और दावा नहीं किया, बल्कि दो अलग-अलग तारीखों को उन्होंने अपनी सेवा के चार सदस्यों को अनुज्ञा दी कि अभियोजन के समर्थन में ब्रिटिश न्यायालय में साक्ष्य दें । मूलतः उन्होंने ही पुलिस बुलाई थी । यह उस दशा में महत्वपूर्ण नहीं भी हो सकता था जब वे विचार करके यह विनिश्चय करते कि स्वयं अधिकारिता का दावा करें । किंतु बताई गई सभी परिस्थितियों, इस तथ्य के साथ कि दोषसिद्धि के महत्वपूर्ण उपकरण रिवाल्वर, गोलियां आदि बिना किसी आपत्ति के हांगकांग पुलिस के पास छोड़ दी गईं, स्पष्ट करती हैं कि ब्रिटिश न्यायालय ने चीनी सरकार की पूर्ण सम्मति से कार्य किया । अतः, निष्कर्ष यही निकलता है कि अधिकारिता पर आपत्ति विधिमान्य नहीं थी और अपील असफल होती है। क्राउन की ओर से एक और प्रश्न तियंतसिन की 1858 की संधि के संभव प्रभाव का उठाया गया, जिसके द्वारा चीन ने वहां अपराध करने वाले ब्रिटिश प्रजाओं पर अधिकारिता त्यक्त कर दी थी । सुप्रीम कोर्ट इस प्रश्न पर भी क्राउन के पक्ष में विनिश्चय करने को तैयार था, किंतु मुख्य प्रश्न पर व्यक्त की जा चुकी राय को देखते हुए इसका विनश्चय करना अनावश्यक है और उस पर कोई राय व्यक्त नहीं की जाती । उपर्युक्त कारणों से हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जाए ।

अपील खारिज की गई ।

कार्यालय आदेश तारीख 13 फरवरी, 2017 के अनुसार विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों पर छूट देने की सूची

क्रम सं.	पुस्तक का नाम, लेखक का नाम व प्रकाशन वर्ष (संस्करण)	पुस्तक की मुद्रित कीमत (रुपयों में)	7 वर्ष से पुराने संस्करण पर 35% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)	8 से 15 वर्ष पुराने संस्करण पर 50% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)	15 वर्ष से अधिक पुराने संस्करण पर 75% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)
1.	भारत का विधिक इतिहास - श्री सुरेन्द्र मधुकर - 1989	30	–	–	8
2.	माल विक्रय और परक्राम्य लिखत विधि - डा. एन. वी. परांजपे - 1990	40	–	–	10
3.	वाणिज्य विधि - डा. आर. एल. भट्ट - 1993	108	–	–	27
4.	अपकृत्य विधि के सिद्धांत - श्री शर्मन लाल अग्रवाल - 1993	40	–	–	10
5.	अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय - डा. एस. सी. खरे - 1996	115	–	–	29
6.	श्रम विधि - श्री गोपी कृष्ण अरोड़ा - 1996	452	–	–	113
7.	संविदा विधि - डा. रामगोपाल चतुर्वेदी - 1998	275	–	–	69
8.	चिकित्सा न्यायशास्त्र और विष विज्ञान - डा. सी. के. पारिख - 1999	293	–	–	74
9.	आधुनिक पारिवारिक विधि - श्री राम शरण माथुर - 2000	429	–	–	108
10.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय) - विधि साहित्य प्रकाशन - 2000	225	–	–	57
11.	हिन्दू विधि - डा. रवीन्द्र नाथ - 2001	425	–	–	106
12.	भारतीय भागीदारी अधिनियम - श्री माधव प्रसाद वशिष्ठ - 2001	165	–	–	41
13.	प्रशासनिक विधि - डा. कैलाश चन्द्र जोशी - 2001	200	–	–	50
14.	भारतीय दंड संहिता - डा. रवीन्द्र नाथ - 2002	741	–	–	185
15.	विधिक उपचार - डा. एस. के. कपूर - 2002	311	–	–	78
16.	विधि शास्त्र - डा. शिवदत्त शर्मा - 2005	580	–	290	–
17.	मानव अधिकार - डा. शिवदत्त शर्मा - 2006	120	–	60	–

विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

(cover-IV

भारत के समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्ट्रीकृत रजि. सं. 16288/68

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिकाओं में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के क्रमशः चयनित सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है । इन पत्रिकाओं को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमें जनवरी, 2010 के अंक से महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिनियमों का प्राधिकृत हिन्दी पाठ पाठकों की सुविधा के लिए शृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशित किया जा रहा है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका को उपादेय और ज्ञानवर्द्धक बनाने के लिए प्रिवी कौंसिल के निर्णयों को भी समाविष्ट किया जा रहा है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 195/- उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- है । तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें ।

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105